UNIVERSAL LIBRARY
OU_182655
UNIVERSAL LIBRARY

साहित्यकला-समीक्षा

लेखक

मन्मथनाथ गुप्त

भूमिका

रामधारीसिंह 'दिनकर'

प्रकाशक

साहनी प्रकाशन

५७, एस्प्लेनेड रोड, दिल्ली

प्रकाशक :
कृष्णगोपाल साहनी
५७, एस्प्लेनेड रोड, दिल्ली ।

मूल्य केवल
छः रुपये

मुद्रक :
क्रॉनिकल प्रेस
मोरीगेट, दिल्ली

दो शब्द

इस पुस्तक के लेखक श्री मन्मथनाथ गुप्त मेरे या किसी और लेखक के द्वारा हिन्दी पाठकों से परिचित कराये जायं, यह तनिक भी आवश्यक नहीं है। अनेक भाषाओं के ज्ञाता, कइयों के गम्भीर विद्वान्, उद्भट आलोचक और निबन्धकार तथा जीवन्त उपन्यासलेखक और कथाकार के रूप में वे समस्त हिन्दी-संसार में प्रख्यात हो चुके हैं एवं हम उनकी गणना हिन्दी की खास हस्तियों में करने लगे हैं। देखते-देखते, उन्होंने हिन्दी में लगभग एक शेल्फ किताबें लिख डालीं और नित्य नई रचनाएं करते ही जा रहे हैं। विद्वत्ता, अध्यवसाय और लिखने के शौक का ऐसा अद्भुत संयोग, हिन्दी ही क्या, किसी भी समृद्ध भाषा के लिए सौभाग्य और गौरव का चिह्न है।

मन्मथ बाबू की यह वर्तमान पुस्तक "साहित्यकला-समीक्षा" उनके यश के अनुरूप है। इस ग्रन्थ में संगृहीत लेखों को पाठकों ने जहां तहां पत्रों में पढ़ा होगा और इन निबन्धों में जो ताजगी और नयापन तथा पाठकों को प्रभावित करने की शक्ति है उससे वे प्रभावित भी हुए होंगे। उनके प्रगतिवाद विषयक लेख तो अभी हाल में ही, साहित्य केन्द्रों में चर्चा के मनोरंजक विषय हो उठे थे।

मन्मथ बाबू इतिहास के भी पण्डित और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के गहरे प्रेमी हैं और प्रगतिवाद के सम्बन्ध में उनका स्पष्ट रूप से वही मत है, जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवादियों का है। अतएव प्रगतिवाद के विरोधी को वे प्रश्रय देना नहीं चाहते। असल में प्रगतिवाद का विरोध उन्हें सत्य और विज्ञान का विरोध भासित होता है। यह बहुत दूर तक ठीक भी है। किन्तु उनकी सारी विवेचना के बाद भी इस शंका के लिए स्थान रह जाता है कि क्या प्रगतिवाद का एक ही मार्ग है, जिस पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी लोग चलते हैं ? अथवा वह मार्ग भी प्रगति का ही मार्ग है जिसमें विज्ञान मनुष्य का स्वामी नहीं, सेवक माना जाता है और जिस मार्ग पर चलनेवाले लोग इस भाव को ऊपर लाना नहीं चाहते हैं कि मनुष्य का सच्चा और टिकाऊ कल्याण उसे खूंटे से बाँधने में नहीं, बल्कि भीतर से जागृत करने में है ? अन्धविश्वास, रूढ़ि, शोषण, दलन और गतानुगतिकता का विरोध करने में इन दो प्रकार के प्रगतिवादियों में कोई मतभेद नहीं दीखता। मतभेद सिर्फ इस बिन्दु पर है कि आदमी खूंटे से बाँध कर शुद्ध किया जाय या भीतर से जागृत करके ? सारी पृथ्वी चमड़े से मढ़ दी जाय या हर आदमी

के पांवों में जूते पहना दिये जायं ? पृथ्वी चमड़े से मढ़ दी जाय तो कांटे रहेंगे ही नहीं, यह कल्पना बड़ी अच्छी लगती है। किन्तु निष्कण्टकता मनुष्य को ढीला भी बना सकती है। आदमी की खूबसूरती यह भी है कि वह नंगे पांव दौड़ता नहीं फिरता है। बल्कि जूते पहन कर चलते हुए भी फूंक-फूंक कदम उठाता है।

और आदमी को खूंटे से बाँधना भी कब तक ? क्या राज्यहीन समाज में भी आदमी लाठी से हाँक कर पहुँचाया जायगा ? तो फिर समाज राज्यहीन नहीं हुआ, क्योंकि हाँकने वाली लाठी ही तो राज्य है। जहाँ तक कल्पना जाती है, दिखलाई यही पड़ता है कि राज्यहीन समाज में प्रवेश करने के पूर्व आदमी को भली भाँति शुद्ध हो लेना पड़ेगा। तो फिर वही शुद्धि अभी से आरम्भ क्यों न की जाय कि हर कदम पर जनता की प्रगति और शासन की अधोगति होती चले ? काश, इस दृष्टि-कोण को लोग समझ लेते तो हिन्दी में प्रगतिवाद की भूमि फिर उतनी ही चौड़ी हो जाती जितनी कि वह सन् पेंतीस से लेकर लगभग सन पेंतालीस तक थी। यों, हूल बोलने वाले विद्वानों और कलाकारों को यह अधिकार तो है ही (जिसका उपयोग करने में उन्होंने तनिक भी कंजूसी नहीं की है) कि प्रगतिवाद को जुलूस से घेर कर वे अपने घर ले जायँ।

यहँ विचार की एक छोटी चिनगारी थी जो "साहित्यकला-समीक्षा" पर सोचते सोचते छिटक पड़ी। यह पुस्तक मुर्दा आलोचनाओं का संग्रह नहीं है, बल्कि इससे सोचने को प्रेरणा मिलती है और अक्सर विचारों की टकराहट से मन जाग कर बैठ जाता है।

मेरा ख्याल है, साहित्य-कला के प्रेमी और छात्र इस पुस्तक को पढ़ कर विचारोत्तेजना का भी रस ले सकेंगे। ज्ञान तो उन्हें मिलेगा ही।

नई दिल्ली
४ मार्च, १९५४

रामधारीसिंह 'दिनकर'

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
१. साहित्यिक अनुप्रेरणा और प्रगतिवाद	—	१
२. प्रेमचन्द का सूरा	—	१४
३. रवीन्द्रनाथ और लोक-साहित्य तथा लोक-कला	—	२०
४. प्रगतिवादविरोधी को उत्तर	—	२७
५. बंगला साहित्य का कल्लोलयुग	—	४२
६. ग्रीक संस्कृति की भूमिका	—	४८
७. क्रान्तिकारियों के द्वारा इतिहास लेखन	—	६६
८. १८५७ के करीब का एक प्रगतिवादी बंगला नाटक	—	७१
९. मेरे उपन्यास	—	७७
१०. छोटा नागपुर के लोकगीतों में जनजीवन का प्रतिफलन	—	९५
११. आधुनिक हिन्दी साहित्य में किसान	—	१०६
१२. अवनीन्द्र और कला की बंगला शैली	—	१२४
१३. भारतीय संस्कृति और आदिम जाति का भविष्य	—	१३३
१४. आधुनिक बंगला कविता	—	१३९
१५. भारतीय फिल्म और राष्ट्रनिर्माण	—	१६०
१६. महादेवी की दार्शनिक पृष्ठभूमि	—	१६६
१७. मजदूर वर्ग की उत्पत्ति	—	१७२
१८. समाचार-पत्र और लोकतन्त्र	—	१७८
१९. संस्कृति की धारा का भ्रष्टीकरण	—	१८३
२०. पुनरपि प्रगतिवाद	—	१८९

२१. चण्डीदास और विद्यापति — २१२
२२. विभिन्न भाषाओं के अध्ययन की सामग्री — २१८
२३. एक विचारणीय योजना — २२४
२४. प्रेमचन्द——एक और अविभाज्य — २२९
२५. साहित्य और कला पर जां पॉल सार्त्र — २३७
२६. प्रगति के कुछ ऐतिहासिक पुजारी — २५४
२७. साहित्य के विकास की योजना — २६६
२८. हिन्दी आलोचना में भ्रष्टाचार — २७२

साहित्यिक अनुप्रेरणा और प्रगतिवाद

प्रगतिवाद के विरुद्ध जितने मत-मतान्तर हैं, उनमें सबसे खतरनाक वह मतवाद है, जिसमें अनुप्रेरणा की स्वतःस्फूर्तता की आड़ लेकर यह कहा जाता है कि किसी प्रकार से अनुप्रेरणा में हस्तक्षेप करना उसे गंदला करना है, और उससे रचना की साहित्यिकता में फर्क आता है। कहना न होगा कि यह वक्तव्य आपातदृष्टि से सही ज्ञात होता है।

सच तो है, यदि अनुप्रेरणा नहीं है तो फिर साहित्य या कला का सृजन कैसा? किसी बात को बौद्धिक तरीके से कह देना प्रचार-कार्य या सफल निबन्ध-रचना हो सकती है, पर साहित्य या कला के सृजन की प्रक्रिया तो कुछ और ही है। साहित्य और कला के सृजन की प्रक्रिया की तुलना स्वप्न के सृजन से की गई है। डाक्टर आर० एफ० राट्रे ने इस प्रक्रिया का जो स्पष्टीकरण किया है, वह इस सम्बन्ध में बहुत उल्लेखनीय है। उनका कहना है—

"स्वप्नों के सृजन में मौलिकता चमत्कारिक है, और कला तो उसी वस्तु की बनी होती है, जिससे स्वप्न बने होते हैं। कला के सृजन में एक अवचेतनागत गठनात्मक प्रक्रिया (Subconscious integrating process) उसी प्रकार से कार्यशील रहती है जिस प्रकार से टाइप-राइटिंग के कार्य में हमारा अवचेतनात्मक मन टाइपराइटर की चाभियों की विशेष स्थितियों को याद रखता है, और जिन अक्षरों की जरूरत होती है, उंगलियां उन्हीं पर दौड़ जाती हैं।"

शायद कुछ लोगों को टाइप-राइटिंग कार्य के साथ कला-सृजन की प्रक्रिया की तुलना किया जाना अखरे, पर यदि टाइपराइटर के स्थान पर हम सितार शब्द रख दें तो कदाचित् यह उतनी अखरनेवाली बात नहीं रहेगी। अब इसी उपमा का कुछ और अनुसरण किया जाय। क्या सितार बजानेवाला या यों कहिये कि उसकी अनुप्रेरणा बिल्कुल स्वतंत्र है? उस पर कोई रोक-टोक नहीं है? क्या वह जिस प्रकार चाहे और जिस पर्दे को चाहे छू सकता है? संगीत के सम्बन्ध में कुछ भी जाननेवाला व्यक्ति फौरन कह

उठेगा कि नहीं, सितारवादक को निरंकुश स्वतंत्रता नहीं है। टाइपिस्ट के सामने एक मजमून होता है, जिसे वह टाइप करता है। उसकी उंगलियों को इस अर्थ में कोई भी स्वतंत्रता नहीं है। यहां तक कि जब उसके सामने कोई मजमून नहीं है, और वह अपने मन से किसी लेख, कविता आदि की रचना करता जा रहा है, उस हालत में भी उसकी उंगलियां स्वतंत्र नहीं हैं, बल्कि लेखक या कवि के मन में मौजूद लेख या कविता की अनुगामिनी हैं।

इसी प्रकार सितारवादक के मन में एक सुर है या उसका आलाप है, और उसकी उंगलियां उसी के अधीन हैं। सितारवादक ने वर्षों के प्रशिक्षण और अनुशासन से उस सुर का ज्ञान प्राप्त किया है। वह आलाप में उस सुर के अन्दर ही कुछ स्वतंत्रता ले सकता है, पर उसके बाहर नहीं जा सकता।

इस प्रकार से यह स्पष्ट हो गया कि सितारवादक की स्वतंत्रता एक प्रशिक्षण के अनुसार है और उसी के दायरे में उसे स्वतंत्रता प्राप्त है। किसी भी हालत में सितारवादक स्वतंत्रता के नाम पर उस सुर, ट्यून या सिम्फनी के बाहर नहीं जा सकता। कोई कलाकार यह नहीं कह सकता कि उसकी अनुप्रेरणा उसे बिल्कुल विभिन्न दिशा में ले जा रही है, इसलिए वह मनमाने ढंग के पर्दे पर हाथ फेरेगा, चाहे उसके कारण सुर कट जाय या ताल खंडित हो जाय।

यह कहा जा सकता है कि सितारवादक सितार के पर्दों के सम्बन्ध में जितनी स्वतंत्रता ले सकता है या नहीं ले सकता, उसके साथ साहित्यकार की अनुप्रेरणा की तुलना न करके उसकी कला के वाहन भाषा या छन्द के साथ की जा सकती है, क्योंकि सितारवादक के लिए सितार उसकी कला का वाहन है। बात ठीक है, पर इस क्षेत्र में भी एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि (अनुप्रेरणा की बात हम बाद को देखेंगे) कला के वाहन के साथ कलाकार मनमाने ढंग की स्वतंत्रता नहीं ले सकता। यदि वह भाषा, सरगम या तूलिका, रंग आदि की सहायता लेता है, तो उसे एक बड़ी हद तक उनका नियंत्रण मानना पड़ता है। यदि कलाकार क्रान्तिकारी है और नये प्रयोग करता है तो भी वह अपनी कला के वाहन के साथ बहुत स्वतंत्रता नहीं ले सकता। दूध का अर्थ दूध ही रहेगा, हां, वह उसे नई व्यंजना दे सकता है। इसी प्रकार संगीत में भी वह अपने माध्यम और परम्परा से बिल्कुल अलग नहीं हो सकता। मैं यहां किसी भी तरह रूढ़िवाद या परम्परावाद को बल नहीं पहुंचाना चाहता, मैं तो केवल कुछ सुपरिचित तथ्यों की ओर दृष्टि आकृष्ट कर रहा हूं। मैं यह जानता हूं कि परम्परा को तोड़ कर आगे सोचने वालों, आविष्कार करने वालों या बढ़नेवालों की ही बदौलत मनुष्य जाति की उत्तरोत्तर प्रगति संभव हुई है। पर यहां तो इस समय केवल वाहन की बात हो रही है।

यदि वाहन को छोड़ भी दिया जाय तो यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि क्या अनुप्रेरणा बिल्कुल अनियंत्रित रूप से आ सकती है? क्या अनुप्रेरणा कोई ऐसा रहस्यमय अस्तित्व है जो लेखक या कवि या कलाकार के जीवन या विचारधारा से सम्पूर्ण रूप से स्वतंत्र है? कोई यह अस्वीकार नहीं करता कि कला-सृजन की पृष्ठभूमि में अवचेतनागत गठनात्मक

प्रक्रिया कार्यशील रहती है, पर क्या मनोविज्ञान यह बताता है कि हमारा अन्तस्तल या मग्नचेतन हमारे विचार या कार्यकलाप या पारिपार्श्विक अवस्था से बिल्कुल स्वतंत्र है ? इसके विपरीत तो मनोविज्ञान यह कहता है कि हमारा मग्नचेतन या अन्तस्तल हमारे जीवन के उस हिस्से से सम्बद्ध है, जिसे हम सज्ञानरूप से लोगों के सामने रखते हैं। फिर अनुप्रेरणा के नाम पर निरंकुश स्वतंत्रता की बात कहां से आती है ? हमारी अवदमित इच्छाएँ, अतृप्त आकांक्षाएँ तथा कभी-कभी भय और शंका मग्नचेतन या अवचेतन में आश्रय ले लेती हैं, और उन्हीं से स्वप्न और कला उत्पन्न होती है। जिस प्रकार से यह कहना बिल्कुल अवैज्ञानिक होगा कि हमारे अवचेचन से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार यह कहना भी गलत होगा कि अनुप्रेरणा चूंकि एक अवचेतनागत गठनात्मक प्रक्रिया की उपज है, इसलिए हमारे सचेतन विचार-जगत से उसका कोई सम्बन्ध या सरोकार नहीं है, और वह उनसे किसी प्रकार परिचालित नहीं होती।

कई बार अनुप्रेरणा बहुत अजीब रूप धारण करती है। अंग्रेज साहित्यकार ब्लेक की धारणा थी कि वह जो कुछ भी लिखता था, वह उसके परलोकगत भाई के बोल कर लिखाने पर लिखता था। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर यह समझते थे कि वे जो कुछ लिख रहे हैं, वह उनमें स्वतःस्फूर्त होता है। रवीन्द्र-रचनावली चतुर्थ खंड में 'चित्रा' की 'सूचना' लिखते हुए उन्होंने लिखा था—'चित्रा काव्य में मैंने कहा था कि मेरे अन्तर्यामी मुझ से जो कुछ कहलाना चाहते हैं, मैं उसी को कहता हूं। पर असल में 'चित्रा' में मेरी जो उपलब्धि प्रकाश में आई थी, वह दूसरी श्रेणी की थी। मैंने यह अनुभव किया था कि युग्म नक्षत्रों की तरह मेरी एक युग्मसत्ता है, वह मेरे व्यक्तित्व के ही अन्तर्गत है और उसका आकर्षण प्रबल है। मेरे ज़रिये से उसी का संकल्प मेरे सुख-दुःख और मेरी भलाई-बुराई में पूर्ण हो रहा है।'

जर्मन दार्शनिक निट्शे और विद्वान् रिल्के का भी यह कहना था कि वे तो उच्च शक्तियों के मुखपात्र और माध्यम के रूप में हैं। महात्मा गांधी भी इसी प्रकार का दावा किया करते थे, और उन्हें समय-समय पर उच्चशक्ति से आदेश मिला करते थे। पर उच्च शक्ति का यह आदेश किसी नियम के अन्तर्गत नहीं था। कवि ए० ई० हाउसमैन का कहना था कि जिस समय वे टहलने के लिए जाते थे उस समय उन्हें कविताओं की अनुप्रेरणा मिलती थी, उनका कहना था कि ऐसे मौके पर, 'मेरे मन में बिल्कुल आकस्मिक तथा अप्रत्याशित भावुकता के साथ कविता की एक या दो पंक्ति, और कभी-कभी एक ही साथ एक स्टैंजा या कण्डिका आ जाती थी, और उसके साथ ही उस कविता के सम्बन्ध में एक अस्पष्ट धारणा आ जाती थी, जिसका वह अंश बनने वाली है। इसके बाद घंटे दो घंटे का अंझा पड़ जाता था, और फिर झरना बह निकलता था। जब मैं घर पहुंचता था तो मैं उन पंक्तियों को लिख लेता था, और बीच में खाली छोड़ देता था।

हाउसमैन ने जिस तरह से अपनी अनुप्रेरणा का ब्यौरा लिखा है वैसा किसी ने नहीं लिखा। एक विशेष कविता के बारे में लिखते हुए उन्होंने यह दिखलाया था कि

अनुप्रेरणा के बिना लिखना उनके लिए किस प्रकार विडम्बना थी। उन्होंने लिखा कि उस कविता के दो स्टैंजे उनके दिमाग में आये। 'थोड़े ऊहापोह के बाद तीसरा स्टैंजा आ गया। एक और स्टैंजे की जरूरत थी, इसलिए मैं बैठ गया, और उसकी रचना करने लगा। बड़ा परिश्रम लगा। मैंने इसे तेरह बार लिखा, और एक साल के पहले यह ठीक नहीं लिखा जा सका, और जब वह ठीक हुआ, तो भी वह ठीक नहीं हुआ।' यह थी कवि हाउसमैन की अभिज्ञता।

रवीन्द्रनाथ ने अपनी स्वतःस्फूर्त अनुप्रेरणा या एक उच्चतम शक्ति के माध्यम की ओर से लिखने को इंगित किया है। उन्होंने लिखा है कि लड़ाई की तरह उच्चतम शक्ति उनमें स्वयं गीत प्रस्फुटित करती है। वे कहते हैं —

श्रावणेर धारार मत पड़ुक झरे पड़ुक झरे।
तोमारई सुरटि आमार मुखेर परे बुकेर परे।

याने श्रावण की धारा की तरह तुम्हारा सुर मेरे मुख पर और मेरे हृदय पर झरता रहे। हम यहाँ पर उस कविता का उल्लेख नहीं कर रहे हैं, जिसमें वे एक ईश्वरवादी के ढंग पर कहते हैं कि तुम मुझे जैसा रखते हो वैसा रहता हूं इत्यादि। केवल रवीन्द्रनाथ की तरह कट्टर अध्यात्मवादी ही नहीं दूसरे लोग भी बराबर यह दावा करते हैं कि वे रचना करने में स्वतंत्र नही हैं। सब ऐसा तो नहीं कहते कि उच्चतर शक्ति कलम पकड़ कर उनसे लिखवाती रहती है, पर यह तो सभी कहते हैं कि उनकी स्वतंत्रता केवल दृश्यमान है, और वे यह नहीं जानते कि आगे वे क्या लिखनेवाले हैं, इत्यादि।

बर्नर्ड शा ने इस सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। वे लिखते हैं—"जिस समय मैं कोई नाटक लिखता हूं, तो मैं किसी भी पृष्ठ के सम्बन्ध में न तो कोई संकल्प कर पाता हूं, और न मैं उसे पहले से देख पाता हूं। नाटक स्वयं अपने आप लिख जाता है। हां, ऐसा तो होता है कि मैं प्रत्येक वाक्य पर तर्क करूँ, और वह अन्त तक वही करता है, जो मैं कहना चाहता हूं। पर वह मुझ तक क्यों और कैसे आता है, यह मैं नहीं जानता। हमेशा परिणाम से यह ज्ञात होता है कि पृष्ठभूमि में ऐसा कुछ रहा है, जिसके सम्बन्ध में मैं सचेत नहीं था, फिर भी ऐसा होता है कि सारी रचना का वास्तविक उद्देश्य प्रमाणित होता है। मैं यह नहीं समझता कि मेरी पुस्तकों के लिखने में मेरा हिस्सा एक मुंशी से किसी प्रकार ज्यादा है।"

कहना न होगा कि इस सम्बन्ध में बर्नर्ड शा का वक्तव्य रवीन्द्रनाथ से किसी प्रकार अलग नहीं है। हाँ, कुछ अर्थों में तो यह भी कहा जा सकता है कि रवीन्द्रनाथ का वक्तव्य स्पष्टतर है क्योंकि वे पृष्ठभूमि में रहनेवाले 'कुछ' का स्पष्टीकरण करके उसे ईश्वर रूप में बता देते हैं। अवश्य गहराई के साथ देखने पर यह ज्ञात होगा कि यह किसी प्रकार स्पष्टीकरण नहीं है बल्कि एक अस्पष्टता से बचने के लिए एक ऐसी सर्वमान्य अस्पष्टता की सहायता ली जाती है जिसके नाम लेते ही कोई प्रश्न पूछना नहीं रह जाता। बात यह है कि सभ्यता के आदिकाल से इस सम्बन्ध में इतने प्रश्न पूछे गये हैं और उनके उत्तर में

इतनी अस्पष्ट बातें कही गई हैं कि प्रश्नकर्त्ता भी शरमा गये हैं, और आगे पूछने का साहस नहीं करते।

यहां पर हम ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद के बीच में चलनेवाले वाद-विवाद पर कोई अन्तिम निर्णय देने नहीं जा रहे हैं। हमारे वर्तमान विषय के लिए इतना ही यथेष्ट है कि हम इस बात को मान लें कि कला की सृष्टि एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके प्रभाव में आकर कलाकार यह अनुभव करता है कि वह अपने आप में नहीं है। अनुप्रेरणा का यही रूप है। सच कहा जाय, तो सभी सृजनकार्य एक अप्रत्याशित ढंग से चलता है। वह प्रक्रिया बौद्धिक भी है और नहीं भी है याने उससे परे भी है।

स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि अनुप्रेरणा या अनुप्रेरित अवस्था क्या है। इतना तो निर्विवाद है कि इस अवस्था में पहुंचे बिना किसी कलात्मक कृति की सृष्टि नहीं हो सकती। यहां तक तो कोई आपत्ति नहीं है, पर जब इस अवस्था के नाम पर कवि या कलाकार यह दावा करता है कि अनुप्रेरित अवस्था में वह जिस कृति की रचना करता है, उस पर समाज तथा सदाचार के कोई नियम लागू न किये जायँ, और वह सब नियमों से ऊपर है, तभी झगड़ा उठ खड़ा होता है। इसीलिए हमें अनुप्रेरणा और अनुप्रेरित अवस्था का कुछ विश्लेषण करना पड़ेगा।

जो कुछ पहले आ चुका है, उससे यह तो स्पष्ट हो चुका है कि अनुप्रेरित अवस्था में कलाकार अपने वश में नहीं रहता। हम पहले भी इस सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कई उद्धरण दे चुके हैं, पर यहां पर एक और उद्धरण देंगे जिससे अनुप्रेरणा की प्रक्रिया पर भी प्रकाश पड़े। उनके 'चित्रा' नामक ग्रन्थ में 'अन्तर्यामी' और 'जीवन-देवता' नाम से दो कविताएं हैं, जिनमें से यह उद्धरण दिया जा रहा है—

ए की कौतुक नित्य नूतन,
ओगो कौतुकमयी,
आमि जाहा किछु चाहि बोलिबारे
बोलिते दितेछ कई ?
अन्तर माझे बोसि अहरह
मुख हते तुमि भाषा केड़े लह
मोर कथा लये तुमि कथा कह
मिशाये आपन सुरे।

"हे कौतुकमयी, तू मेरे साथ नित्य नया क्या कौतुक किया करती है ? मैं जो कुछ कहना चाहता हूं उसे तू कहने कहां देती है ? तू मेरे अन्तर में दिन-रात बैठ कर मुंह से भाषा छीन लेती है, मेरी बात लेकर तू अपने सुर में मिला कर अपनी बात कहती है। मैं क्या कहना चाहता हूं, सब भूल जाता हूं, तुम जो कुछ कहलाती हो, वही मैं कहता हूं, संगीत के स्रोत में किनारा नहीं मिलता, और मैं कहीं दूर बह जाता हूं।"

आखिर यह-कौतुकमयी कौन है ? इस पर कवीन्द्र स्वयं जो कुछ प्रकाश

डालते हैं, वह यों है —

"सुदीर्घकाल तक काव्य-रचना की अपनी परिपाटी की ओर जब मैं दृष्टि डालता हूं, तब मैं यह स्पष्ट देखता हूं कि यह एक ऐसा मामला है जिस पर मेरा कोई वश नहीं था। जब मैं लिखता था तब मैं यह समझता था कि मैं ही लिख रहा था, पर आज जानता हूं कि वह बात सत्य नहीं है, क्योंकि उन स्फुट कविताओं में मेरे समग्र काव्य-ग्रन्थों का तात्पर्य सम्पूर्ण नहीं हुआ था। वह तात्पर्य क्या है यह भी मैं पहले नहीं जानता था। इस प्रकार परिणाम न जानते हुए भी मैं एक के बाद एक दूसरी कविता जोड़ता रहा था। मैंने उनमें से एक-एक में जिस क्षुद्र अर्थ की कल्पना की थी, आज मैं समग्र की सहायता से निश्चय रूप से समझ चुका हूं कि उस अर्थ को पार करके एक अविच्छिन्न तात्पर्य उन सबके अन्दर से प्रवाहित होता आ रहा है। इसीलिए बहुत दिनों के बाद मैंने वह कविता लिखी थी— 'ए की कौतुक नित्य नूतन' इत्यादि। जब मैं कोई चीज लिखता था, तब मैं उसी को परिणाम समझता था, और मैं ही उसे लिख रहा हूं, इस सम्बन्ध में भी मुझे सन्देह नहीं हुआ, पर आज जानता हूं कि वह सारा लिखना उपलक्षमात्र था, और उनके रचयिताओं के बीच में एक ऐसे रचयिता मौजूद हैं, जिनके सामने वह भविष्य-तात्पर्य प्रत्यक्ष रूप से वर्तमान है।"

इसी ढंग पर लिखते हुए वे और भी लिखते हैं—**"क्या केवल कविता-रचना में ही ऐसा होता था कि लिखने के कोई मालिक आकर कवि पर आक्रमण करके उसकी लेखनी चलाते थे? ऐसा नहीं। इसके साथ ही मैंने यह भी देखा है कि जीवन जैसे गठित होता जा रहा है, उसका सारा दुःख-सुख तथा योग-वियोग तथा विच्छिन्नता को कोई एक अखंड तात्पर्य के सूत्र में गूंथते जा रहे हैं। यह जो कवि हैं, जो मेरी सारी भलाई-बुराई, सारा अनुकूल और प्रतिकूल लेकर मेरे जीवन की रचना कर रहे हैं, उन्हीं को मैंने अपने काव्य में जीवन-देवता नाम दिया है। मेरी अन्तर्निहित जो सृजनशक्ति मेरे जीवन के सारे सुख-दुःख को तथा उसकी सारी घटनाओं को ऐक्य के सूत्र में बांध रही है, उसे तात्पर्य दान कर रही है, मेरे रूप-रूपान्तर, जन्म-जन्मान्तर को ऐक्य सूत्र में बांध रही है, जिसके माध्यम से विश्व चराचर के साथ ऐक्य अनुभव कर रही है, उसी को मैंने जीवन देवता नाम देकर लिखा था।"**

ऊपर जो उद्धरण दिये गये, उनसे अनुप्रेरणा की प्रकृति पकड़ में नहीं आई। जो रहस्य था वह रहस्य ही रह गया। नीचे हम एक और उद्धरण दे रहे हैं, जिससे शायद कुछ अधिक प्रकाश पड़ेगा। वे लिखते हैं —

"मुझे अपने बचपन की बात याद पड़ती है, पर वह इतनी अपरिस्फुट है कि वह अच्छी तरह पकड़ में नहीं आती। अच्छी तरह याद है कि किसी-किसी दिन प्रातःकाल बिना किसी कारण के अकस्मात् मन के अन्दर जीवनानन्द जग उठता था। तब पृथ्वी की चारों दिशाओं में रहस्य ही रहस्य थे। अपने देहाती घर में चिरे हुए बंशखंड से मैं नित्य मिट्टी खोदा करता था, और सोचता था कि न मालूम क्या रहस्य आविष्कृत होगा।

पृथ्वी का सारा रूप, रस, गंध, सारा हिलना-डुलना, घर के आंगन के नारियल के पेड़, तालाब के किनारे का बट वृक्ष, पानी पर पड़ती हुई छाया और प्रकाश, रास्ते की आवाज, चील का बोलना, सबेरे के समय की फुलवारी की सुगन्ध—ये सब मिल कर एक बृहत् अर्द्ध-परिचित प्राणी विविध मूर्तियों में मुझे अपनी संगत देता था।"

इससे अधिक स्पष्टता के साथ उन्होंने अपनी अनुप्रेरणा के उत्स की न तो कहीं परिभाषा की है, और न इसकी आशा करनी चाहिये। फिर भी जो कुछ उन्होंने कहा है, उससे यह स्पष्ट है कि जिसे उन्होंने अन्तर्यामी या जीवन-देवता के नाम से अभिहित किया है, उसको वे कितना भी रहस्यमय बनाना चाहते हों, उसका प्रकाश, नारियल का पेड़, फुलवारी की सुगन्ध आदि अत्यन्त ऐहिक और पादार्थिक अस्तित्वों के ज़रिये से होता था। हां, इतना कहा जा सकता है कि कवीन्द्र उनसे परे किसी अस्तित्व को देखते थे।

हम पहले ही अन्य कलाकारों और कवियों की अनुप्रेरणा की प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ-कुछ बता चुके हैं। यहां कुछ और कवियों की अनुप्रेरणा का वर्णन किया जाता है। अंग्रेजी के कवि कीट्स अवचेतन की क्रियाशीलता के महत्व में विश्वास करते हैं, वे यह विश्वास करते थे कि शेक्सपियर की आत्मा उन्हें अनुप्रेरित करती है। कहते हैं कि वे पहले जिस बात को बिना समझे बूझे मनमाने ढंग से करते थे, बाद को उस किये हुए का अनेक प्रकार से समर्थन होता था।

उर्दू के महाकवि ग़ालिब का कहना था :—

आते हैं ग़ैब से ये मजामीं ख्याल में
ग़ालिब सरीरे ख़ामा नवाये सरोश है।

याने 'विचार में ये बातें नेपथ्य से (गैब से) आती हैं, कलम की आवाज में फरिश्ते की रागिनी है।' इसी को उन्होंने अपने एक फारसी शेर में यों अदा किया है—

मा न बुदेम ब-ईं मर्तबा राज़ी ग़ालिब,
शेर खुद ख़ाहिशे आँ कर्द कि गर्दद फने मा।

याने 'हे ग़ालिब, हम तो इस बात पर राजी नहीं थे कि यह मर्यादा हमें मिले, पर कविता ने स्वयं यह इच्छा की कि वह हमारी कला बन जाय।'

कवि इन्शा कहते हैं :—

बोले है यही ख़ामा कि किस-किस को मैं बाँधू,
बादल से चले आते हैं मजमूं मेरे आगे।

इसी प्रकार इक़बाल कहते हैं :—

जब मये दर्द से हो खिलकते शायर मदहोश
आँख जब ख़ून के अश्कों से बने लाला फ़रोश।
किश्वरे दिल में हो ख़ामोश ख्यालों के ख़रोश
अर्श से सूये ज़मीं शेर को लाता है सरोश।

याने 'जब व्यथा की मदिरा से कवि की सृष्टि बेसुध हो जाती है, और जब आंख

खून के आंसुओं से लाली फूल को मात देने वाली हो जाती है, हृदय के राज्य में विचारों के वज्रघोष शान्त हो जाते हैं, तभी फरिश्ता आकाश से काव्य को पृथ्वी की ओर लाता है।'

यहां पर यदि फरिश्ता वाली बात छोड़ दी जाय, तो यह कथन आधारभूत रूप से पन्त की इन पंक्तियों से मिलता जुलता दृष्टिगोचर होगा—

वियोगी होगा पहिला कवि
आह से उपजा होगा गान
निकल कर आहों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान

महादेवी की 'पीड़ा में तुझको ढूंढा, तुझ में ढूंढूंगी पीड़ा' भी इससे मिलती जुलती है। यह उस कथन से मिलता है। जिसमें कहा गया है। ——

Our sweetest songs are those
That tell of saddest thoughts

यहां इस तरफ ध्यान दिलाने की आवश्यकता है कि जहां तक दर्द, पीड़ा या आह से कविता या कला की उत्पत्तिवाली बात है, वहाँ तक वह बिल्कुल ही स्पष्ट है, और उसमें हाथ पकड़ कर किसी दूसरी शक्ति के द्वारा काव्य-रचना कराये जाने की बात से बिल्कुल भिन्न प्रकृति की बात है।

हम फिर इक़बाल में लौटते हैं। उनके जो शेर पहले दिये गये, उनमें साधारण कवियों की परिपाटी बताई गई है कि उनकी कविता आसमान से जमीन की ओर फरिश्तों के द्वारा याने एक रहस्यमय प्रक्रिया के द्वारा लाई जाती है, पर वे अपने सम्बन्ध में कहते हैं—

कैद दस्तूर से बाला है मगर दिल मेरा,
फ़र्श से शेर हुआ अर्श पै नाजिल मेरा।

याने 'दूसरों की परिपाटी से मेरा हृदय उच्चतर है, और मेरी कविता पृथ्वी से पैदा होकर स्वर्ग की ओर जाती है।' क्या इसका अर्थ यह लिया जाय कि वे कविता की कम से कम अपनी कविता की पार्थिव उत्पत्ति मानते थे।

इस सम्बन्ध में जोश मलीहाबादी का वक्तव्य भी विचारणीय है——

रात के तारीक लम्हे जब कि होते हैं ख़मोश
बाद ख्वाब आवर से जल उठती है याँ कन्दील होश
खोलती है अपने शह पर जब सहेली मौत की
दौड़ जाता है मेरी नब्ज़ों में ख़ूने ज़िन्दगी
कारवाने कशमकश होता है जब मसरूफे ख्वाब
हँस के मेरे दिल की बेदारी उलटती है नक़ाब
कोई पुर असरार कुव्वत कोई रूहे मुहतशम
शेर कहने को मेरे हाथों में देती है कलम।

हिन्दी कवि निराला की उक्ति रवीन्द्र के अनुरूप है —

तुम्हीं गाते हो अपना गान
व्यर्थ में पाता हूँ सम्मान

दिनकर उसी बात को अधिक कवित्व के साथ कहते हैं—

मैं रिक्त हृदय वंशी फूंके तो उठे हूक
दे अधर छुड़ा दे बता कहीं तो रहूँ मूक

मैथिलीशरण का वक्तव्य भी मिलता जुलता है—

इस शरीर की सकल शिरायें हों तेरे तन्त्री के तार
आघातों की क्या चिन्ता है उठने दे गहरी गुञ्जार

इन सब बातों से इस बात का समर्थन तो होता है कि अनुप्रेरणा कलाकारों की एक अपरिहार्य सहचरी थी। यह भी मालूम होता है कि सभी क्षेत्रों में अनुप्रेरणा इस ढंग से आती है कि यह मालूम होता है कि रचयिता के परे कोई रचयिता है। यदि ऐसी बात है तो सारा प्रगतिवाद ही झोल हो जाता है, क्योंकि अनुप्रेरणा में कवि या लेखक अपने वश में नहीं होता, और प्रगतिवाद का अर्थ ही यह है कि कवि या लेखक इरादा करके ऐसे साहित्य या कला की रचना करे जो प्रगति में हाथ बटावे, याने उद्देश्यमूलक सत्साहित्य की रचना करे।

पर साथ ही यह भी सत्य है कि सदुद्देश्यमूलक साहित्य की रचना हुई है। स्वयं कवीन्द्र रवीन्द्र अपने सारे साहित्य में एक उद्देश्य लेकर चले। कहीं पर वह उद्देश्य प्रगतिवाद के साथ सामंजस्य रखता है और कहीं नहीं रखता, पर उद्देश्य के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है। कई बार उन्होंने अपने आकाश-कुसुम वाले काव्य-जगत् के विरुद्ध विद्रोह किया है। 'कड़ी औ' कोमल' में मरीचिका नामक कविता में वे कहते हैं—**"सखि तुम कुसुम शैया को छोड़कर आओ और तुम्हारे पैरों के नीचे कठोर मिट्टी लगे। आकाशकुसुम के वन में अकेली बैठ कर स्वप्न कब तक चुनती रहोगी। देखो दूर से वह आंधी आ रही है, स्वप्न राज्य अश्रु की तेजधारा में बह जायगा।"** इत्यादि।

एक अन्य कविता में वे कहते हैं—**"भजन, पूजन, साधन, आराधना सब पड़े रह जायें। अरे तू देवालय के कोने में दर्वाजा बन्द करके क्यों पड़ा है? अन्धकार में छिप कर अपने मन में तू चुपचाप किस की पूजा करता है? तू आंख खोल कर देख तो सही कि देवता कमरे में नहीं हैं। वे वहां गये हैं, जहां किसान मिट्टी तोड़ कर खेती कर रहा है और मजदूर पत्थर तोड़ कर रास्ता निकाल रहा है। वे धूप और पानी में सबके साथ हैं, उनके दोनों हाथ धूल से सने हैं। अपने शुद्ध वस्त्र छोड़ कर तू उन्हीं की तरह धूल में उतर आ। मुक्ति, मुक्ति तुझे कहां मिलेगी, मुक्ति है कहां? स्वयं प्रभु सृष्टि के बन्धन को स्वीकार कर सबके साथ बंधे हुए हैं। ध्यान लगाना रहने दे और फूल की डलिया रहने दे, कपड़े फट जाने दे, धूल लगने दे, तू उनके साथ कर्मयोग में एक हो जा, और तेरा पसीना बह निकले।"**

इस प्रकार से यह ज्ञात होता है कि अनुप्रेरणा की प्रक्रिया को रहस्यवादी मानने

वाले कवीन्द्र रवीन्द्र भी अपनी कल्पना के स्वर्ग से वास्तविकता के मर्त्य में उतरने के लिए मजबूर होते हैं। उनके प्रति न्याय करने के लिए यह बताना जरूरी है कि अपने विराट साहित्य में वे बराबर उद्देश्यवादी ढंग से रचना करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। उन्हें जो कुछ कहना था, उसी को उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से व्यक्त किया है। उनकी जो दो कविताएँ अभी उद्धृत की गईं उनके विश्लेषण से ज्ञात होता है कि वे अपनी अनु-प्रेरणा में बहते नहीं थे बल्कि उसे नियंत्रित करते थे, उससे लड़ कर उसे दूसरी ओर बहाने की कोशिश करते थे। हमारे वर्तमान विषय के लिए यही यथेष्ट है।

यह निर्विवाद है कि अनुप्रेरणा के बिना किसी उच्च कला या साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती, पर इसके साथ ही जैसा कि प्रत्येक कलाकार की जीवनी और रचनाओं के विश्लेषण से ज्ञात हो सकता है, उसकी अनुप्रेरणा सम्पूर्णरूप से रचयिता की शिक्षा-दीक्षा, परिवार, परिपार्श्व, उस समय की सामाजिक और आर्थिक स्थिति, उस समय प्रचलित मतवाद इत्यादि अत्यन्त रूप से भौतिक परिस्थितियों पर निर्भर होती है। यदि हम इस बात की गहराई में जायँ कि क्या कारण है कि गोस्वामी तुलसीदास के क्षेत्र में अनुप्रेरणा ने उन्हें राम नाम की महिमा गवाई, और गोर्की के क्षेत्र में यही अनुप्रेरणा एक बिल्कुल ही दूसरे और अनेक अर्थों में उनके विरोधी दिशाओं में पुष्पित और पल्लवित हुई?

किसी भी कवि या कलाकार की रचनाओं को उधेड़ने पर हमें कथित स्वर्गीय या रहस्यवादी अनुप्रेरणा में बड़े-बड़े अजीब उपादान दृष्टिगोचर होंगे। शेक्सपियर, तुलसी-दास आदि कई महान् साहित्यकारों की रचनाओं को उधेड़ने पर यह ज्ञात हुआ है कि उनकी एक-एक पंक्ति की जन्मकथा बताई जा सकती है। उन्होंने कहीं से कुछ लिया तो कहीं से कुछ। यहां मैं मौलिकता पर विचार नहीं कर रहा हूँ। यहां पर इतना ही कह कर आगे बढ़ जा सकते हैं कि उल्लिखित रचयिताओं ने दूसरों से ग्रहण किया, फिर भी उन्होंने चोरी नहीं की। उनके अवचेतन में वे बातें मौजूद थीं, और बिल्कुल मौजूँ मौके पर एक नये उच्चतर रूप में उनके अनजान में उनकी कलम की नोक पर वे बातें आ गईं।

इस सम्बन्ध में अध्यापक लिविंग स्टोन लोवस ने एक बहुत दिलचस्प अध्ययन किया है। कवि कोलरिज ने अपनी पढ़ी हुई सारी पुस्तकों की सूची प्रकाशित की थी। उक्त अध्यापक ने भी इन पुस्तकों को उसी क्रम से पढ़ा, और अन्त में उन्होंने एक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने यह उधेड़ कर दिखला दिया कि कोलरिज लिखित 'जण्डाऊ' तथा 'पुराना मल्लाह' में एक भी शब्द या औपादानिक विचार ऐसा नहीं है, जिसका पता उनकी पढ़ी हुई पुस्तकों में नहीं लगाया जा सकता है। अध्यापक लिविंग स्टोन ने यह निष्कर्ष निकाला कि काव्य-रचना के समय कवि के मन में अपनी पढ़ी हुई बातों में से वे बातें आ जाती थीं, जो उस मौके पर ठीक बैठती थीं। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ है कि कवि या कलाकार की स्मृति इस प्रकार से संगठित होती है कि उसकी स्वानुभूति (चाहे वह पढ़ कर प्राप्त की गई हो या निरीक्षण से) मौके पर कलम या तूलिका में उतर आती है।

अब इसी प्रक्रिया को रहस्यवादी रूप देना सम्भव है, पर इसमें कोई रहस्य नहीं

है। एक कलाकार ने कुछ चीजें पढ़ीं, देखीं, सुनीं और अपने जीवन में अनुभव कीं। अनुप्रेरणा के ज़रिये से वही बातें अद्भुत रूप से परिवर्तित रूप से आईं। प्रक्रिया सज्ञानमूलक नहीं है, पर जो बातें आईं वे आसमान से नहीं आईं, बल्कि वे ही बातें आईं जो रचयिता की अनुभूति में आ चुकी थीं। यदि कलम पकड़ कर कोई लिखवाता तो क्या बात है कि गोर्की को अनुप्रेरणा रूसी भाषा में ही आई, और कवीन्द्र रवीन्द्र को बंगला में? क्या बात है कि बिटोफेन को जब संगीत की अनुप्रेरणा आई तो वह उस समय के यूरोपीय संगीत के ढांचे के अन्दर ही आई, और तानसेन की तरह भारतीय संगीत के ढांचे में नहीं आई? इसलिए कवीन्द्र ने जिस भी शक्ति को कौतुकमयी करके सम्बोधित किया है, वह असल में कौतुकमयी नहीं है, याने उसके कौतुक में भी एक पद्धति है, और वह पद्धति सम्पूर्ण रूप से कार्य-कारण-सम्बन्ध से परिचालित है। रहा यह कि इसे ठीक ढंग से या वैज्ञानिक मात्रा में अभी विश्लेषित नहीं किया गया है, यह दूसरी बात है। लोगों ने अब तक अनुप्रेरणा को एक रहस्यमयी दैवी शक्ति करके टाल दिया है और उसकी गहराई में जाने की आवश्यकता नहीं समझी, पर हमने जो विश्लेषण किया उससे यह स्पष्ट है कि यदि अनुप्रेरणा की पृष्ठभूमि का सम्यक् विश्लेषण किया जाय तो हमें किन वस्तुओं के दर्शन होंगे। इस सम्बन्ध में वह भी बात स्मरणीय है कि प्रतिभा के वर पुत्र एक फी सदी इनस्पिरेशन यानी अनुप्रेरणा और ९९ फी सदी परस्पिरेशन याने पसीने के बने होते हैं। दूसरे शब्दों में प्रत्येक प्रतिभा के पीछे बड़ी दीर्घ साधना होती है, और वह साधना अक्सर नीरव होती है।

बायरन ने एक दिन सबेरे उठ कर देखा कि वह प्रसिद्ध है, पर उसके पीछे जो साधना थी वह एक रात की नहीं थी। प्रत्येक प्रतिभा को जरा अच्छी तरह सूंघने पर उसमें मध्य रात्रि के तेल की गन्ध आयेगी। हमारे सामने तो बना बनाया तैयार माल आता है, पर उसके पीछे खरादने, रन्दा करने की जो अनन्त प्रक्रियाएँ हैं, वे नहीं आतीं। इसलिए हम ऐसी बातें कह कर सन्तोष कर लेते हैं कि अमुक व्यक्ति जन्म से प्रतिभावान् है, कवि पैदा होते हैं न कि बनाये जाते हैं,इत्यादि। तो क्या मैं यह कह रहा हूं कि प्रत्येक व्यक्ति कवीन्द्र रवीन्द्र या बर्नर्ड शा हो सकता है, यदि वह परिश्रम करे? इसके उत्तर में मेरा निवेदन यह है कि भले ही प्रत्येक व्यक्ति रवीन्द्रनाथ न हो सके (ऐसा इसलिए नहीं हो सकता कि सबकी परिस्थितियां सोलहों आने उस प्रकार नहीं हो सकतीं, जैसी उनकी थीं, और न सब उनकी तरह साधना ही कर सकते हैं, यहां तक कि उनके सगे भाई भी वैसा नहीं कर सके) फिर भी 'करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।' यह आश्चर्य की बात है कि अध्यात्मवादी यह मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति उसी ईश्वर का अंश है और अन्त में उसी में लीन होगा, फिर भी वे साधना की महत्ता को स्वीकार नहीं कर सकते।

हमने अपनी 'प्रगतिवाद की रूपरेखा' नामक बृहत् पुस्तक में प्रगतिवाद क्या है, तथा उसका क्या वक्तव्य है, इसका विशद रूप से स्पष्टीकरण किया है। इस लेख के लिए इतना ही कहना यथेष्ट है कि प्रगतिवाद अनप्रेरणा की रहस्यमयता को अस्वीकार

करते हुए भी और उसकी पृष्ठभूमि का भौतिक विश्लेषण करते हुए भी अनुप्रेरणा की प्रक्रिया को अस्वीकार नहीं करता । अवश्य कोई व्यक्ति अनुप्रेरणा की प्रक्रिया और पृष्ठ-भूमि को समझ ले, इससे वह साहित्यिक अनुप्रेरणा का अधिकारी नहीं हो जाता । जैसे कोई भी व्यक्ति प्रजनन की सारी प्रक्रिया को समझ सकता है, पर इससे नपुंसक व्यक्ति पुंस्त्व प्राप्त नहीं करेगा । हमारे ज्ञान की जो सीमा है, उसमें प्रतिभा और अनुप्रेरणा की भौतिक-कार्य-कारण-परम्परा पूर्णतः स्पष्ट नहीं हुई । पर इसका अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि हम ज्ञान के नाम पर अज्ञान को अपनावें, तथा अनुप्रेरणा की विशुद्धता स्थिर रखने के बहाने प्रतिक्रियावादी, पलायनवादी और घनवादी कला को अपनावें ।

सच्चा कलाकार वही है, जो अपनी अनुप्रेरणा को रुख और दिशा देता है । जैसा कि हम दिखा चुके अध्यात्मवादी, रहस्यवादी रवीन्द्रनाथ भी अपनी कला को रुख देने की चेष्टा करते थे । ऐसा सभी बड़े कलाकार करते हैं । हम जो विश्लेषण कर चुके हैं, उससे अनुप्रेरणा की पृष्ठभूमि रहस्यमय नहीं रह जाती । प्रत्येक व्यक्ति की अनुप्रेरणा उसकी अपनी बनाई हुई चीज है । ऐसा हम नहीं कहते कि इस सारे को उसने सज्ञान रूप से बनाया है, फिर भी वह उससे अविच्छेद्य और उसकी इच्छाकृत तथा अनिच्छाकृत परिस्थितियों से उत्पन्न है ।

आदिकाल से पेड़ से फल गिरते आये हैं, पर इस कार्य को देख-देख कर न्यूटन के मन में माध्याकर्षण की धारणा आई, क्या इसके लिए उनकी ईश्वरदत्त प्रतिभा को दाद दी जाय या उनके मन के विशेष प्रशिक्षण को श्रेय दिया जाय जिसमें एक मामूली घटना ने इतनी बड़ी प्रतिक्रिया उत्पन्न की । पोप की तरह रहस्यवादी ढंग से यह कहने में क्या तुक है?

Each atom by some other struck
All turns and motions tries
Till in a lump together struck
Behold a poem arise

यह कविता की उत्पत्ति का कवितामय सिद्धान्त है । हम यह देख चुके कि कोलरिज द्वारा पढ़ी हुई पुस्तकों को पढ़ कर लिविंग स्टोन ने क्या आविष्कार किया । इसी कारण बर्नर्ड शा ने कहा है—

The great man leads his inspiration, makes its course for it, removes obstacles, holds it from gadding erratically after this or that passing fancy, thinks for it and finally produces with it an admirable whole.

'जो बड़ा आदमी होता है, वह अपनी अनुप्रेरणा का पथ-प्रदर्शन करता है, उसके लिए मार्ग निर्धारण करता है, उसके रास्ते से रोड़े हटाता है, इस या उस अस्थायी खामख्याली के मार्ग में उसे बहकने से रोकता है, उसके लिए चिन्तन करता है, और अन्त में उसके साथ मिल कर एक प्रशंसनीय सम्पूर्णता की सृष्टि करता है ।'

इक़बाल ने मानो इसी के समर्थन में कहा है—

बाचुनि ज़ोरेजुनूं पासे गरीबाँ दाश्तम
दर जुनूं अज़ खुद न रफ्तन कारे हर दीवाना नेस्त

याने 'इस कद्र पागलपन के जोर के बावजूद मैंने हर वक्त अपने गरेबान का ख्याल रखा, पागलपन में आपे से बाहर न होना हर दीवाने का काम नहीं है।'

इस प्रकार साहित्यिक जुनून की बात अस्वीकार न करते हुए भी जुनून पर नियंत्रण रखने की बात इक़बाल ने कही है, और यह साफ कर दिया है कि वही जुनूनवाला सबसे ऊंचा है जो अपने ऊपर नियंत्रण रखता है।

इस प्रकार से यह प्रमाणित है कि अनुप्रेरणा की दुहाई देकर समाज-विरोधी, प्रगति-विरोधी साहित्य को प्रोत्साहन नहीं दिया जा सकता।

प्रेमचन्द का सूरा

प्रेमचन्द के उपन्यासों को विचारधारा की जागरूकता की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, एक तो प्राक्-गोदान उपन्यास और दूसरा गोदान। एक में गोदान के अतिरिक्त सारे उपन्यास आ जाते हैं, और दूसरे में केवल गोदान आता है। अवश्य इस गिनती में मैं मंगलसूत्र को नहीं ले रहा हूँ, क्योंकि एकाएक इस महान् कलाकार का जीवनसूत्र टूट जाने के कारण इस उपन्यास का सूत्र भी टूट गया।

प्राक्-गोदान युग के उपन्यासों में तथा गोदान में कोई विचारधारागत मौलिक प्रभेद नहीं है। दोनों अवस्थाओं में वे जनवादी हैं, पर गोदान में जाकर ही उनकी यह जनवादिता निखरी हुई तथा जागरूक हो पाई है। प्रेमचन्द ने उस समय की बहती विचारधारा के साथ आँखें लड़ाई, पर वे हर हालत में अपने वस्तुवादी लंगोट के सच्चे रहे, इसका नतीजा यह हुआ कि प्राक्-गोदान युग के उपन्यासों में भी वे सर्वोपरि जनवादी हैं। वे इन उपन्यासों में दृष्टिगत रूप से भले ही कुछ और नज़र आ रहे हों, पर उनके इस युग के उपन्यासों के उपसंहार चिल्ला-चिल्ला कर कह रहे हैं कि वे क्या हैं। मैं इस सम्बन्ध में बहुत विस्तृत रूप से लिख चुका हूँ, इसलिए ब्यौरे में नहीं जाऊँगा।

अब मैं सीधे रंगभूमि पर आता हूँ। प्राक्-गोदान युग का यह सब से अच्छा उपन्यास है। रंगभूमि के सम्बन्ध में सबसे बड़ी बात यह है कि शुरू से आखिर तक अत्यन्त रोचक है। यह नवयुवकों और नवयुवतियों की प्रिय पुस्तक है। इसी का सब से महत्वपूर्ण चरित्र सूरदास या सूरा है। सूरदास बनारस के पांडेपुर का रहने वाला एक अन्धा है। वह सड़क पर भीख माँगता है, पर जैसी कि इन भिखमंगों की आदत होती है वह भीख के लोभ में धनियों की गाड़ियों के पीछे दौड़ता है। भिखमंगा होते हुए भी वह एक जमीन के टुकड़े का मालिक है।

इसी जमीन को लेकर उपन्यास का ताना-बाना बुना गया है। जान सेवक एक पूंजीपति है, जो इस जमीन को खरीद कर उस पर अपना सिगरेट का कारखाना खोलना चाहता है। पर जान सेवक को यह नहीं मालूम कि सूरा इस जमीन का मालिक है, इस कारण वह जब सूरे से अचानक मिल जाता है, तो वह उससे एक भिखमंगे की तरह बर्ताव करता है। मिसेज सेवक तो सूरदास से बहुत बुरी तरह पेश आती हैं।

बाद को जब जान सेवक को मालूम हुआ कि सूरा ही जमीन का मालिक है, तो उसका रुख बदल गया। उसने सूरदास से जमीन बेचने के लिये कहा, पर वह राजी नहीं हुआ। इस जमीन से सूरदास को व्यक्तिगत रूप से कुछ फायदा नहीं था, पर इसमें गांव भर के ढोर चरते थे। यदि सूरदास इसे बेच देता तो गांव भर के ये ढोर कहाँ जाते, इस मारे उसने उस जमीन को बेचने से इनकार कर दिया। फिर भीख से धीरे-धीरे उसके पास ५०० के करीब रुपये इकट्ठे हो चुके थे। वह आशा करता था कि इन रुपयों से धर्मशाला तथा कुँआ बनवा सकेगा। वह भीख मांगता था, पर उसकी उच्चाकांक्षा यही थी कि वह गांववालों का कुछ भला कर जाय।

सूरदास का अपना कोई नहीं था, पर उसने मिट्ठू नामक अपने अनाथ भतीजे को गोद-सा ले रखा था। उसके मां-बाप दोनों प्लेग से मर चुके थे। इस छोटे लड़के में सूरे का सारा स्नेह केन्द्रित हो गया था। सूरा भीख मांग कर लाता, फिर अपने हाथ से रोटी बनाकर उसे खिलाता। खुद तो रूखा-सूखा खा लेता, पर मिट्ठू के लिये गुड़ आदि जरूर खरीद लाता। सूरे के घर का जीवन उसके बाहर के जीवन अथवा बृहत्तर जीवन का प्रतीक था। उसके जीवन का मूल मन्त्र था त्याग और आत्मबलिदान।

ऐसा निरीह व्यक्ति भी, जिसने अपने पड़ोसियों के लिये सर्वस्व अर्पण कर रखा था, शान्तिपूर्वक जी नहीं पाया; क्योंकि निरीह होने पर भी वह अन्याय के विरुद्ध लड़ने में पश्चात्पद नहीं था। यों भी गाँववाले उसके साथ कोई रियायत नहीं करते थे। लड़के सूरदास का डंडा छीनकर भाग जाते थे। इस पर कभी ऐसा भी हो जाता कि किसी लड़के को चोट आ जाती तो उस पर लड़के के माँ-बाप उसे भला-बुरा कहते थे। इस प्रकार वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों क्षेत्रों में सूरे का जीवन संघर्षपूर्ण था।

सूरदास के संघर्ष केवल एक व्यक्ति के नहीं हैं, एक ऐसा व्यक्ति जो किसी भी हालत में अपने कर्तव्य से नहीं चूकता, जो प्रत्येक अवस्था में दूसरे को नुकसान नहीं पहुँचाना चाहता चाहे इस कारण उसे कितना भी दुःख पहुँचे। उसके संघर्ष अन्ततोगत्वा जान सेवक की पूंजीवादी पद्धति के विरुद्ध संघर्ष भी हैं, पर ये संघर्ष गांधीवादी ढंग के हैं। सूरदास को जब सुझाया जाता है कि उसकी जमीन पर कारखाना बनने से वहां की रौनक बढ़ेगी तो वह कहता है—"सरकार बहुत ठीक

कहते हैं, मुहल्ले की रौनक बढ़ेगी। वहाँ ताड़ी-शराब का भी तो परचार बढ़ जायगा, कसबियाँ भी तो आकर बस जायगी। परदेशी आदमी हमारी बहू-बेटियों को घूरेंगे। कितना अधर्म होगा। देहात के किसान अपना काम छोड़ कर मजूरी के लालच से दौड़ेंगे, यहां बुरी-बुरी बातें सीखेंगे, और अपने बुरे आचरण गांवों में फैलायेंगे। देहातों की लड़कियाँ, बहुएँ मजूरी करने जायँगी, और यहाँ पैसे के लाभ से अपना धरम बिगाड़ेंगी। यही रौनक शहरों में है। भगवान् न करे यहाँ वह रौनक हो। सरकार, मुझे इस कुकरम से बचायें। यह सारा पाप मेरे सिर पर पड़ेगा।"

सूरदास के ये सारे विचार व्यक्तिगत दायरे से निकाल कर उसे सामाजिक संघर्ष के दायरे में ले जाकर खड़ा कर देते हैं। इसी कारण वह एक पिलपिले परोपकारी जीव से एक सामाजिक योद्धा के रूप में हो जाता है। इसी उपादान के कारण "रंगभूमि" उपन्यास एक मामूली रोमांस न रह कर ऊँची सतह का साहित्य हो जाता है।

सूरदास का एक पड़ोसी था भैरों। वह अपनी स्त्री सुभागी पर जब तब मार पीट करता था। वह मार के मारे गांव वालों के पास आश्रय के लिये जाती थी, पर कोई उसे आश्रय नहीं देता था। सूरा जब तब उसे आश्रय देता था, इस पर उसके चरित्र के सम्बन्ध में भी बदनामी हुई। इसी के कारण भैरों उससे दुश्मनी मानने लगा, और एक दिन उसने उसके घर में आग लगा दी। उसने सूरे के सारे जीवन की कमाई की थैली भी मार दी। सुभागी को इस थैली का पता मिला तो उसने वह थैली उड़ा दी और सूरे को पहुँचा दी। पर सूरा खुद इस थैली को भैरों के घर पहुँचा देता है। वह सुभागी को समझाता है 'यह मेरी चीज नहीं है, भैरों की चीज है। इसी के लिये भैरों ने अपनी आत्मा बेची है। महंगा सौदा लिया है। मैं इसे कैसे ले लूं।'

पर सूरा की इस उदारता के कारण भैरों को सुभागी के सम्बन्ध में पता चल गया कि उसी ने घर से लेकर सूरे को थैली वापस दी थी। इस पर सूरे की तरफ से उसका हृदय परिवर्तित होने के बजाय वह और क्रोधावेश में आता है। उसने सुभागी को घर से निकाल दिया और जब सूरे ने सुभागी को आश्रय दिया तो सारे गांववालों ने उसे बदनाम किया। वे ही गांववाले जिनकी भलाई के लिये वह जमीन नहीं बेच रहा था। केवल इतना ही नहीं उस घर पर मुकद्दमा चला, और उसे सजा हो गई। हां, शहर के कुछ परोपकारी लोगों ने उसका जुर्माना अदा कर दिया और वह जेल से छूट गया।

सूरे के स्वागत के लिये भी आयोजन था और इसके लिये तीन सौ रुपये एकत्र हुए थे। किसी कारण से स्वागत न हो सका, तो ये रुपये सूरे के हवाले कर दिये गये। इधर जब सूरा जेल में था तो किसी ने भैरों के घर में आग लगा दी थी। जब सूरे ने

छूटकर यह सुना और उसके हाथ ये तीन सौ रुपये लगे तो उसने यह सारी रकम भैरों के हवाले कर दी। जब सूरा ने यहां तक किया तो उसकी तरफ से भैरों का हृदय परिवर्तित हो गया। भैरों ने सूरे से माफी मांगी और उसने सुभागी को फिर से घर में ले लिया।

इस प्रकार सूरे की अथक चेष्टाओं से एक व्यक्ति का हृदय परिवर्तित हो जाता है, पर जैसा कि मैंने प्रेमचन्द पर अपने विराट ग्रन्थ **कथाकार प्रेमचन्द** में लिखा है, यह विजय कहाँ तक नैतिक तथा कहाँ तक आकस्मिक है, इसम सन्देह है। यदि मान लीजिये सूरे को वे तीन सौ रुपये न मिलते तो सब बातें वैसी रहते हुए भी सूरा कैसे भैरों के निकट अपनी ईमानदारी प्रमाणित कर सकता? एक अत्यन्त मनोवैज्ञानिक मुहूर्त में तीन सौ रुपयों के इस दान ने ही भैरों को बदला। सूरा की तरफ से ईमानदारी तो पहले से थी। भैरों कुछ रोब में भी आ गया, क्योंकि बड़े आदमियों ने उसका जुर्माना अदा किया था।

सूरदास के जीवन की टैकनीक भले ही भैरों के क्षेत्र में सफल मानी जाय, पर सामाजिक क्षेत्र में वह कतई सफल नहीं रही। सूरदास के नेतृत्व में गाँववालों के सत्याग्रह करने पर भी जमीन सूरे के हाथ से निकल गई। पुलिस वाले पाँडेपुर गांव को खाली कराने आये और उसमें झगड़ा हो गया। सूरदास घायल हो गया और कई दिनों तक अस्पताल में रहने के बाद मर गया।

संग्राम के बाद पाँडेपुर गाँव की जो हालत हो गई उसका वर्णन प्रेमचन्द ने यों किया है—"**पांडेपुर में गोरखे अभी तक पड़ाव डाले हुए थे। उनके उपलों के जलने से चारों तरफ धुँआ छाया हुआ था। उस श्यामावरण में बस्ती के खंडहर भयानक मालूम होते थे।......लोग यहां आकर घंटों खड़े रहते और सैनिकों को क्रोध तथा घृणा की दृष्टि से देखते थे। इन पिशाचों ने हमारा मानमर्दन किया और अभी तक डटे हुए हैं। अब न जाने क्या करना चाहते हैं। बजरंगी, ठाकुरदीन, नायकराम, जगधर आदि-आदि अब भी अपना अधिकांश समय यहीं विचरने में व्यतीत करते थे। घर की याद भूलते ही भूलती है। कोई अपनी भूली-भटकी चीजें खोजने आता।...... बच्चों को तो अपने घरों के चिन्ह देखने में ही मजा आता। एक पूछता, अच्छा बताओ हमारा घर कहां था? दूसरा कहता, वह जहां कुत्ता लेटा हुआ है। तीसरा कहता, वहां तो बेचू का घर था, देखते नहीं, यह अमरूद का पेड़ उसी के आंगन में था। दुकानदार आदि भी शाम सवेरे यहां आते और घंटों सिर झुकाये बैठे रहते, जैसे घरवाले मृतदेह के चारों ओर जमा हो जाते हैं। यह मेरा आंगन था, यह मेरा दालान था। यहीं बैठ कर तो मैं बही करता था।**" इत्यादि।

कहना न होगा कि यह कोई विजय का चित्र नहीं है। जो कुछ भी हो सैकड़ों घात-प्रतिघातों के अन्दर से सूरे का जो चित्र निखर कर हमारे सामने आता है, वह हिन्दी-साहित्य में ही नहीं, विश्व-साहित्य में अनोखा है। सूरदास अहिंसा, सत्य, अस्तेय

आदि का एक मूर्त रूप है। वह अपनी जान में किसी को नुकसान नहीं पहुँचाता, किसी से झूठ नहीं बोलता, किसी को परेशान देख कर खुद परेशान होता है। होना तो यह चाहिये था कि ऐसा व्यक्ति निरीहता से जीवन बिता पाता, पर होता है इसके बिल्कुल विपरीत। अपने सिद्धान्तों तथा प्रणों के कारण ही उस पर एक के बाद एक विपत्ति पड़ती है, और अन्त में वह शहीद हो जाता है। पर क्या उसकी शहादत सार्थक है ? क्या सूरदास सफल है ?

उसकी सफलता का भ्रम अवश्य उत्पन्न होता है। यह भ्रम सभी समालोचकों के मन में उत्पन्न हुआ है। इसका क्या कारण है—यह हम बाद को बतायेंगे, पर फिर भी एक बात बता दें कि इस प्रकार की समालोचना से प्रेमचन्द की कला का सही रूप से मर्मोद्घाटन नहीं हो सका। इस प्रकार की आलोचना की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि इसमें आत्मबल को एक विशेष तरह के लोगों की बपौती मानकर चला जाता है जो बिल्कुल ही निकम्मी और बेहूदी धारणा है। क्या आत्मबल सूरदास ऐसे लोगों में ही है जो दबाव-मूलक राजनीति में विश्वास करते हैं, क्या क्रान्तिकारियों में आत्मबल नहीं होता ? सबसे उत्कृष्ट नमूनों को लिया जाय तो क्या आत्मबल केवल गांधी में ही है, लेनिन आदि में नहीं ? कहीं विषय से बाहर न चले जायँ इस कारण इंगित से इतना ही कह कर हम आगे बढ़ जाते हैं। हम तो केवल इतना ही दिखलाना चाहते हैं कि सूरदास ने न तो स्वराज्य की कुंजी ही दी है और न उसे आत्मबल का ठेका ही प्राप्त है। समालोचना का उद्देश्य जबर्दस्ती अपने विचारों की जयदुन्दुभि बजाना नहीं, बल्कि सामाजिक पृष्ठ-भूमि में रचना की कला का मर्मोद्-घाटन करना है। मुझे दुःख है उक्त प्रकार के समालोचकगण प्रेमचन्द की कला को समझने में असमर्थ रहे। वे जब खुद ही उसे नहीं समझे तो दूसरों को क्या समझाते। मुझे तो ऐसा मालूम देता है कि इन महाशयों ने पुस्तक को अच्छी तरह पढ़ने का कष्ट नहीं किया।

अब हम इस विषय पर आते हैं कि कथानक के द्वारा सूरे की कुंजी की व्यर्थता सिद्ध होने पर भी क्या कारण है कि सब के सब पाठक तथा समालोचक भ्रम में पड़ गये। इसका कारण प्रेमचन्द की अर्थात् रंगभूमि के प्रेमचन्द्र की कला में ही अन्तर्निहित है।

पहले ही मैं बता चुका हूं कि रंगभूमिकार (गोदानकार नहीं) द्रष्टृगत रूप से गांधीवादी थे, पर उनकी कला दृश्यगत रूप से वस्तुवादी थी। यदि कोई प्रेमचन्द के कथित गांधीवाद युग के प्रभाव में लिखे हुए उपन्यासों अर्थात् प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, कायाकल्प तथा रंगभूमि को समझना चाहे तो उसे उन दिनों के प्रेमचन्द की—उन दिनों के प्रेमचन्द इसलिए कह रहा हूँ कि गोदान के युग में वे ऐसे नहीं रह गये थे—कला ही इस (Zwiespalt) या द्विविधता को स्मरण रखना पड़ेगा। गांधीवाद के प्रभाव में लेखनी धारण करने के कारण प्रेमचन्द से सूरदास ऐसे पात्रों के चरित्र पर

जितना भी रंग भरते बना भर दिया। हरिभाऊ जी के शब्दों में अधिक से अधिक धीरोदात्त बनाया, अपनी जान में उन्होंने इसमें कोई कोर कसर नहीं रक्खी पर वस्तुवाद का हाथ न छोड़ा । इसी दुधारा का नतीजा रंगभूमि आदि पुस्तकें हैं। उन उपन्यासों का ऊपरी रंग बिल्कुल गांधीवादी है, पर जरा गहरे पानी में पैठ कर उनके उपसंहारों को पढ़िये, तो गांधीवाद की पराजय ही दृष्टिगोचर होगी। इस प्रकार यह एक अजीब दुनिया हो गई।

हम नहीं कहते कि लेखक ने सज्ञान रूप से रंगभूमि में पाण्डेपुरवालों को बिखरते तथा पाण्डेपुर को उजड़ा हुआ दिखलाया है। नहीं ऐसा नहीं। पर हुआ यह कि अपने गांधीवादी आदर्श के बावजूद उन्होंने अपने पैरों को वस्तुवादी जमीन पर कसकर जमा रहने दिया, पैरों को वहां से नहीं हटाया। इसी वस्तुवादी जमीन पर पैर जमाकर ही वे गांधीवादी पंखों के सहारे उड़े। जो नतीजा है सो सामने है।

प्रेमचन्द ने न रंगभूमि में, न प्रेमाश्रम में, न तो अन्य किसी इस प्रकार के उपन्यास में गाँधीवादी टैकनीक की जीत दिखाई है। सूरदास के चरित्र में हम एक प्रेमचन्द-कल्पित एक गाँधीवादी चरित्र की उत्तुंग ऊँचाई, साथ ही सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में उसकी व्यर्थता और असमर्थता देख सकते हैं। इन दोनों बातों को एक ही चरित्र में मूर्त करके दिखाना यह प्रेमचन्द की कला का ही चमत्कार है, और उसका हम विश्लेषण कर चुके कि क्यों वह ऐसी हो सकी।

रवीन्द्रनाथ और लोक-साहित्य तथा लोक-कला

बंगला-साहित्य के बाहर कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के साहित्य का सौरभ बहुत कुछ उसकी अन्तर्गत वस्तु या भाव के ऐश्वर्य के कारण फैला। स्वाभाविक रूप से रवीन्द्र-नाथ की शैली और भाषा की पृष्ठभूमि में कौन से तत्त्व क्रियाशील रहे, इनकी तरफ अनुवाद के ज़रिये से रवीन्द्र-साहित्य का आस्वादन करनेवाले लोगों का ध्यान नहीं जाता।

कोई कहता है रवीन्द्रनाथ ने उपनिषदों तथा हमारे प्राचीन साहित्य से लिया, कोई इसी प्रकार उन्हें पाश्चात्य साहित्य का ऋणी बतलाता है, तो कोई और कुछ बतलाता है, पर जिस उत्स से उन्होंने सबसे अधिक लिया और जिसके वे सबसे अधिक ऋणी हैं, उसके स्रोतमुख की तरफ बहुत कम लोगों का ध्यान जाता है। कम से कम जो लोग केवल अनुवाद के ज़रिये से उनके साहित्य को पढ़ते हैं वे उसके सम्बन्ध में बिल्कुल अज्ञ रह जाते हैं।

रवीन्द्रनाथ के ग्रहणशील मन ने हजारों क्षेत्रों से लिया। उन्होंने प्राच्य से लिया पाश्चात्य से लिया, प्राचीन से लिया आधुनिक से लिया, यह ठीक है, पर उन्होंने इन उत्सों के अतिरिक्त बंगाल के लोक-साहित्य, लोक-कला और लोक-संगीत से लिया। यद्यपि रवीन्द्रनाथ, आधुनिक से आधुनिक थे, यहां तक कि जब तक वे जीते रहे तब तक रबड़-छन्द लिखकर भी वे आधुनिकों के पुरोभाग में रहने की आप्राण चेष्टा करते रहे, फिर भी उन्होंने लोक-साहित्य और लोक-संगीत की दुग्धधारा को आकंठ पान किया था।

यहां यह बता दिया जाय कि लोक-साहित्य और लोक-संगीत से उनका परिचय पुस्तकों के ज़रिये से नहीं था, बल्कि यह परिचय सीधा और प्रत्यक्ष था। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो उन्होंने लोक-साहित्य और लोक-संगीत से उसी प्रकार से घनिष्ठता प्राप्त की थी जिस प्रकार से बछड़ा अपनी मां के दूध से परिचय प्राप्त करता है। इस

परिचय के लिए बछड़े को जैसे किसी प्रकार के मिल्क पाऊडर की सहायता नहीं पड़ती, उसी प्रकार से रवीन्द्रनाथ ने बंगाल के लोक-साहित्य और लोक-संगीत से परिचय प्राप्त किया था।

यद्यपि उनके परिवार में पाश्चात्य प्रभाव का सबसे अधिक प्रवेश हुआ था, फिर भी वे कभी ग्रामविमुख नहीं रहे। सुदीर्घ समय के लिए वे गांवों में जाकर रहते और वहां उन्हें साधारण बाउल, भटियाल आदि से गांवों के गाने सुनने का मौका मिलता। इसमें वे बहुत रस लेते थे। यहां मैं रवीन्द्र-संगीत पर ब्यौरे में कुछ न कहूँगा, केवल इतना ही बताना यथेष्ट है कि रवीन्द्र-संगीत बंगाल के लोक-संगीत को लेकर ही अपना ताना-बाना बुनता है। रवीन्द्रनाथ की भाषा पर भी बंगाल के लोक-संगीत का अमिट प्रभाव है।

रवीन्द्रनाथ ने इस ऋण को कभी अस्वीकार नहीं किया। वे इस बात को समझते थे कि लोक-साहित्य, लोक-कला और लोक-संगीत में ऐसा अमूल्य रत्नभंडार भरा पड़ा है, जिसे किसी भी हालत में छोड़ा नहीं जा सकता। योग्य सन्तान पैतृक सम्पत्ति को छोड़ती नहीं है, पर उसी तक अपने को सीमित न कर वह उसे और बढ़ाती है। यही रवीन्द्रनाथ ने किया। उन्होंने अपने संगीत की मिट्टी तो लोक-संगीत के क्षेत्र से ली, पर उसे उसी रूप में न छोड़ कर रवीन्द्र-संगीत के सौध का निर्माण किया।

रवीन्द्रनाथ की साधना का ही फल है कि बंगाल में हिन्दुस्तानी संगीत और प्राचीन लोक-संगीत के अतिरिक्त एक नए संगीत की सृष्टि हुई, जो रवीन्द्र-संगीत के नाम से अब सारे भारत में कुछ या अधिक परिचित है। केवल यही नहीं, बँगला में फिल्म-संगीत के अतिरिक्त एक आधुनिक संगीत बना है, जो लोक-संगीत से अपनी अनुप्रेरणा लेता है। रवीन्द्रनाथ ने भी लोक-संगीत से अनुप्रेरणा ली, पर उन्होंने अपने संगीत को एक दृढ और सुसंगठित, स्वाभाविक रूप से सीमित रूप दिया। बंगाल के आधुनिक संगीत में भी उसी साधारण उत्स से अनुप्रेरणा आती है, पर यह अनु-प्रेरणा दूसरे दरवाजे से और रूप में आती है। यद्यपि रवीन्द्रनाथ ने बहुत गाने लिखे, पर उन्होंने लोक-संगीत के सारे उत्स को खर्च तो नहीं कर लिया था, इस कारण आधुनिक संगीत की उसी धारा मे उत्पन्न होने तथा बराबर पनपते जाने की गुंजाइश बनी रही और शायद हमेशा बनी रहे क्योंकि लोक-संगीत कोई आबद्ध जलाशय नहीं है, वह भी तो बराबर बढ़ता और कुछ न कुछ बदलता जा रहा है।

रवीन्द्रनाथ ने न केवल लोक-साहित्य और लोक-संगीत से अनुप्रेरणा ली, बल्कि उन्होंने लोक-साहित्य के सम्बन्ध में कुछ खोजें भी कीं, और लोक-साहित्य का कुछ संग्रह भी किया। उन्होंने लोक-साहित्य के एक अंश पर ही याने लोरियों पर ही विशेष रूप से खोज की, आज मैं इस लेख में उसी का कुछ परिचय दूंगा। उसी से यह ज्ञात हो जायगा कि लोक-साहित्य के सम्बन्ध में उनके मन में किस प्रकार की

भावनाएँ थीं और वे उसे कितने आदर की दृष्टि से देखते थे।

यद्यपि रवीन्द्रनाथ मुख्यतः उच्च वर्ग के ही लेखक और कवि रहे हैं, यद्यपि उनके साहित्य में नरम ढंग के लोकतन्त्र के अतिरिक्त किसी बात की आवाज नहीं उठती, फिर भी उनके साहित्य का आवेदन इससे कहीं अधिक है, इसका कारण यह है कि जिस शैली, भाषा और संगीत को उन्होंने अपनाया, बल्कि जिससे उन्होंने अनु-प्रेरणा ली, वह जनता की अपनी चीज थी, और उससे जनता परिचित थी, उसकी अन्तर्गत वस्तु कुछ भी हो, (यह तो बाद की बात है) जनता उसे प्रथम दृष्टि में ही अपनी चीज करके अभिनन्दित करने के लिये तैयार थी।

रवीन्द्रनाथ ने लोरियों का किस मनोवृत्ति से संग्रह किया, यह उन्हीं के मुंह से सुना जाय। वे लिखते हैं:—

"बंगला भाषा में बच्चों को बहलाने के लिए स्त्रियों की जो कविताएँ प्रचलित हैं, कुछ दिनों से मैं उनके संग्रह में लगा हुआ था। हमारी भाषा और समाज के इतिहास-निर्णय की दृष्टि में इन कविताओं का विशेष मूल्य होगा, पर उनमें जो सहज और स्वाभाविक काव्यरस है, वही मेरे निकट अधिकतर आदरणीय है।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि लोक-साहित्य के प्रति उनका आकर्षण एक कवि तथा काव्यमर्मज्ञ के नाते था। वे उसमें निहित इतिहास या अन्य विषयों में उतनी दिलचस्पी नहीं रखते थे। उन्होंने इस प्रसंग में केवल लोरियों पर ही लिखा है, पर लोक-साहित्य, लोक-संगीत तथा लोक-संस्कृति के सारे रूपों को वे इसी दृष्टि से देखते थे।

उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि बचपन से इन गानों आदि के साथ सम्पर्क रहने के कारण वे यह बताने में असमर्थ हैं कि उन्हें वे जितने मधुर लगते हैं, उतने मधुर वे वाकई हैं या वह माधुर्य बचपन की स्मृतियों के कारण है। वे लिखते हैं—**'लोरियों में मुझे जो रस आता है, उसे बचपन की स्मृति से अलग करके देखना मेरे लिये असम्भव है। उन कविताओं की कितनी मधुरता अपने बचपन की स्मृति के कारण है, और कितनी साहित्य के चिरस्थायी आदर्शों के कारण है, इस बात को निर्णय करने की उपयुक्त विश्लेषण शक्ति मुझ में नहीं है। प्रारम्भ में ही इस बात को स्वीकार कर लेना अच्छा है। 'वृष्टि पड़े टापुर टुपुर नदी एलोबान' याने 'पानी बरसा टापुर टुपुर, नदी में आई बाढ़' यह कविता बचपन में मेरे निकट मोहमन्त्र की तरह थी, और अभी तक मैं उस मोह से मुक्त नहीं हो पाया। उस मुग्ध अवस्था को स्मरण करके तभी हम इस बात को कूत सकते हैं कि कविता की असली मधुरता तथा उपयोगिता क्या है। समझ में नहीं आता कि क्यों इतने महाकाव्य और खंडकाव्य, तत्व, विद्या और नीति जिन्हें मनुष्य प्रतिदिन पसीना से तरबतर होकर सीखता है, वे व्यर्थ और विस्मृत हो जाते हैं, पर यह सब असंगत, अर्थहीन, मनमाने**

श्लोक लोकस्मृति में बराबर प्रवाहित होते रहते हैं।'

वे और भी आगे लोक-साहित्य पर लिखते हैं—'उन सब कविताओं में एक चिरत्व है। न मालूम कब किस काल में कौन सी कविता लिखी गई, किसने इन्हें लिखा—ये प्रश्न किसी के मन में उठते ही नहीं। इसी स्वाभाविक गुण के कारण ये आज रचित होने पर भी प्राचीन हैं, और एक हजार साल पहले लिखी जाने पर भी नवीन हैं।'

इस प्रकार से रवीन्द्रनाथ ने यह स्पष्ट कर दिया कि किस दृष्टिकोण से वे लोक-साहित्य को देखते थे, और उनके मतानुसार अनुप्रेरणा किस प्रकार ली जा सकती है। जो उद्धरण दिये गये उनसे यह स्पष्ट हो गया कि किसी जाति के लोक-साहित्य से उस जाति के लोगों का बड़ा घनिष्ठ सम्पर्क होता है, जिसे नाड़ी का सम्पर्क कहा जा सकता है। स्वाभाविक रूप से किसी भी रचयिता के लिए लोक-साहित्य का कथित चिरत्वगुण बहुत ही लोभनीय है। कौन लेखक, कवि, कलाकार यह नहीं चाहेगा कि उसकी रचना में चिरत्व का गुण आवे?

रवीन्द्रनाथ ने इसी को स्पष्ट करते हुए कहा कि बचपन की स्मृति को अलग करके लोरियों को समझना उनके लिए सम्भव नहीं है। यह बात व्यक्ति के लिए जैसे सही है, वैसे जाति के लिए भी सही है। लोक-साहित्य, लोक-संगीत और लोक-कला को लोग मां के दूध के साथ पीते है, उनके सम्बन्ध में एक मधुर भावना अनायास ही उत्पन्न हो जाती है। लोक-साहित्य में व्यवहृत शब्दावली, लोक-संगीत की धुनें, लोक-कला की रेखाएँ और रंग सहज ही में मन को छू लेते है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि रवीन्दनाथ के ऐसे परम विद्वान् के लिए भी यह असम्भव था कि लोक-साहित्य, लोक-संगीत और लोक-कला के वास्तविक मूल्य को कूत सकें, एक साधारण व्यक्ति की तो बात ही क्या है, इसलिए यह समझ में आता है कि रवीन्द्रनाथ ने अपनी कविता, संगीत, चित्र और सर्वविध शैली को इन पर क्यों ढाला।

जहाँ तक संगीत का सम्बन्ध है, रवीन्द्रनाथ ने यह देखा कि शास्त्रीय संगीत में आकर्षण है, पर लोक-संगीत का आकर्षण उससे किसी प्रकार कम नहीं है, बल्कि बंगाल की जनता की आत्मा में उसका प्रवेश सीधा और तुरन्त होता है। इसी कारण उन्होंने उसे अपनाया, उसकी वाक्य-विन्यास-पद्धति को अपनाया, फिर भी कुछ नया भी किया। हम यहां पर रवीन्द्र-संगीत या रवीन्द्र-काव्य का विस्तृत परीक्षण नहीं करने जा रहे हैं, पर लोक-संगीत और लोक-साहित्य के प्रति उनका ऋण सर्वविदित है। जो कुछ लिखा जा चुका है, उससे यह स्पष्ट है कि विश्व का सारा साहित्य भंडार उनके सामने उन्मुक्त होने पर भी कवीन्द्र ने लोक-संस्कृति से चीजों को क्यों इतने परिमाण में ग्रहण किया।

लोक-साहित्य के सम्बन्ध में लिखते हुए रवीन्द्रनाथ ने यह भी कहा है कि उसका जन्म मनुष्य के मन में आप से आप हुआ है। इसी का तात्पर्य समझाते हुए

उन्होंने लिखा—

"अपने आप उत्पन्न इस बात को कहने का एक विशेष अर्थ है। हमारे मन में विश्व जगत् का प्रतिबिम्ब और प्रतिध्वनि छिन्नविच्छिन्न होकर घूमती रहती है। वह विचित्र रूप धर लेती है, और अकस्मात् एक प्रसंग से दूसरे प्रसंग पर कूद जाती है। जैसे हवा में रास्ते की धूल, पुष्प का रेणु, सैंकड़ों गंध, तरह-तरह के शब्द, टूटे पत्ते, पानी की फुहार, पृथ्वी की भाप ये सब चीजें बिना कारण निरर्थक रूप से घूमती रहती हैं, उसी प्रकार हमारे मन की भी हालत है। वहां भी हमारी नित्य प्रवाहित चेतना के बीच में कितने ही वर्ण, गंध, शब्द कितनी ही कल्पनाओं के बाष्प, कितनी ही चिन्ताओं के आभास, कितनी ही भाषाओं के छिन्न खंड, हमारे व्यवहार-जगत् के कितने ही परित्यक्त विस्मृत विच्युत पदार्थ अनजान में अनावश्यक रूप से तैरते फिरते हैं।

"जब हम सचेत होकर किसी एक विशेष दिशा में चिन्ता करते हैं, तब ये छायामयी मरीचिकाएँ एक ही क्षण में हट जाती है, हमारी कल्पना और हमारी बुद्धि एक विशेष ऐक्य ग्रहण करके एकाग्र होकर प्रवाहित होती है। हमारा मन नामक पदार्थ इतना प्रभुत्वशाली है, कि वह जब सजग होकर बाहर आता है तो उसके प्रभाव के कारण हमारा अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् अधिकांश रूप में दब जाता है। वह जब देखने लग जाता है तो अच्छी तरह सुनता नहीं है, और जब चिन्ता करता है तो न तो अच्छी तरह देखता है न अच्छी तरह सुनता है। इसी सामर्थ्य के कारण वह इस जगत् की असीम विचित्रता के बीच में ही अपनी प्रधानता को कायम रखकर चलता रहता है। पुराणों में यह पढ़ने में आता है कि कुछ महात्मा ऐसे हो गये हैं जिन्हें इच्छा-मृत्यु का वर मिला हुआ। हमारे मन को उसी प्रकार इच्छान्धता और इच्छावधिरता की शक्ति प्राप्त है, और इस शक्ति को वह काम में लाता है, इसी कारण जन्म से मृत्यु तक उसके सामने प्रत्यक्ष रूप से होनेवाली घटनाएं उसकी चेतना के बाहर से ही निकल जाती हैं। पर लोरियों में हमारी परिवर्तनशील दुनिया की छाया मिलती है। तरल स्वच्छ सरोवर पर मेघक्रीड़ित नभोमंडल की जिस प्रकार छाया पड़ती रहती है, उसी प्रकार इन लोरियों में हमें देखने को मिलता है। इसीलिए मैंने कहा कि यह अपने आप उत्पन्न होती है।"

एक दूसरे स्थान पर रवीन्द्रनाथ अपने वक्तव्य को यों पेश करते हैं—

"हमारे अलंकार शास्त्रों में नौ रसों का उल्लेख है, पर लोरियों में जो रस प्राप्त होता है, वह शास्त्रोक्त रसों के अन्तर्गत नहीं है। अभी-अभी जोती हुई जमीन से जो गंध निकलती है, या शिशु के नवनीत कोमल देह से जो स्नेह को उबाल देने वाली गंध है उसे फूल, चन्दन, गुलाबजल, इत्र या धूप की सुगन्ध के साथ एक श्रेणी में रखा नहीं जा सकता। सभी सुगन्धों के मुकाबले में उसमें एक अपूर्व आदिमता है, उसी प्रकार लोरियों में एक आदिम सुकुमारता है, जिसकी मधुरता को

बाल्य रस नाम दिया जा सकता है। वह तीव्र नहीं है, गाढ़ नहीं है, वह बहुत ही स्निग्ध, सरस और युक्ति तथा संगीत से हीन है। इसी रस के द्वारा आकृष्ट होकर मैं बंगाल के लोक-साहित्य को संग्रह करने में लगा था। रुचिभेद के कारण सम्भव है कि यह सब को न भाये, पर इनको स्थायी रूप से संग्रह करके रखना चाहिए, इस सम्बन्ध में शायद दो राय नहीं हो सकतीं। यह हमारी राष्ट्रीय सम्पत्ति है।"

इस प्रकार से लोक-साहित्य के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ की कितनी उच्च धारणा थी, साथ ही वे उसम कितने मंजे हुए थे, वह उनके द्वारा किए हुये संग्रहकार्य से ज्ञात होता है। जब हम इस बात को सोचते हैं कि कवीन्द्र का परिवार किस प्रकार पाश्चात्य वातावरण में पल रहा था, तब हमें आश्चर्य होता है कि रवीन्द्रनाथ में लोक-साहित्य के प्रति यह आकर्षण और प्रीति कहाँ से आई। पर यदि हम जरा भी गहराई के साथ सोचें तो ज्ञात होगा कि उन्होंने कभी आकस्मिक रूप से कोई लोक-गीति सुन ली होगी, और फिर वे उसके सौन्दर्य से मुग्ध हो गये होंगे।

रवीन्द्रनाथ ने अपनी जीवन-स्मृति में यह लिखा है कि वे बार-बार महीनों तक गाँव में जाकर रहे, वहाँ वे कभी नाव खेते थे तो कभी यों ही गाँववालों में उठा बैठा करते थे। उन्हीं मौकों पर उन्हें लोक-साहित्य से सजीव परिचय स्थापित करने का मौका मिला, और वे यह समझ गये कि लोक-साहित्य में कितनी अपार शक्ति पुंजीभूत है। इसीसे उन्होंने अपनी कविता, संगीत, चित्रकला यहाँ तक कि गद्यशैली को ऐश्वर्यशाली बनाया।

वे लोक-साहित्य की ओर उसके कलागत आकर्षण के कारण गये, और उससे अनुप्रेरणा लेकर आगे बढ़े। उन्होंने उसका जो विश्लेषण किया, वह भी एक कवि की दृष्टि से ही किया। पर हम आज यह जानते हैं कि लोक-साहित्य और लोक-कला की शक्ति किस कारण है। वह शक्ति इस कारण है कि सैंकड़ों वर्षों से उसके सान्निध्य के कारण वह जाति के अस्तित्व का अंग हो चुका है। कहना चाहिये कि जाति उसमें पली है, इसी कारण उसके शब्दों तथा सुरों में मन सहज ही में रम जाता है। इसी कारण आज सारे प्रगतिशील हल्कों से लोक-साहित्य, लोक-संगीत और लोक-कला से अनुप्रेरणा लेने की बात कही जा रही है। पर रवीन्द्रनाथ ने इस अनुप्रेरणा की महत्ता को समझ लिया था। यह उन्होंने किसी पुस्तकी ज्ञान से नहीं समझा था, बल्कि स्वाभाविक कविहृदय से समझा था।

इस सम्बन्ध में ग्रीक पुराणों के उस दैत्य का स्मरण हो आता है, जो इस कारण अजेय हो रहा था कि वह अपने प्रतिद्वन्द्वी से लड़ते समय धरती माता को छूकर शक्ति ग्रहण कर लेता था। जब तक वह ऐसा कर सका तब तक उस पर कोई काबू न पा सका। एक प्रतिद्वन्द्वी ने उसकी शक्ति के इस रहस्य को जान लिया और उसने उसे लड़ाई के पहले और या लड़ाई के बीच में हाथ से धरती छूने नहीं दिया। नतीजा यह हुआ कि वह दैत्य मारा गया। साहित्यकार तथा कलाकार के लिए

अब यह माना जा रहा है कि लोक-साहित्य, लोक-संगीत और लोक-कला ही वह धरती है जिसे छूकर वह अजेय रह सकता है। रवीन्द्रनाथ का सारा साहित्य, संगीत और कला इस धरती को छू-छूकर रचित हुई है, इस कारण सज्ञान रूप से प्रगतिशील न होते हुए भी या केवल आंशिक रूप से प्रगतिशील होते हुए भी कम से कम बंगाल में कोई प्रगतिवादी ऐसा नहीं है जिसे रवीन्द्रनाथ से सीखना न पड़े। जिन्होंने उनके विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा किया, उन्हें भी उनसे भाषा, शैली आदि सीखना पड़ा और शायद हमेशा सीखना पड़े।

प्रगतिवादविरोधी को उत्तर

"कल्पना" के फरवरी, १९५३ के अंक में प्रख्यात विद्वान् डा० श्री आर्येन्द्र शर्मा ने प्रगतिवाद सम्बन्धी मेरे एक लेख का दीर्घ उत्तर दिया है। उन्होंने जिन प्रश्नों को उठाया है, वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, और मुझे बहुत खुशी होती, यदि मैं उन सारी बातों का ब्यौरेवार उत्तर दे पाता। सच तो यह है कि "प्रगतिवाद की रूपरेखा" नामक मेरी पुस्तक में इन प्रश्नों में से अधिकांश का उत्तर आ चुका है। फिर भी मैं कुछ संक्षेप में कहूँगा। मासिक पत्र के पृष्ठों में अधिक दीर्घ उत्तर की गुंजाइश ही कहां है।

डा० शर्मा मेरी इस बात पर सबसे अधिक आपत्ति करते हैं कि मेरे मतानुसार हिन्दी में अब प्रगतिवाद की तूती बोल रही है। वे इसके उत्तर में यह कहते हैं कि "हिन्दी के अनेक मूर्धन्य साहित्यिक प्रगतिवाद के रेजिमेंटेशन से ऊब कर फिर स्वतन्त्र पद्धति पर साहित्य निर्माण करने लगे हैं, और सच तो यह है कि हिन्दी के पाठक भी संघर्ष रोटी, कपड़ा और शोषक शोषितों की बात सुनते-सुनते ऊब उठे हैं।"

इसमें सन्देह नहीं कि पन्त जी तथा नवीन जी ऐसे महान् साहित्यकारों के प्रगतिवाद के शिविर से अलग हो जाने से डा० शर्मा ने जो कुछ कहा है, वह आपातदृष्टि से सत्य प्रमाणित होता है, पर क्या इसके साथ ही यह भी सत्य नहीं है कि इन महारथियों ने जब से प्रगतिवाद के शिविर का त्याग किया, तब से उनकी रचनाओं में पहले के मुकाबले में बहुत निकृष्टता आ गई है। मैं यह हर्गिज नहीं कहता कि ऐसा होना जरूरी था, क्योंकि मैं यह मानता हूँ कि प्रगतिवाद से हटकर भी साहित्यिक चमत्कार कायम रह सकता है, और प्रगतिवादी होते हुए भी किसी लेखक के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह जो कुछ लिखे वह साहित्य ही हो। मैंने उल्लिखित पुस्तक में एक स्थान पर यह लिखा है:—

"कोई भी रचना केवल इस कारण प्रगतिशील साहित्य में शुमार नहीं की जा सकती कि उसमें जैसे तैसे क्रान्ति की विजय कराई गई है। जो भी रचना किसी बल का साहित्य है

वह खुद-बखुद प्रगतिशील हो गया, ऐसा नहीं कहा जा सकता। एक तो यह आवश्यक है कि दल प्रगतिशील हो, पर यदि दल प्रगतिशील हो तो भी इतने से ही उसका सारा प्रकाशन साहित्य नहीं हो जाता। दल का प्रचार साहित्य तो बहुत हो सकता है, पर सही माने में वह प्रगतिशील साहित्य ही होगा, ऐसी कोई बात नहीं है, क्योंकि शायद वह साहित्य ही न हो। साहित्य उसी प्रकार से एक अलग विषय है, जैसे संगीत। कोई यदि क्रान्ति के जोश में आकर कनस्तर पीट दे, और साथ-साथ जोर से इन्कलाब ज़िन्दाबाद चिल्लाये, तो उसके चिल्लाने को महज़ इसलिए कि वह क्रान्तिकारी जोश से उद्भूत हुआ, संगीत नहीं कहा जा सकता।"

अप्रगतिशील साहित्य भी साहित्य हो सकता है, इस बात से मैंने कभी इन्कार नहीं किया। मैंने तो "प्रगतिवाद की रूपरेखा के" प्रथम लेख में ही इस बात को स्पष्ट कर दिया कि, **"प्रगतिशील साहित्य की यह व्याख्या है कि जो साहित्य प्रगतिशील नहीं है, वह साहित्य ही नहीं हो सकता, यह उस प्रकार का कथन है जैसे कोई कहे कि जो सज्जन नहीं वह आदमी ही नहीं है। जैसे सज्जन के अलावा भी लोग हो सकते हैं, उसी प्रकार प्रगतिशील साहित्य के अलावा प्रतिक्रियावादी साहित्य, पलायनवादी साहित्य आदि कई तरह के साहित्य हो सकते है।"**

प्रगतिवादी साहित्य या आलोचना-पद्धति में यह हर्गिज़ अन्तर्निहित नहीं है कि पुरातन का इसलिए तिरस्कार किया जाय कि वह प्राचीन है, और नूतन का महज नूतनत्व के नाते या उसमें चौंका देने वाला उपादान है, इस नाते उसका आदर किया जाय। रूस में इस प्रकार के विचार रखने वाले कुछ लोग हुए थे, और उन्होंने जो कुछ भी पुरातन है, उसे हेय और वर्जनीय प्रमाणित करने की चेष्टा की थी, इसके उत्तर में लेनिन ने इनको इन शब्दों में फटकारा था—**"सुन्दर की रक्षा करनी पड़ेगी, उसे माडेल के रूप में लेना पड़ेगा, और वहां से रूप-निर्माण का प्रारम्भ करना पड़ेगा, चाहे वह पुराना ही क्यों न होगा। कोई चीज पुरानी या प्राचीन है, इस कारण यदि वह वास्तविक रूप से सुन्दर है तो हम उससे मुंह क्यों मोड़ें, उसे आगामी विकास के प्रारम्भ-बिन्दु के रूप में लेने से इन्कार क्यों करें? हम किसी चीज की केवल इसलिए पूजा क्यों करें तथा उसके सामने सिर क्यों झुकायें कि वह नई है? यह वाहियात बात है, बिल्कुल वाहियात। ऐसा सोचने में एक बड़ा हिस्सा तो ढोंग का है, और हां यह तो है ही कि पश्चिमी कला में फैले हुए फैशनों के लिए अपने अनजान में सम्मान की भावना है।"**

इसलिए डा० शर्मा ने यह जो आरोप मेरे ऊपर लगाने की चेष्टा की है कि क्रान्ति के जोश में कनस्तर पीटने को मैं संगीत मानता हूं—यह ठीक नही बैठता, और न तो मेरा यह कथन है कि जो कुछ प्राचीन है वही बुरा है, और जो कुछ अर्वाचीन है वही अच्छा है। इस सम्बन्ध में यहां जो कुछ भी कहा जारहा है वह बड़ी ही मामूली बात है और वह मानो उसी प्राचीन कथन का अन्वय है, *'पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्'* इत्यादि युक्तियों के नाते न सही, कम से कम इस नाते यह बात डा० शर्मा

को मान्य होगी पर इसके साथ ही मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि किसी भी साहित्यकार का मूर्धन्यत्व पर ठेका है, और यदि दो-एक किसी कारण से प्रगतिवादी शिविर को छोड़ देते हैं तो उससे प्रगतिवाद का महाभारत अशुद्ध पड़ जाता है। मैंने अन्यत्र यह भी दिखलाया है कि बहुत से लेखकों ने प्रगतिवाद का पल्ला छोड़ दिया, और उन्होंने भटक कर अश्लीलता, रहस्यवाद, अध्यात्मवाद आदि वादों को अपना लिया, उसके लिए प्रगतिवाद के शिविर के लोगों को आत्म-समालोचना करनी चाहिए।

साथ ही साथ मैं इन शिविरत्यागी मूर्धन्य साहित्यकारों को यह भी कहना चाहता हूं कि यदि शिविर-त्याग के बाद वे अपनी कला को निखार सकते, तब तो उनके शिविर-त्याग का कुछ नही तो वैयक्तिक समर्थन हो जाता, पर डा० शर्मा को शायद यह तथ्य न भावे (फिर भी यह सत्य है जैसे कि गैलिलियो द्वारा पोप से माफी मांगने पर भी सत्य सत्य ही रहा) कि इन मूर्धन्य कलाकारों की कला में न्यूनता आई, इसलिए उनके शिविर त्याग से डा० शर्मा अपने मुकदमे को जिस प्रकार बल पहुंचाना चाहते हे वह नही पहुंचता, बल्कि मूर्धन्य साहित्यकारों वाला यह तथ्य एक वैयक्तिक घटनामात्र बन कर रह जाता है, और वह हमारे लिये बहुत कम अर्थ रखता है।

आगे बढ़ने से पहले एक बात का और भी स्पष्टीकरण कर दूं। डा० शर्मा ने बराबर अपनी प्रत्यालोचना में यह दृष्टिकोण लेकर मेरी आलोचना की है मानो मैं प्रगतिशील साहित्य को किसी दल-विशेष का साहित्य मात्र मानता हूं। पहले जो कुछ कहा जा चुका है उतने ही से इसका निराकरण हो जाता है, फिर भी स्पष्ट शब्दों में कुछ बताने की आवश्यकता है। मेंने अपनी उसी पुस्तक के पहले लेख में ही इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि प्रगतिशील साहित्य किसी दल-विशेष की बपौती नहीं है। मैंने लिखा था, 'प्रगतिशीलता पार्टीबन्दी से परे की चीज है, पर भारतवर्ष में कई ऐतिहासिक कारणों से इसको एक अंश तक कम्युनिस्ट पार्टी के साथ एक करके देखा गया। प्रेमचन्द किसी पार्टी के नहीं थे, पर वे इस समय तक हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ प्रगतिशील लेखक बने हुए हैं। इस कारण प्रगतिशील साहित्य से इस आधार पर बिदकना कि वह कम्युनिस्ट साहित्य है, बिल्कुल ऊलजलूल बात है। हरि का भजै सो हरि का होई। जो प्रगतिशील उद्देश्यों को साहित्य में अपनी जान में या अनजान में बल पहुंचता है, उसकी विरोधी शक्तियों को क्षति पहुंचाता है, वही प्रगतिशील साहित्यिक है, चाहे वह कम्युनिस्ट हो, चाहे सोशलिस्ट, चाहे कांग्रेसी या चाहे कुछ भी न हो।'

इस स्पष्टीकरण के बाद डा० शर्मा को यह भय नही रखना चाहिए कि प्रगतिवाद महज एक दल का वाद है। वह उससे कही विस्तृत चीज है, यह इसी बात से प्रमाणित है कि केवल प्रेमचन्द ही नहीं, विश्व-साहित्य में सैकड़ों ऐसे महान् नाम मिलेंगे, जो उस दल-विशेष से किसी भी प्रकार सम्बद्ध नहीं थे, फिर भी उनका साहित्य प्रगतिशील साहित्य के रूप में उस दल के आलोचकों के द्वारा भी माना गया है। हम दूर क्यों जायें, शरत्चन्द्र, रवीन्द्रनाथ आदि कितने ही अदलीय लोगों की बहुत काफी रचनाएँ प्रगतिशील

मानी गई ह। यह तो सभी व्यक्तियों को मालूम है कि अभी-अभी सारे साम्यवादी जगत म विक्टर ह्यूगो, जोला आदि के व्यापक उत्सव मनाये गये हैं। नामों की इस सूची को बहुत विस्तृत किया जा सकता है। केवल यही नहीं, जैसा कि पहले ही निवेदन कर चुका हूं, प्रतिक्रियावादी लेखकों की रचनाओं में उनकी अनजान में कई अंश ऐसे हो सकते हैं जो प्रगतिवादी हों।

प्रगतिवाद के सम्बन्ध में इस स्पष्टीकरण के बाद डा० शर्मा को प्रगतिवाद के सम्बन्ध में उतनी आपत्ति नहीं रहनी चाहिये। अब मैं उस वक्तव्य पर आता हूं कि हिन्दी के पाठक संघर्ष, रोटी, कपड़ा और शोषक-शोषितों की बात सुनते-सुनते ऊब उठे हैं। मुझे यह बात वस्तुस्थिति से दूर मालूम देती है। सच बात तो यह है कि रोटी, कपड़ा और शोषित-शोषक का संघर्ष बराबर उच्चतर स्पाइरल में पहुंच रहा है। यदि फिर भी जनता इन संग्रामों और संघर्षों को प्रतिफलित करनेवाली रचनाओं से मुंह मोड़ती है, और उस सम्बन्ध में कुछ अरुचि दिखलाती है, तो इसका कारण उनके द्वारा चुना हुआ विषय नहीं है, बल्कि पगतिवादी नामधारी लेखकों की असमर्थता है।

मैंने बराबर इस ओर दृष्टि आकर्षित की है कि किसी व्यक्ति के विचार प्रगतिशील होने से ही यहां तक कि मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन को घोख डालने पर भी, उसकी रचना प्रगतिशील साहित्य होगी, ऐसी कोई बात नहीं है। मैंने इस सम्बन्ध में उक्त पुस्तक में अपने विचारों का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया था, जो शायद डा० शर्मा के मत से बहुत मिलता है। मैंने लिखा है—

"प्रगतिवाद की कसौटी एक समाज सम्बन्धी कसौटी है, पर जैसा कि मैं बता चुका हूं किसी साहित्य के सम्बन्ध में इतना ही कह देना, सब कुछ कह देना नहीं है, कि वह समाज की प्रगति का विरोधी है, उसके पक्ष में है अथवा विपक्ष में है।

आखिर स्वीकृत प्रगतिशील लेखकों में कोई लेखक अधिक पसन्द किया जाता है, कोई लेखक कम, किसी लेखक को हम उस्ताद मानते हैं, तो किसी को उससे कई दर्जे उतर कर मानते हैं, इसमें कौनसी ऐसी बात है जिससे एक प्रगतिशील लेखक दूसरे प्रगतिशील लेखक से श्रेष्ठ होता है, और श्रेष्ठ माना जाता है? क्या हम इसकी इस प्रकार व्याख्या कर सकते हैं कि एक अधिक प्रगतिशील है, इसलिए वह हमें अधिक पसन्द आता है, और दूसरा कम प्रगतिशील है, इस कारण वह हमें कम पसन्द आता है? क्या इस प्रकार की व्याख्या करना उचित होगा?"

एक उदाहरण लिया जाय। मान लीजिये एक ही मंच से दो व्यक्ति बोल रहे हैं, दोनों प्रगतिशील हैं। एक के बोलने पर लोग जम्हाई लेने लगते हैं, इधर उधर देखते हैं, घड़ी देखने लगते हैं, पर दूसरा जब बोलता है तो लोग मंत्रमुग्ध होकर सुनते हैं। क्या इसकी इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है कि एक अधिक प्रगतिशील है, और दूसरा कम? क्या भाषा, शैली, व्याख्यान को ढंग से अदा करने आदि का इसमें कोई हाथ नहीं है? क्या अक्सर ऐसा नहीं देखा जाता कि अच्छा वक्ता अनिवार्य रूप से उस विषय का

श्रेष्ठतर जानकार नहीं होता ? कई बार एसा होता है कि अच्छा ज्ञाता अच्छा वक्ता नहीं होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि जिस व्यक्ति का व्याख्यान अधिक प्रभावोत्पादक हुआ, वह अपरिहार्य रूप से उस व्यक्ति से अधिक ईमानदारी के साथ अपनी कही हुई बातों में विश्वास करता है।

इस प्रकार यह मानना ही पड़ेगा कि केवल इतना कह देने से ही कि अमुक कृति प्रगतिशील है, न तो हम यह कह देते है कि वह सबसे अधिक सफल रहेगी, और न हम उस कृति के सम्बन्ध में सब कुछ कह देते हैं। किसी कृति को प्रगतिशील बनाने का अर्थ केवल इतना ही है कि सामाजिक दृष्टि से उस कृति का प्रभाव अच्छा होगा बशर्ते कि (यहां बशर्ते कि बहुत महत्वपूर्ण है) और सब दृष्टि से वह उस प्रकार की दूसरी कृतियों के मुकाबले का हो। हाँ फिर उसी उदाहरण में लौट कर कह सकते हैं कि एक व्यक्ति व्याख्यान में मजदूरों के फायदे के पक्ष में कहता है, पर उसे बोलना नहीं आता, दूसरा व्यक्ति बड़ा अच्छा वकील और वक्ता है, वह पूंजीपतियों की तरफ से बोलता है। अब इन दोनों में पहला व्यक्ति प्रगतिशील यहां तक कि क्रान्तिकारी होते हुए भी सम्भव है कि किसी नये हृदय को आन्दोलित न कर सके, और वकील साहब प्रतिक्रियावादी होते हुए भी कुछ नहीं तो जैसा है उसे कायम रखने के पक्ष में मुकदमा तैयार कर सकें।

दूसरे शब्दों में मेरा वक्तव्य यह है कि किसी लेखक का प्रगतिवादी होना इस बात की गारण्टी नही है कि प्रभाव कह लीजिये रस कह लीजिये या जो भी चाहे कहिये, उत्पन्न कर सकेगा। इसके विपरीत सम्भव है वाचालता तथा वाग्जाल की बदौलत प्रतिक्रियावादी अपना प्रभाव या रस (या करके लिख रहा हूं इसलिए यह न समझा जाय कि मैं दोनों शब्दों को बिल्कुल पर्यायवाची मानता हूं) उत्पन्न कर सके। और यह भी बता दिया जाय कि यदि प्रभाव उत्पन्न नही कर सका तो किसी लेखक की प्रगतिशीलता ही क्या हुई ? और किसी वाद में भले ही यह दावा (केवल दावा) किया जाता हो कि स्वान्तःसुखाय साहित्य की रचना की जाती है, पर प्रगतिशील साहित्य तो जनता को साथ लेकर चलने में ही अपनी सार्थकता मानता है। इस कारण वह इस बात को महत्व दिये बिना नहीं रह सकता कि साहित्य या कला कहां तक और किस हद तक जनता को आन्दोलित करते हैं, उसे वीरता के कामों के लिए उद्बुद्ध करते है इत्यादि। चलते हुए यहां यह भी बता दिया जाय कि प्रगतिवादी के निकट केवल मध्ययुग के नाइटों की तरह मार-काट ही वीरता नहीं है। बुरे के ध्वंस में वीरता है, पर अच्छे के निर्माण में उससे कम वीरता नहीं। स्वाभाविक रूप से अभी जिन देशों में शोषणमूलक पद्धतियों का अन्त हुआ है, वहां प्रगतिवादी साहित्य शोषण के विरुद्ध संग्राम के लिए उकसायेगा, पर जहां सच्चे अर्थों में जनवादी शासन स्थापित हो चुका है, वहां वह निर्माण के हाथों को मजबूत करेगा, अवश्य वह हर हालत में शोषकों के षड्यंत्रों के विरुद्ध जनता को जागरूक करेगा।

मैं यह समझता हूँ कि जनता तो इस बात की भूखी है कि उसे सही किस्म का साहित्य मिले। प्रगतिवादियों के लिए यह अनुचित है कि वे यह दावा करें कि वे हिन्दी

में बहुत बड़ा या ऊँचे दर्जे का साहित्य उत्पन्न कर रहे हैं। अवश्य दूसरे लोग भी कोई विशेष उच्च साहित्य उत्पन्न कर रहे हैं, ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। फिर एक बार मैं इस बात को स्पष्ट कर दूँ कि प्रगतिवाद कोई ऐसा जादू नहीं है, जिस पर ईमान लाते ही कोई लेखक महान् साहित्यकार बन जाय। रूस में ३५ साल से समाजवाद कायम है, और वहां अच्छे से अच्छे लेखक भी निकले हैं, जिनका प्रगतिवाद निःसंदिग्ध है, फिर भी कोई कठमुल्ला श्रेणी का आलोचक भी यह दावा नहीं करता है कि मायाकोवस्की पुश्किन से बड़ा कलाकार था, या शोलोकाफ अथवा इलिया एरेनबुर्ग गोर्की से बड़े कलाकार हुए हैं। कला और साहित्य का क्षेत्र बिल्कुल अलग क्षेत्र है, जिसमें कोई प्रगतिवाद का जनेऊमात्र धारी होकर यह दावा नहीं कर सकता कि मैं सबसे श्रेष्ठ हूँ, मुझसे बड़ा कोई नहीं है। लेनिन ने इस बात को साफ करते हुए कहा था कि "पूंजीवाद ने संस्कृति, ज्ञान तथा टैकनीक में जो ऐश्वर्यशाली भंडार छोड़ा है, वह हमारे लिए आत्यन्तिक रूप से आवश्यक है। हम उसे पूंजीवाद के अस्त्र से समाजवाद के अस्त्र के रूप में परिवर्तित कर लें।" इस प्रकार से इस बात को भी बार-बार प्रगतिवादी आलोचकों ने माना है कि पूंजीवादी लेखकों में बहुत से ऐसे हो गये हैं, जिनकी शैली से अभी प्रगतिवादी लेखक वर्षों तक सीखेंगे। मैं समझता हूँ कि यह बदतमीजी तथा कठमुल्लापन की हद होगी यदि यह दावा किया जाय कि उदाहरण स्वरूप अमृतराय प्रेमचन्द से बड़े साहित्यकार हैं—कोई भी सही दिमाग व्यक्ति इस प्रकार का दावा करने के पहले तीन बार सोचेगा। जैसा कि मैं अभी-अभी एक लेख में बता चुका हूँ—साम्यवादी दल के सभी लेखक एक पाये के नहीं हैं। एक तरफ नागार्जुन जैसे लेखक की "बलचनमा" नामक रचना है, जिसे मैंने १९५२ का सबसे अच्छा उपन्यास बताया है। दूसरी तरफ अमृतराय ऐसे उसी दल के लेखक हैं जिन्हें मैं प्रचारक मात्र और सो भी बहुत अक्षम प्रचारक मात्र मानता हूँ। उनका "बीज" उपन्यास ऐसा ही है।

मैंने अपने प्रथम लेख में फिर भी यह जो कहा था कि प्रगतिवाद की विजय-दुन्दुभी बज रही है, इस पर डा० शर्मा ने बहुत आपत्ति की है। ऐसा करके उन्होंने मेरे साथ कुछ अन्याय किया है। क्या यह बात सच नहीं है कि स्वान्तःसुखाय या कला कला के लिए मतवाद का हिन्दी में नामलेवा पानीदेवा कोई दिखाई नही पड़ता, जब कि परिस्थिति यह है कि प्रगतिवाद के विरुद्ध एकमात्र गम्भीर मतवाद यही हो सकता है। स्वयं डा० शर्मा प्रगतिवाद के विरुद्ध बहुत बिगड़ते है, पर वे भी अपने दीर्घ लेख में कहीं पर इस मतवाद को बल पहुँचाते दृष्टिगोचर नहीं होते। वे अत्यन्त शिथिल रूप से इस मतवाद के आधुनिकतम रूप लेखकों की स्वतन्त्रता की धुन अलाप कर रह जाते हैं। उनको तो यह पता ही होगा कि आधुनिक युग के सबसे बड़े लेखक इबसेन से लेकर हमारे यहां रवीन्द्र, शरत्, प्रेमचन्द तक सोद्देश्य साहित्य-सृष्टि में विश्वास करते थे। मैंने नाट्य शास्त्रकार के कुछ श्लोकों को उद्धृत करके यह बात भी दिखलाई थी कि सोद्देश्य साहित्य-सृष्टि जो प्रगतिवाद का मूल वक्तव्य है वह प्राचीनों में भी

सुपरिचित था। केवल यही नहीं मैंने यह भी दिखलाया था कि वेद, महाभारत, रामायण आदि हमारा सारा प्राचीन साहित्य सोद्देश्य है, और एक वर्ग-विशेष के विचारों और मान्यताओं को बल पहुँचाता है। उस सम्बन्ध में डा० शर्मा बिल्कुल चुप्पी साध गये, मैं उस पर फिर आऊँगा।

मैं डा० शर्मा को इस बात के लिए बधाई देता हूँ कि वे इस बात को मानते है कि योगियों का हलाहल विष खाकर भी जीवित रहना तथा छोटे-छोटे बालकों का पूर्वजन्म की बातें बता देना आदि अद्भुत घटनाओं और चमत्कारों को अध्यात्मवाद की आधारशिला बनाना ठीक नहीं, क्योंकि यह सर्वथा सम्भव है कि भविष्य में विज्ञान इन चमत्कारों की व्याख्या कर सके। इतना मानने पर भी डा० शर्मा यह पूछ बैठते हैं, **"किन्तु क्या विज्ञान अपनी चरमसीमा पर पहुँच जाने पर भी मनुष्य को वास्तविक सुख और शान्ति दे सकेगा? प्रकृति पर सम्पूर्णतम विजय प्राप्त करने के बाद भी क्या हम चैन से बैठ पायेंगे? अब तक विज्ञान की प्रगति निरन्तर होती आई है, क्या उसके साथ-साथ मानव समाज की सुख-शान्ति भी उसी अनुपात से बढ़ती गई है? विज्ञान हमें सब प्रकार की भौतिक सुविधाएं दे सकता है। सम्भव है भविष्य में विज्ञान ऐसे आविष्कार कर सके कि हम बिना हाथ पैर हिलाये अपनी आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु घर बैठे पा जायँ, और हमें कोई प्राकृतिक शक्ति या घटना हानि या दुःख न पहुंचा सके। हो सकता है कि हम मृत्यु पर भी विजय पा जायँ। किन्तु यह सब पाकर भी हम शान्ति नहीं पा सकेंगे। इसका प्रमाण है विज्ञान में समुन्नत देशों के मनुष्यों की मनोदशा। क्या कोई कह सकता है कि विज्ञान ने अमेरिका या जर्मनी के मनुष्यों को मानसिक शान्ति दी है? आप कहेंगे, शान्ति की अपेक्षा ही क्या है। पर अपेक्षा है। संसार का प्रत्येक मनुष्य मानसिक शान्ति का भूखा है। यह उसकी प्रकृति है। कल्पनातीत भौतिक सुख प्राप्त होने पर भी उसे चैन नहीं मिल सकता। क्या आज तक किसी ने भौतिक सुविधाएँ पाकर चैन पाया है? वास्तविकता तो यह है कि भौतिक सुख हमारी अनिवार्य शारीरिक आवश्यकताओं तक सीमित है। उसके ऊपर हम सब साधनों के उपलब्ध होते हुए भी कोई सुख नहीं पा सकते। सोने के बरतनों में स्वादिष्ट व्यंजन खा कर मखमल के गद्दे पर सोनेवाला राजा, दाने चुग कर घोसले में सोनेवाली चिड़िया या बिल में सोनेवाले चूहे से अधिक सुखी है, यह प्रमाणित करना असम्भव है। मनुष्य इस भौतिक दशा में चरम प्राप्ति कर लेने पर भी पशु-पक्षियों और कीड़े-मकोड़ों के बराबर ही करेगा। केवल एक ही मार्ग है जिस पर चल कर मनुष्य संसार के अन्य प्राणियों से ऊपर उठ सकता है और वह है मानसिक (आध्यात्मिक) उन्नति का मार्ग। अध्यात्मवाद इसीलिए ग्राह्य है कि वह हमें भौतिक जगत की सीमाओं से ऊपर उठाता है और इस प्रकार हमें पशुओं से पृथक् करता है।"**

इसमें सन्देह नहीं कि डा० शर्मा ने जिस प्रकार से रहस्यवाद का सहारा लेकर अध्यात्मवाद को स्थापित करने की चेष्टा की है, वह योगियों का हलाहल विष खाकर जीवित रहना और छोटे-छोटे बालकों का पूर्व जन्म की बातें बता देना आदि अद्भुत

घटनाओं और चमत्कारों के आधार पर अध्यात्मवाद को स्थापित करने की चेष्टा से अधिक गुरुत्वपूर्ण है, पर डा० शर्मा से मैं यह नम्रतापूर्वक पूछना चाहूँगा कि अध्यात्मवाद के सहारे मनुष्य क्या इतिहास के किसी भी सोपान में पशुओं से ऊपर उठ सका है ? यदि मनुष्य पशुओं से ऊपर उठा है, और वह अवश्य उठा है, तो वह अपने विज्ञान और वैज्ञानिक ज्ञान की बदौलत। अध्यात्मवाद शायद किसी-किसी को शान्ति दे पाया है, पर यह शान्ति निश्चयरूपेण उसी प्रकार की है जैसे पागलखाने में बन्द कोई व्यक्ति अपने को नेपोलियन समझे, और वह यह समझे कि उसने वाटरलू में विजय प्राप्त की है।

यह तो कोई भी मानेगा कि सुख दुःख भौतिक अनुभूतियां हैं, और भौतिक अवस्थाओं से उनका सम्बन्ध है। जब डा० शर्मा यहां तक मान लेते है कि शायद विज्ञान एक दिन मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर सके, फिर सुख-दु ख के नियन्त्रण में कमी क्या रह जाती है ? उनका यह जो कहना है कि सोने के बरतनों में स्वादिष्ट व्यंजन खाकर, मखमल के गद्दे पर सोनेवाला राजा असुखी हो सकता है, यह वर्तमान समय के लिए तो ठीक है, क्योंकि उसका स्वास्थ्य खराब हो सकता है, उसके किसी प्रियजन को कोई रोग हो सकता है, उसका लड़का मर सकता है इत्यादि, पर जब इन सारी बातों पर नियन्त्रण प्राप्त हो जायगा, तो फिर दुःख का कारण क्या रह जायगा ? ऐसा तो कोई भी नहीं कह सकता कि दुःख के सारे कारण दूर हो जायेंगे, फिर भी दुःख रह जायगा। सैकड़ों स्थानों पर दार्शनिकों ने यह कहा है कि अध्यात्मवाद की शरण में जाने का एकमात्र कारण मृत्यु पर नियन्त्रण प्राप्त न कर पाना है। जब यह मान लिया गया कि मृत्यु पर नियन्त्रण हो जायगा, तो फिर अध्यात्मवाद की सारी नींव ही गिर जाती है। यहां यह भी बता दिया जाय कि डा० शर्मा ने उदारतापूर्वक यह जो मान लिया कि मृत्यु पर विजय प्राप्त हो सकती है, उसका हम कोई बेजा फायदा उठाना नहीं चाहते।

विज्ञान विशेषकर चिकित्सा विज्ञान की बदौलत किसी एक व्यक्ति की आयु बढ़ाने में कहां तक सफलता वर्तमान समय में मिल सकती है, यह तो विवादास्पद है, पर यह तो सभी को मानना पड़ेगा कि विज्ञान की उन्नति की बदौलत गत एक शताब्दी में जातियों की औसत आयु और विशेष-विशेष रोग से मुक्ति के क्षेत्र में बहुत अधिक उन्नति हुई है। इसलिए मृत्यु पर नियन्त्रण की बात चाहे जितने समय में प्राप्त हो, बिल्कुल अकल्पनीय नहीं है, बल्कि वह बहुत कुछ सम्भावनाओं के अन्दर मालूम होता है। जब परिस्थिति ऐसी है, तो फिर अध्यात्मवाद के लिए गुंजाइश बहुत कम रह जाती है। आखिर लोग किन बातों से ऊब कर अध्यात्मवाद की शरण में जायेंगे ? यह जो कहा गया है कि अध्यात्मवाद भौतिक जगत् की सीमाओं से ऊपर उठाता है यह क्या बला है, और इसका स्वरूप क्या है ? जैसा कि मैंने पहले ही बता दिया, अध्यात्मवाद के इस कार्य का स्वरूप केवल स्वेच्छा से लादा गया पागलपन मात्र है। जब आपके किसी प्रियजन का भौतिक शरीर भूत में मिल गया, तब यह समझ कर सान्त्वना प्राप्त करना

कि आगे चलकर कभी मिलन होगा पागलपन नहीं तो क्या है ? इसी प्रकार अध्यात्मवाद द्वारा प्रदत्त शान्ति के जिस उपादान का भी विश्लेषण किया जायगा, उसमें से यही पागलपन बाहर निकल आयगा। इसी कारण मार्क्स ने धर्म को एक अफीम कहा है। जैसा कि डाक्टर शर्मा समझते हैं—यह स्टालिन का कथन है, यह गलत है, स्टालिन ने मार्क्स की बात को दोहराया मात्र है, वे साफ कहते है—*"धार्मिक जगत् से तुलना करने के लिये हमें कोहरे से आवृत क्षेत्रों का आश्रय लेना पड़ेगा। इस प्रक्रिया में मनुष्य के दिमाग की उपज जीवन से युक्त स्वतंत्र अस्तित्वों के रूप में मालूम पड़ती है, और यह मालूम पड़ता है कि वे बुत या अस्तित्व एक दूसरे से तथा मानव जाति से सम्बद्ध हैं। मार्क्स ने सबसे पहले १८४४ में हेगेल के दर्शन पर एक लेख लिखते हुए पहले पहल धर्म को अफीम कहा था। उनके शब्द ये थे—'धर्म जनता के लिये अफीम है। धर्म एक भ्रान्तिमूलक सूर्य है, जिसके इर्द-गिर्द मनुष्य तभी एक घूमता है, जब तक मनुष्य अपने इर्द गिर्द नहीं घूमता।"* इत्यादि

मार्क्स के उद्धरण को यह कहकर उड़ा दिया जाय कि जैसे नागनाथ तैसे सांपनाथ, इसलिए मै केवल इतना इंगित कर दूँगा कि फ्रायड ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से धर्म की आलोचना कर "**एक भ्रान्ति का भविष्य" नामक पुस्तक में यह दिखाया है कि सभी धर्म भ्रान्तिमूलक हैं। मैं अपनी पुस्तक 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' से फ्रायड के मत का संकलन उद्धृत करूंगा—फ्रायड का कथन कुछ यों है कि मनुष्य की प्रकृति कुछ ऐसी है कि विभिन्न जातियां अनिवार्य रूप से धार्मिक विश्वास प्राप्त कर लेती हैं। उनका स्पष्ट ही यह कहना है कि यह विश्वास भ्रान्तिमय है, इसलिए उसके सामने कोई भविष्य नहीं है।"**

मै अधिक उद्धरणों के झगड़े में नही पड़ूँगा। अब मैं इस विषय पर विचार करूंगा कि विज्ञान की जिस अनुपात से उन्नति हुई, उस अनुपात से आम लोगों की सुख समृद्धि में वृद्धि नही हुई, तो उसके लिए कौन सी बात उत्तरदायी है। यदि विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ विज्ञान से प्राप्त सुविधाओं का समुचित बटवारा होता जाता तो अवश्य ही उसी अनुपात से आम लोगों की सुख-सुविधा में वृद्धि होती, पर जिस कारण से भी हो, मैं यहां उनके ब्यौरे में नही जाऊँगा, हुआ यह कि कुछ थोड़े से लोग उन सुविधाओं पर एकाधिकार प्राप्त करते गये (फिर भी छापाखाना, बिजली आदि बहुत सी सुविधाएं आम लोगों से सम्पूर्णतया रोकी न जा सकीं), केवल यही नहीं उन्होंने विज्ञान के आविष्कारों को जनता को गुलाम बनाने के लिए उपयोग किया, जिसका चरमरूप हाईड्रोजन बम है।

तो दोष असल में विज्ञान का नहीं है, दोष है विषम विभाजन और मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का। इसीलिए केवल विज्ञानवाद का नारा अयथेष्ट है। विज्ञान में अविचलित आस्था के अतिरिक्त हमें यह देखना पड़ेगा कि विज्ञान से जो चीजें प्राप्त होती हैं, वे आम जनता के उपयोग में आती हैं या नहीं। मुझे डा० शर्मा ऐसे विद्वान् से

यह आशा नहीं थी कि वे ख्वामख्वाह इस तरह लिखेंगे—**"स्टालिन और मन्मथजी को उनका ऐटम बम वाला अमृत मुबारक रहे।"** मैंने अपने पूर्व लेख में ऐटम बम का उल्लेख भी नहीं किया था, और न मैं स्टालिन का कोई वकील हूँ (सच तो यह है कि १९४२ के आन्दोलन के सम्बन्ध में मेरा और साम्यवादियों का गहरा मतभेद था, देखिये मेरी पुस्तक *"अगस्त क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति"*) फिर भी इतना कहूँगा कि यदि सारे देशों में सही अर्थों में समाजवाद होता, जैसा कि मैं समझता हूँ हो जाना चाहिए था, तो शायद अणुबम का आविष्कार ही न होता। और होता भी तो पहाड़ों को काटने और मरुभूमियों में जल के सोते निकालने के लिये होता। मै तो इसमें विश्वास करता हूँ कि अणुबम का प्रयोग तो दूर रहा, युद्धों पर ही रोक लगा दी जाय।

अब मैं डा० शर्मा के उस वक्तव्य की ओर आता हूँ जो उन्होंने वैदिक तथा पौराणिक युग पर मेरे मन्तव्यों के सम्बन्ध में किया है। मुझे यह मानने में जरा भी संकोच नहीं है कि वैदिक साहित्य से मेरा परिचय, जैसा कि अन्य सैकड़ों विषयों का परिचय मुख्यत: अंग्रेजी में प्राप्त पुस्तकों से, जैसे मैक्समूलर, विन्टरनित्स, बेबेर, हेरनेल, दास, दासगुप्ता, राधाकृष्णन, वेणीप्रसाद आदि से हुआ है, और मेरा वैदिक संस्कृत का ज्ञान केवल इतना ही है कि टीकाओं के बल पर ही काम दे सकता है। और इसीलिए यदि एक जगह ऋचा की जगह सूक्त या सूक्त की जगह ऋचा लिख गया, तो इसमें कोई इतनी भारी गलती नही हो गई कि असली वक्तव्य गलत पड जाय। सूक्त की जगह एक स्थान पर ऋचा लिख जाने वाली गलती बताने पर आभार मानते हुए भी क्या मेरे इस वक्तव्य में कोई फरक आता है कि वैदिक समाज एक सामन्तवादी समाज था, उसमें दास-प्रथा थी, दासियों के श्रम तथा शरीर पर मालिकों का अधिकार होता था, एक शब्द में उसमें शोषक और शोषित थे।

मै केवल इस सम्बन्ध में एक ही उद्धरण दूँगा, और वह एक ऐसे व्यक्ति की पुस्तक से दूँगा, जिनके वैदिक साहित्य सम्बन्धी ज्ञान का लोहा डा० शर्मा भी मानेंगे। मै डा० भूपेन्द्रनाथदत्त की *"डायलेक्टिक्स आफ हिन्दू राइच्यूआलिज्म"* (पृ० ४९) से उद्धृत करता हूँ। वे कहते है :—

"भारतीय पुरातत्व के विद्वान् इस बात को मान चुके है कि वैदिक धर्म धनी क्षत्रियों और ब्राह्मणों का धर्म था। यजुर्वेद में स्पष्ट रूप से ब्राह्मण और क्षत्रियों के लिए कल्याण-कामना की गई है। (अग्निस्टोम २७-४) अन्यत्र अग्नि को ब्राह्मण और क्षत्रियों का प्रिय बतलाया गया है। (वही ११-३)। राजसूय अनुष्ठान में यह कहा जाता है 'यजमान बहुत धनी हैं, वे अब देवताओं को आहुति देना चाहते हैं।' (१,१२,४५) इस प्रकार यह स्पष्ट है कि केवल धनी लोग ही वैदिक अनुष्ठान करते थे। राजन्य, अच्छे खाते पीते पुरोहित तथा समय-समय पर धनी सौदागरों का ही ऋग्वेद में उल्लेख है। ये धनी राजन्य तथा उनके पिछलगुए ही शासक तथा शोषक वर्ग में से थे। और वे उनके उन लोगों से लड़ते तथा उन्हें समाज बहिष्कृत करते थे जो उनके अनुष्ठानों आदि को मानते नहीं थे।"

ऐसे सैकड़ों उद्धरण दिये जा सकते हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि वैदिक साहित्य में चित्रित समाज सामन्तवादी था, हां इसके साथ ही वैदिक साहित्य में ऐसे भी कुछ उल्लेख मिलते हैं जो उससे पहले के आदिम समाज की झलक पेश करते हैं। पर यहां उन बातों के ब्यौरे में जाने की आवश्यकता नहीं है। मैंने इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा था कि वेद वर्गपक्षपातमूलक साहित्य है। डा० शर्मा का यह कथन सत्य नहीं कि एक प्रगतिवादी यह आशा करता है कि सब गायें समान मात्रा में दूध दें, जुड़वा शिशुओं की ताकत समान हो, या सब रिश्तेदार बराबर उपहार दें, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि जब एक वैदिक ऋषि इन बातों को एक साँस में कहता है तो उसका कोई उद्देश्य ही नहीं होगा। यदि डा० शर्मा भोलेपन से यह समझते हैं कि ऋषि महोदय ने ऐसे ही इन बातों को कह दिया, तो वे आत्मप्रवंचना कर सकते हैं, पर मैं तो यह मानूंगा कि जब भी ऐसी बात कही जाती है, तो उसका उद्देश्य फैली हुई विषमता को शाश्वत और अपरिवर्तनीय बताना होता है। जब वर्ग थे, वर्ग-विद्वेष था, तो स्वाभाविक रूप से वर्ग-समन्वय का नारा देकर आम लोगों की आंखों में धूल झोंकने का प्रयास भी था। इसमें राजन्यों तथा बड़े लोगों के धन से पुष्ट तोंदवाले ऋषि, दार्शनिक, साहित्यकार साथ देते थे, इसमें आश्चर्य ही क्या है? इसी का मैंने इंगित किया था।

रहा यह कि उसी सूक्त में ऐसे विचार आते हैं--

"देवताओं ने भूख को मृत्यु-दण्ड के रूप में नहीं दिया है--पेट भर कर खानेवाले भी मरते ही हैं। जो दान देता है उसकी संपत्ति कम नहीं होती। जो नहीं देता, कभी किसी की सहानुभूति नहीं पा सकता। जो संपन्न हो कर भी निर्धनों, दुखियों की उपेक्षा करता है, वह किसी की दया नहीं पाता।...............संपन्नों को चाहिए कि निर्धनों को दान दें। संपत्ति रथ-चक्रों के समान परिवर्तनशील है।..........मूर्ख का संपन्न होना व्यर्थ है, नाश-कारक है। मूर्ख किसी का भरण-पोषण नहीं करता जो केवल अपना पेट भरता है, वह पाप-भोजी है।"

इससे तो मेरी व्याख्या का ही समर्थन होता है। हमेशा वर्ग समन्वयवादी ऊँचे वर्गों को यही कहते हैं कि तुम बांट कर खाओ, तुम दान दो इत्यादि। केवल कहने तक ही यह बात नहीं रह जाती। कई बार उच्च वर्ग के लोग सर्वस्व दान देकर सिद्धार्थ की तरह राज्य छोड़कर यह भ्रम उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं कि दुनिया में कुछ नहीं धरा है, जो कुछ है सो वहां है इत्यादि। मैंने इसी पर यह भी कहा है कि हमारे दर्शनों और उपनिषदों में "वसुधैव कुटुम्बकम्" सर्वात्मा की एकता, सर्वभूतहित, कुत्ता, श्वपाक, गाय, हाथी तथा ब्राह्मण में समदर्शी की उड़ान भरी गई है, पर व्यवहारिक जगत् में एक दो अपवादात्मक उदाहरणों के अतिरिक्त जो होता था, वह उपलब्ध उस समय की कानूनी पुस्तकों से ज्ञात होता है। एक ही अपराध के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सबके लिए विभिन्न सज़ाओं की व्यवस्था यह हमारी प्राचीन सभ्यता की सूझ और देन है। यदि कोई व्यक्ति विचार-जगत् में बड़ी-बड़ी बात करे पर व्यवहार में बिल्कुल

उसके विरुद्ध आचरण करे तो क्या हम यह नहीं कह सकते कि उसकी असलियत वही है जो वह कार्य रूप में करता है, और जो वह कहता रहता है वह ढोंग और ढकोसला है ? यदि किसी व्यक्ति के विषय में यह बात कही जा सकती है तो उसी तर्क से क्या किसी सभ्यता या संस्कृति के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता ? मैंने इसी नाते विरुद्ध आचरणयुक्त विभिन्न उड़ानों वाले ऋषियों की निन्दा तथा भर्त्सना की थी। मैं यह नहीं कहता कि यह ऋषि उच्च वर्ग के वेतनभोगी एजेन्ट थे, या इनके अपने निजी आचरण इनकी उड़ानों के विरुद्ध थे। (तब तो इनका असर ही न पड़ता और ये जनता के विद्रोह के लिए ब्रेक के रूप में बिल्कुल बेकार सिद्ध होते) बल्कि सम्भव है वे बहुत अच्छे रहे हों, पर मैंने उनकी ऊँची उड़ानों पर जो कुछ कहा वह सामाजिक मूल्यांकन की दृष्टि से कहा, याने यह देखा कि सामाजिक दृष्टि से उसका क्या असर होता है। एक व्यक्ति सम्भव है किसी बात को बहुत ही उदात्त उद्देश्यों से कहे, पर सामाजिक आर्थिक पृष्ठ-भूमि में वह बहुत ही प्रतिक्रियावादी और शोषण को कायम रखने के पक्ष में प्रमाणित हो सकती है। एक उदाहरण लिया जाय, अहिंसा बहुत अच्छी बात है, पर एक ऐसी सामाजिक पृष्ठभूमि में जब अत्याचारी शासन के विरुद्ध और कोई उपाय नहीं है, जनता विद्रोह के लिए बिलबिला रही है, उस समय अहिंसा के ऐसा सुन्दर सिद्धान्त भी प्रति-क्रियावाद का प्रतीक हो सकता है। इसके लिए अहिंसा का वह प्रचारक व्यक्तिगत रूप से पाखंडी न होते हुए भी उसका उठाया हुआ झंडा पाखंड और पाप का हो सकता है। शायद मेरी यह बात बहुत स्पष्ट है, और इस पर इससे अधिक कहने की जरूरत नहीं है। इसी नाते मैंने हमारे दर्शनों और उपनिषदों में बड़ी-बड़ी बातें बघारे जाने की बात कही थी। जो भी ऊँची बात व्यवहार में नहीं आती, उसके लिए और क्या कहा जायगा। मुझे सचमुच ही ऐसी सभ्यता और संस्कृति में कोई गौरव अनुभव नहीं होता, जिसकी बदौलत सैकड़ों वर्षों से एक चौथाई लोग अछूत बने हैं, इसके अलावा सामन्त-वादी समाज का शोषण तो था ही। इस अश्रद्धा के लिए डा० शर्मा मुझे कितना भी दोष दें, मैं इसके लिए लज्जित नहीं। या तो कोई डंके की चोट पर यह प्रमाणित करदे कि हमारा प्राचीन साहित्य जिस युग के समाज को चित्रित करता है, उस युग में शोषण, मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण नहीं था, नहीं तो व्यर्थ में ऐसी धारणा उत्पन्न करने की चेष्टा न करे कि मैं अपने देश को किसी से कम प्यार करता हूँ। मैं उस देशभक्ति को बहुत ही निन्दनीय मानता हूँ, जो अपने देश की बुरी बातों को दूसरे देश की अच्छी बातों के मुकाबले में अच्छी करके दिखलाती है।

रामायण के सम्बन्ध में मेरे इस वक्तव्य पर बहुत रोष किया गया है कि मैं उसे आर्य-साम्राज्य-विस्तार की एक कहानी मानता हूँ। स्मरण रहे कि मैं उसके महा-काव्य होने में सन्देह नहीं करता। बल्कि प्राचीन महाकाव्यों में मैं उसका एक विशिष्ट स्थान मानता हूँ। पर उसके कथानक और उसकी धार्मिक रूप से लोकप्रियता की गह-राइयों में जाने पर वही बात निकलती है जिसका मैंने थोड़े में इंगित किया है। मैंने उसमें

तथा महाभारत में वर्णित आर्य-साम्राज्य-विस्तार की एक टैकनीक की ओर दृष्टि आकर्षित करते हुए यह कहा था कि वह पाश्चात्य साम्राज्यवादियों के साम्राज्य विस्तार के टैकनीक से बहुत मिलती है। वह यह कि आर्य ऋषि कहीं नौमैन्स लैण्ड में निकलकर आश्रम स्थापित कर यज्ञ आदि करते थे, जब इस पर आदिम निवासियों (कथित राक्षसों) की ओर से प्रतिरोध होता था, तो फिर आर्य राजा सैन्य सामन्त लेकर पहुँचते थे। पाश्चात्य साम्राज्यवादियों का भी यही तरीका रहा कि पादरी धर्म प्रचार के लिए या सौदागर व्यापार (?) करने "नेटिवों" में जाते, और जब उन पर कोई वास्तविक या कल्पित विपत्ति आती तो गनबोट पहुँचते। डा० शर्मा को यह तुलना बहुत बुरी लगी है, और वे इसे मेरा इलहाम बताकर पूजनीय ऋषियों और दशरथ ऐसे प्रातःस्मरणीय राजाओं की सहायता के लिए ताल ठोक कर निकल पड़ते हैं।

निःसन्देह वे ऐसा देशप्रेम के कारण करते हैं, और उनका उद्देश्य महान् है, पर क्या यह मेरा इलहाम है? क्या सत्य वैसा ही नही है जैसा मैंने बताया? प्राचीन भारत के इतिहास के सम्बन्ध में मै किसी मौलिक शोध का दावा नही करता, मेरा तो उस क्षेत्र में इतना ही कार्य रहा है कि दूसरों के किये हुए कार्यों के आधार पर विश्व मानव की एकता दूसरे शब्दों में दिखाता रहा हूं। साम्राज्य-विस्तार एक कार्य है, वह सभी देशों में एक ढंग या बहुत कुछ ढंग से हुआ, क्या इस बात को मानना इतना बड़ा अपराध है कि मुझे ढकेल कर इलहाम पैदा करनेवाले पैगम्बरों में बैठा दिया जाय?

कोई हर्ज नही। पर मेरे साथ कइयों को भेजना पड़ेगा। जिनमें एक श्री जयचन्द्र विद्यालंकार है, जो "भारतीय इतिहास की रूपरेखा" में (पृ० १८८ प्रथम भाग) यों लिखते है—

"आश्रमों के निवासी पुरुष और स्त्रियां इन सुदूर जंगलों में संकट में रहतीं, पर संकट में ही तो उनके जीवन का रस था। कोई-कोई तो उनमें ऐसे दुःसाहसी होते कि आर्यों की बस्ती से बहुत ही दूर एकदम अज्ञात स्थानों में जा बसते। हम देख चुके हैं कि परशुराम अपने अन्तिम जीवन में दक्खिनी महासागर के तट पर कहीं जा बसा था। इन आश्रमों पर जब कोई आपत्ति आती, आर्य राजा उनकी रक्षा के लिए फौरन तैयार हो जाते। बहुत बार तो नये देशों में आर्यों का परिचय और प्रवेश इसी प्रकार होता। आर्य ऋषि और मुनि अपनी दुःसाहसी प्रकृति के कारण प्रायः सुदूर जंगलों में जा बसते, उन पर आपत्ति आने की दशा में आर्य राजाओं को उनके देशों को हस्तगत करना पड़ता।"

क्या मैने इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह इससे बहुत भिन्न है? रहा यह कि रावण वेदज्ञ था, ब्राह्मण था आदि जिन बातों को उठाकर इस प्रसंग में धूम्रयवनिका सृष्टि करने की चेष्टा की गई है, वे व्यर्थ की वितंडा मात्र हैं। ऐसे तो फिर रामायण में दशग्रीव और दशानन, योजन भर का मुंह आदि बताया गया है, तो क्या इन सब उल्लेखों के कारण यह समझा जाय कि सचमुच दशग्रीव और दशानन होते थे? या

यह समझा जाय कि रामायण कोई परियों की कहानी है, जिसके पीछे कोई इतिहास नहीं है ? पुराणों की व्याख्या करके इतिहास निकालना टेढ़ी खीर है, जिसमें मैं कोई विशेषज्ञ होने का दावा नही करता, पर मैं इस सम्बन्ध में बहुयज्ञों के द्वारा परिचालित होने के लिये तैयार हूँ, अवश्य उसके बाद मैं उस पर ऐतिहासिक भौतिकवाद को लागू करने का प्रयास करता हूं।

यदि डा० शर्मा के अनुसार यह माना जाय कि रावण एक कुलोत्पन्न ब्राह्मण था, तब तो रामायण का रूप परस्पर लड़नेवाले आर्य राजाओं की कहानी मात्र हो जाता है, जिस व्याख्या को एक भी पुरातत्वज्ञ नहीं मानेगा। रामायण के सम्बन्ध में बाकी जो प्रश्न उठाये गये हैं जैसे राम के सहायक किष्किन्धावासियों को वानर और भालू क्यों दिखाया गया है, यह तो बहुत साफ है कि ये लोग राम के सहायक होने पर भी अनार्य थे, इस कारण उनकी सेवाओं के बावजूद उन्हें वानर दिखाया गया। यह बात मेरे बताये हुए सिद्धान्त को ही पुष्ट करती है कि आर्यगण एक सोपान तक अनार्यों से बहुत घृणा करते थे, जो शत्रु थे वे राक्षस हुए, यहां तक कि मित्र जातियां भी वानर हुईं। हनुमान् रामभक्त होने के नाते पूजित हुए, यह उसी प्रकार की घटना है जैसे भारतीय होकर भी लार्ड सिन्हा ब्रिटिश लार्ड हो गये थे, क्या इसमें कोई अजीब बात है ? ऐसे सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं। फिर भी मैं यह बता दूँ कि मैं जिस आसानी से चीजों को बता रहा हूँ, उसमें अतिसरलीकरण का दोष है। याने जो दिशा मैं बता रहा हूँ, वह ठीक होने पर भी इनमें से प्रत्येक बात के साथ-साथ सैकड़ों और बातें रही होंगी। उदाहरणस्वरूप आर्य शासक मंडली (बाद को देव मंडली) में स्थान देने के लिए वानरराज सुग्रीव को न चुनकर हनुमान् को क्यों पुरस्कृत किया गया ? इस सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है ? हनुमान् शायद ब्रह्मचारी होने के कारण राम के दरबार में स्थायी रूप से रह सकते थे, उनकी निष्ठा और रामभक्ति पर आर्य जनता मुग्ध हुई इत्यादि कितने ही कारण हो सकते हैं। बहरहाल जो भी कारण रहा हो, उसकी दिशा वही रही होगी जिसकी ओर मैंने इंगित किया।

मैं फिर इस बात को कहता हूँ कि सभ्यता और शालीनता की सबसे बड़ी बात अपने ऊपर विजय का प्रयास नहीं है। प्रकृति पर विजय का प्रयास और उसमें सफलता की प्राप्ति है। यह जो कहा गया है कि सुख केवल आध्यात्मिक उन्नति में है, इस सम्बन्ध में यह पूछा जा सकता है कि क्या आध्यात्मिक उन्नति छूई या नापी जा सकती है ? क्या जो जाति सैकड़ों वर्षों तक गुलाम रहीं, वह आध्यात्मिक रूप से उन्नत कही जा सकती हैं ? क्या इसके विपरीत ऐहिक पतन को छिपाने के लिए ही तथा उसके पूरक के रूप में, लोगों को शान्ति (अफीम) देने के लिए, ऐहिक दुःखों के बदले पारलौकिक सुख, कर्मभोग, कर्मक्षय का भरोसा दिलाने के लिए ही आध्यात्मिक दर्शनों का उदय नहीं है ? केवल प्राचीन भारत के इतिहास में जाते हुए क्या यह सच नहीं है कि वैदिक युग में धर्म और दर्शन अपेक्षाकृत सरल और स्वाभाविक, लेनदेन मूलक, मैं

तुझे सोमरस पिलाता हूँ, तुझे आहुति देता हूँ, तू मुझे गाय, बछड़े, शत्रुओं पर विजय दे इस प्रकार का था, बाद को वह जटिल और जटिलतर हुआ, परलोकतत्व बना, इत्यादि। अवश्य विद्रोह के रूप में कुछ दर्शनों का उद्भव हुआ, पर वे भी शीघ्र ही प्रतिक्रियावादी ढांचे के अन्तर्भुक्त हो गये। यहां इन बातों के ब्यौरे में जाना सम्भव नहीं।

प्रगतिवाद के इस साध्य पर बहुत रोष किया गया है, चूंकि प्रत्येक साहित्य में रचयिता की जान में या अनजान में किसी न किसी विचारधारा तथा वर्ग के साथ पक्षपात किया जाता है, इसलिए सज्ञान रूप से अच्छी बातों, उस समय के क्रान्तिकारी वर्गों या वर्ग के साथ, समाज के लिए लाभकारी मान्यताओं तथा मूल्यों के साथ पक्षपात करने के लिए प्रगतिवादी जो कुछ कहते हैं, उसमें बुराई क्या है? क्या मनुष्य जाति की बड़ाई इसी बात में नहीं है कि वह प्रकृति और अपनी इर्द-गिर्द की सारी बातों के नियमों को जानकर उनको अंपने अनुकूल ढंग से परिचालित करने का प्रयास करता है, और उसमें वह एक बड़ी हद तक सफल रहा है? केवल यही नहीं, मनुष्य अपने मन के नियमों को जानकर उनपर भी नियन्त्रण प्राप्त करने का प्रयास कर रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में वह मान्टीसरी आदि प्रशिक्षण तथा पेशा चयन के क्षेत्र में इन्टेलिजेन्स टेस्ट आदि कई तरीकों का प्रयोग भी इसी प्रयास का द्योतक है। फिर यह दुराग्रह क्यों है कि साहित्य इस प्रयास से बरी रहे? क्या जाति-निर्माण, राष्ट्र-निर्माण, सुन्दरतर विश्व-निर्माण, शान्ति-निर्माण, गुलामी भूख और गरीबी के नाश में हम साहित्य की सज्ञान सहायता मांगें, तो वह कोई गुनाह है? यदि ऐसा नहीं तो प्रगतिवाद के विरोधियों के टर्रटर्र का अर्थ क्या है?*

**इस लेख के छपते-छपते धनलक्ष्मी नामक उस दक्षिणी लड़की का भंडाफोड़ हुआ जो यह दावा करती थी कि वर्षों से उसने अन्न-पानी नहीं लिया है। इस लड़की को लेकर अध्यात्मवादियों ने बड़ा तूमार मचा रखा था, यहाँ तक कि भारत सरकार को इसमें पड़ना पड़ा और सत्य का पता लगाने के लिये १२००) रु० मंजूर किये गये। डाक्टरों ने उस लड़की की बाक़ायदा जाँच की तो पता लगा कि यह लड़की चोरी से खाना खाया करती थी। यह लड़की इतनी लचर निकली कि उससे दो दिन भी उपवास रखते नहीं बना। इस ढकोसले के भंडाफोड़ के लिये भारत सरकार धन्यवादार्ह है, नहीं तो शायद यह ढोंग जारी रहता और उस लड़की का भी एक पंथ चल निकलता।*

बंगला साहित्य का कल्लोलयुग

बंगला साहित्य के क्षेत्र में कुछ पत्रिकाओं ने साहित्य-निर्माण और युग को ढालने में इतना अधिक कार्य किया है कि थोड़े समय बाद लुप्त हो जाने पर भी बंगला साहित्य में उनका नाम अमर रहेगा। ऐसी पत्रिकाओं में बंकिमचन्द्र का 'बंगदर्शन', सुरेशचन्द्र समाजपति का 'साहित्य', रामानन्द चट्टोपाध्याय का 'प्रवासी', रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'विचित्रा' बहुत उल्लेखनीय हैं, पर इन सबसे कहीं महत्वपूर्ण श्री दिनेशरंजन-दास और गोकुल नाग द्वारा सम्पादित 'कल्लोल' है।

इस पत्रिका का जीवन-काल केवल सात वर्ष तक सीमित रहा, फिर भी इस को बंगला साहित्य में इस कारण महत्व प्राप्त हुआ कि रवीन्द्रोत्तर सारे बंगला साहित्य का यह केन्द्र बन गया।

यद्यपि कवीन्द्र रवीन्द्र ने बंगला साहित्य के भण्डार को दोनों हाथों से हीरों और मोतियों से भर दिया, और उसके किसी भी अंग को खाली नहीं रखा, फिर भी रवीन्द्र साहित्य को अगले युग का प्रतीक नहीं कहा जा सकता था। कम से कम कुछ शक्तिशाली और कर्मठ लोग ऐसा समझते थे। रवीन्द्रनाथ सारे बंगला साहित्य पर छा गये थे, इन लोगों के अनुसार बुरी तरह छा गये थे, इस कारण ये समझते थे कि इसे रवीन्द्र-प्रभाव से मुक्त कर आधुनिक जीवन के कलकलमय कल्लोल में लाने की आवश्यकता है।

यहाँ कहीं कुछ गलतफहमी न हो जाय, इसलिये यह बता दिया जाय कि कल्लोल से बहुत पहले ही शरत्चन्द्र का आविर्भाव हो चुका था। यद्यपि शरत् बाबू ने स्वयं ऐसा कभी नहीं कहा, पर इस बात को बंगला साहित्य के बाहर भी लोग जानते हैं कि शरत्चन्द्र हर तरीके से रवीन्द्रनाथ द्वारा प्रभावित होने पर भी उनका साहित्य रवीन्द्र-साहित्य के अन्तर्गत नहीं था, और यह कहा जा सकता है कि बंगला साहित्य को पहली बार कवीन्द्र रवीन्द्र से मुक्ति उन्हीं के हाथों से हुई। फिर

भी शरत्चन्द्र इस अर्थ में अति आधुनिक होते हुए भी, और उनका साहित्य आधुनिक जीवन की कुछ समस्याओं के समाधान की ओर साहसपूर्वक हाथ बढ़ाने पर भी आधुनिक जीवन की कई ऐसी समस्याएँ थीं, जिनको बहुत कम छू पाया।

इन्हीं बातों को लेकर कल्लोल की स्थापना हुई। बंगला के अन्यतम शक्तिशाली लेखक अचिन्त्यकुमार सेन गुप्त जो इस कल्लोल-परिवार के सदस्य हैं, इस सम्बन्ध में क्या लिखते हैं, यह सुनने लायक है। कल्लोल के साथ-साथ 'संहति' नाम से उन्हीं दिनों मज़दूरों की एक पत्रिका भी निकली थी। यह बंगला सन् १३३० की बात है।

अचिन्त्यकुमार लिखते हैं—"सोचने पर आश्चर्य मालूम होता है कि दोनों मासिक पत्र एक ही सन् में और एक ही महीने में पहले पहल प्रकाशित हुए। १३३० के वैशाख महीने में ये पत्र निकले। कल्लोल कोई सात वर्ष चला, पर संहति पत्र दो साल चलने के पहले बन्द हो गया। कल्लोल कहने पर ही समझ में आता है कि वह क्या है। उद्धत यौवन की झाग देती हुई उद्दामता, समस्त बाधाओं और बंधनों के विरुद्ध मुक्त विद्रोह, स्थविर समाज को उखाड़ फेंकने का आन्दोलन। पर संहति क्या है? संहति तो कठिनीकृत शक्ति है। संघ, समूह, गणशक्ति, यही संहति है। जिस गुण के लिये समधर्मी परमाणु एक होते हैं, वही संहति है। यह नाम आश्चर्यजनक था, और उसका तात्पर्य भी आश्चर्यजनक था। एक तरफ वेग बल था। एक तरफ तोड़ना था और दूसरी तरफ संगठन और एकीकरण था।

"आज बहुत से लोग शायद नहीं जानते कि यही संहति बंगाल में मज़दूरों का पहला मुखपत्र और उनकी पहली मासिक पत्रिका थी। वह दुबली पतली स्वल्पायु मासिक पत्रिका ही बंगाल में गण-जययात्रा का पहला मशालची थी। इसके बाद तो कई पत्रिकाएँ निकलीं, जैसे 'गणवाणी', 'गणशक्ति', 'लांगल' या 'हल'। संहति ही अग्रणी थी।"

रवीन्द्र और शरत्चन्द्र के बाद बंगाल के सभी ऊंचे दर्जे के साहित्यिक इसी कल्लोल से किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध थे। उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—ताराशंकर, प्रबोध सान्याल, बुद्धदेव वसु, अन्नदाशंकर, नज़रुल इस्लाम, जीवनानन्द दास, नृपेन्द्रकृष्ण चट्टोपाध्याय, पवित्र गंगोपाध्याय, जसीमुद्दीन, प्रेमेन्द्र मित्र, विश्वपति चौधुरी, विष्णु दे, गोकुल नाग, माणिक वन्द्योपाध्याय, यतीन्द्रसेन गुप्त, शिवराम चक्रवर्ती, यतीन्द्र बागची, राधारानी देवी, शैलजानन्द मुखोपाध्याय, सरोज राय चौधुरी, सुनिर्मल वसु, सुधीर चौधुरी, हुमायूँ कबीर इत्यादि।

इस प्रकार बंगला के सब आधुनिक लेखक कल्लोल के इर्द-गिर्द एकत्र हुए। यहाँ पर कल्लोल गुट के कुछ थोड़े से लेखकों का ही परिचय दिया जायगा।

इनमें से करीब-करीब सभी लेखकों के साथ हिन्दी-जगत् थोड़ा बहुत परिचित है। इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाली "माया" और "मनोहर कहानियां" नामक

कहानी पत्रिकाओं की बदौलत इनमें से जो लोग कहानीकार हैं, उनकी कहानियां हिन्दी-जगत् के सम्मुख समय-समय पर आती रही हैं। अवश्य इन पत्रिकाओं में छपने के कारण इन लेखकों को कोई विशेष ख्याति प्राप्त नहीं हुई। एक तो अक्सर अनुवाद बहुत बुरा हुआ, और दूसरा किसी कारण से हो साहित्य के क्षेत्र में 'माया' और 'मनोहर कहानियाँ' को कोई विशेष मर्यादा प्राप्त नहीं है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि इन पत्रिकाओं ने इस दिशा में बहुत अच्छी सेवा की है। अच्छा होता यदि कहानियों को परोसने में अनुवाद की उत्तमता की ओर ध्यान दिया जाता।

ताराशंकर के कई उपन्यास हिन्दी में प्रकाशित हो चुके हैं, और जल्दी ही शायद उनके बाकी उपन्यास भी हिन्दी में प्रकाशित हों। इस प्रकार ताराशंकर से तो हिन्दी जगत काफी अच्छी तरह परिचित है। आल इंडिया रेडियो से ताराशंकर का कम से कम एक नाटक हिन्दी में प्रसारित हो चुका है। दुःख है कि उसके बाद आल इंडिया रेडियो ने बंगला, मराठी, तेलगू, तामिल आदि भाषाओं के नाटकों को अपने हिन्दी नाट्य समारोह में प्रसारित करने के बजाय हिन्दी के कथित मौलिक नाटकों को प्रसारित किया, जो उच्च कोटि के नही थे। हिन्दी नाटकों को हिन्दी कार्य-क्रमों में अवश्य प्रसारित करना चाहिये, पर साल में कम से कम एक बार तो ऐसा होना चाहिये जब दूसरी भारतीय भाषाओं के नाटकों, उपन्यासों, कहानियों आदि से हिन्दी-जगत् को परिचित कराया जाय।

ताराशंकर हिन्दी में जितने अच्छी तरह परिचित हैं, उतना बंगला का कोई जीवित लेखक परिचित नही है। हां काजी नजरुल इस्लाम भी बंगला के बाहर कुछ परिचित हैं, पर कविता में उनकी सारी रचनाएँ होने के कारण उनकी कृतियों से हिन्दी-जगत् अधिक परिचित नही है। एक समय काजी नजरुल का स्थान बंगला कविता में रवीन्द्रनाथ के बाद ही समझा जाता था। दुःख है कि करीब दस साल से उनकी लेखनी मूक है। उनकी विचारधारा कुछ विशेष स्पष्ट नहीं है, पर उनकी रचनाओं में एक विद्रोह की भावना बराबर प्रतिध्वनित हुई है। कल्लोल सम्पादक श्री गोकुलचन्द्र नाग की असामयिक मृत्यु पर कवि नजरुल ने गोकुल नाग नाम से जो कविता लिखी थी, उसकी कुछ पंक्तियां नीचे उद्धृत की जाती हैं। इन पंक्तियों से यह भी ज्ञात हो जायगा कि कल्लोल गुट के लेखक किन विचारों से परिचालित थे।

सुन्दरेर तपस्याय ध्याने आत्महारा
दारिद्र्येर दर्पतेज निये एल जारा
जारा चिर सर्वहारा करि आत्मदान
जाहारा सृजन करे, करे ना निर्माण,
सेई वाणीपुत्रदेर आड़म्बरहीन
ए सहज आयोजन ए स्मरणदिन

स्वीकार कोरिओं कवि जैमोन स्वीकार
कोरेछिले ताँहादेर जीवने तोमार।

अर्थात् "सुन्दर की तपस्या में ध्यान में विभोर दरिद्रता के दर्प और तेज को लेकर जो लोग आये, जो लोग चिर सर्वहारा हैं, जो लोग आत्मदान करके सृजन करते हैं, निर्माण नहीं करते, हे कवि इस स्मृति-दिवस में उन शारदापुत्रों के आडम्बर-हीन सहज जीवन को स्वीकार कर लेना, जैसा कि तुमने जीवन में उन्हें ग्रहण किया था।"

इसी कविता में अन्यत्र वे लिखते हैं—"जो लोग ऊँची-ऊँची अटारियां बनवाते हैं, उन्हीं की इज्जत और सम्मान है, पर उनका यह निर्माण दो दिन का है, जल्दी ही टूट कर गिर पड़ता है, पर जो लोग विधाता की तरह कहीं चुपचाप सृजन करते रहते हे, जाति को बनाते हे, इन्सान को बनाते हैं, वे अपरिचित रह जाते हैं।"

हमने इन पंक्तियों को नज़रुल की कवित्वशक्ति दिखाने के लिये नहीं, बल्कि किन विचारों को लेकर कल्लोल गुट चला, उनके स्पष्टीकरण के लिये चुना। नज़रुल पर इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि वे बंगला कविता के क्षेत्र में उस समय भी ऊँचा स्थान प्राप्त कर चुके थे, जब रवीन्द्रनाथ जीवित थे।

अब हम श्री गोकुल नाग का परिचय थोड़े में देंगे। वे कल्लोल गुट के मध्य-मणि थे। उनका उपन्यास 'पथिक' बहुत प्रसिद्ध हुआ और उनकी अकाल मृत्यु के बावजूद इसी एक उपन्यास के कारण उनकी ख्याति बंगला साहित्य में अमर है। इस उपन्यास को पढ़कर बंगला के प्राचीन पंथी विद्वान् और आलोचक डा० दिनेश सेन इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने लिखा था—"इस प्रकार की कृतियों से प्राचीन समाज की नींव ढह जायेगी। बल्कि बंगाली दुनिया के पर्दे पर से मिट जायँ, यह अच्छा है, पर वे संस्कारों की चक्की में पिस कर निकम्मे होकर बने रहें, इसकी क्या जरूरत है? ऐसे जीने से मरना अच्छा है। जो वीर हमारे दरवाजे खोल कर घर में ताजी हवा पहुँचाने के लिए कमर कस चुके हैं, उनमें कल्लोल के लेखक सब से तरुण और शक्तिशाली हे। प्राचीन पोंगापंथी समाज के साथ समझौता करके चलने की दीनता से ये मुक्त हो चुके है। ये लोग घिसे पिटे रास्ते को रास्ता नही मानते। जो सुन्दर है, स्वाभाविक है, जो वास्तविक रूप से मनुष्यता है, आत्मा के उस स्वप्रकाशित सत्य को वे वेद और कुरान से बड़ा समझते हैं। इन बलदर्पित लेखकों के पदचाप से प्राचीन जराजीर्ण समाज की हड्डी पसली हिल उठी हैं। पर मैं इनकी रचनाओं को पढ़ कर बहुत खुश हुआ हूँ। हमें ऐसा मालूम होता है कि नाली छोड़ कर हम जाह्नवी की पवित्र धारा में आ गये, जैसे कागज़ के फूलों की दुनिया से नन्दन कानन में आ गये।"

डा० दिनेश सेन के मुँह से यह प्रशंसा बहुत अधिक महत्व रखती है।

श्री गोकुल नाग के अतिरिक्त जिन लेखकों ने कल्लोल को बनाया, उनमें

प्रबोध सान्याल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। पहले ही साल उनकी रचना कल्लोल में प्रकाशित हुई। इस समय उनके बहुत से उपन्यास हैं, जिनमें कई उच्चकोटि के हैं।

अचिन्त्यकुमार कवि और उपन्यासकार हैं। कल्लोल की प्रथम संख्या में ही इनकी एक कहानी 'माँ' नाम से प्रकाशित हुई थी। इनके भी बहुत से उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

श्री बुद्धदेव वसु बंगला के प्रमुख कथाकारों में हैं। पहले प्रगति नाम से वे एक हस्तलिखित पत्रिका निकालते थे। जब श्री गोकुलचन्द्र नाग मरे, उस समय ढाका से इन्होंने एक छोटी-सी कविता लिख भेजी थी, जिसमें इन्होंने श्री गोकुलचन्द्र नाग को यौवन-पथिक सम्बोधित करते हुए लिखा था--"तुम नव वसंत के सुरभित दक्षिण वायु हो, तुम क्षण भर के लिए वाणी के कानन को विकम्पित कर गये।" उन दिनों श्री बुद्धदेव को कोई नहीं जानता था। बाद को कल्लोल के वे प्रमुख लेखकों में हो गये। उपन्यासों में, कहानियों में, कविताओं में वे सर्वत्र चमके। उनकी रचनाओं की संख्या बहुत अधिक है। वे अंग्रेजी में भी लिखते हैं। उनके उपन्यासों और कहानियों में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त बंगाली समाज का चित्रण है।

अन्नदाशंकर भी कल्लोल के साथ सम्बद्ध थे। अचिन्त्यकुकार के अनुसार वे ऐसे लेखकों में हैं, जिनमें मन, प्राण और आत्मा का महामिलन हुआ है। उनके अनुसार, "आत्मा के साथ जब आत्मा की बातचीत होती है, तभी महान् कला का जन्म होता है। अन्नदाशंकर उसी महान् कला के अन्वेषक हैं। उनके साहित्य का आदर्श इतना ऊँचा है कि जो बात उनकी पहुँच के अन्दर आ जाती है, जिस पर वे दखल प्राप्त कर लेते हैं, उससे वे तृप्त नहीं होते। वे जीवन में स्वस्थ और शान्त भले ही हों, पर सृजन में वे अपरितृप्त हैं।" अन्नदाशंकर के बहुत से उपन्यास प्रकाशित हुए हैं, जो उच्चकोटि के हैं।

बंगला के अन्यतम शक्तिशाली लेखक श्री विभूतिभूषण मुखोपाध्याय भी कल्लोल के लेखकों में थे। विभूति बाबू जब तब लिखते थे ऐसी बात नहीं, वे नियमित रूप से कल्लोल में लिखा करते थे। उनके भी बहुत से उपन्यास हैं।

जसीमुद्दीन भी कल्लोल के लेखकों में थे। इन दिनों वे पूर्व पाकिस्तान में करीब-करीब राजकवि हैं, पर उन दिनों उनकी कैसी हालत थी, यह अचिन्त्यकुमार की जबानी सुनिये--"एकदम सीधे सादे, भोले भाले थे ये कवि जसीमुद्दीन। कंघी से बालों का कोई खास सम्बन्ध नहीं। शायद अभाव से कहीं बढ़कर उदासीनता थी। मानों उनके व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द सरल श्यामल गाँव का वातावरण था। उनकी कविताओं में भी गांव की ओर संकेत था। गांव के किसान, खेत और खलिहान, नदी नालों की तरफ उनकी दृष्टि थी। उनका झुकाव उनकी असाधारण साधारणता की ओर था। जो दुःख सर्वहारा का होकर भी सर्वमय था, वही उनका उपजीव्य था। उनमें किसी तरह की शिल्पीसुलभ कृत्रिमता नहीं थी, कोई प्रसाधन का ढकोसला

नहीं था। एकदम सीधे-सीधे हृदय स्पर्श करने की व्याकुलता थी। उनकी बातें किसी वाद के सांचे में ढली न होने के कारण भले ही कुछ लोगों को नापसन्द रही हों, पर वे बहुत सुन्दर थीं।"

जसीमुद्दीन को बंगाल के गांवों का प्रतीक कवि कहा जा सकता है, और इस दृष्टि से बंगला साहित्य में उनका स्थान अद्वितीय कहा जा सकता है। यों तो रवीन्द्रनाथ से लेकर सभी बंगला कवियों ने बंगाल के गांवों की प्रशस्ति गाई है, पर जिस चुभते हुए पैने ढंग से जसीमुद्दीन ने कविताएँ लिखी हैं वह बिल्कुल उन्हीं तक सीमित रहा।

हुमायूं कबीर भी कल्लोल में आते-जाते रहे। बंगला साहित्य में उनका स्थान केवल कल्लोल के कारण हो ऐसी बात नहीं। उन्होंने बंगला में बहुत ठोस कार्य किया है। यह दुःख है कि जब से वे केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-विभाग में आये हैं, तब से उनका साहित्यिक कार्य बहुत घट गया है।

जीवनानन्द दास भी कल्लोल के संस्पर्श में आये। इस समय वे बंगाल के प्रमुख कवियों में समझे जाते हैं। ये पहले बरीसाल में थे, बाद को कलकत्ते में आये। जीवनानन्द को कल्लोल वालों ने खींचा, पर ये उसमें अधिक खप नहीं पाये। वे सिटी कालेज में अध्यापक थे। अश्लीलता का दोष लगाकर उन्हें नौकरी से अलग कर दिया गया। अश्लीलता भी किस प्रकार की थी, यह भी देखने लायक है। उन्होंने किसी कविता में शायद ऐसा लिखा था कि खड़ी फसल के अग्रभाग को देखकर उन्हें स्तन का श्याममुख स्मरण हो आता है। कहना न होगा कि इतनी छोटी-सी बात पर जब जीवनानन्द को निकाल दिया गया तो कालेज के अधिकारियों के हाथों में शेक्सपियर और कालिदास की कैसी दशा होती होगी?

नृपेन्द्रकृष्ण चट्टोपाध्याय रूसी और संस्कृत साहित्य के विद्वान् हैं। वे भी कल्लोल के प्रभाव में आये। इसी प्रकार प्रेमेन्द्र मित्र कवि और साहित्यिक के नाते कल्लोल से संयुक्त हुए। वे उस युग के बहुत ही शक्तिशाली कवि और लेखक थे। पवित्र गंगोपाध्याय तो कल्लोल के सहकारी सम्पादक थे। वे भी अच्छे लेखकों में गिने जाते हैं। अमिय चक्रवर्ती ने कभी कल्लोल में नहीं लिखा, पर वे भी उसके प्रशंसकों में थे, और जब तब कल्लोलवालों के साथ परामर्श करते थे। इसी प्रकार रवीन्द्रनाथ और शरत्चन्द्र भी कल्लोल के विशेष आदर करने वालों में थे।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कल्लोल ने बंगला साहित्य को एक नई करवट लेने में समर्थ किया। कल्लोल ने न केवल अन्तर्गत वस्तु बल्कि भाषा में भी नये प्रयोग किये। कल्लोल के परिचालकों में व्यापारिक बुद्धि कम थी, इसलिये वह नहीं चला या इसका कारण यह हुआ कि कल्लोल के बनाने वाले अब अपना-अपना रास्ता ढूंढ़ने लगे। कल्लोल गुट एक रेल के सफर का गुट था, पर यह सफर बंगला साहित्य में बड़ा महत्वपूर्ण रहा।

ग्रीक संस्कृति की भूमिका

आज हम जिसे यूरोपीय सभ्यता और संस्कृति के नाम से जानते हैं, उसमें ग्रीस का सबसे अधिक दान है। यों तो यह कहा जाता है कि यूरोप ने रोमनो से कानून की एक महान् पद्धति तथा उसके साथ ही साथ राज्य-संचालन का कौशल प्राप्त किया, जूडिया से धर्म पाया, और ग्रीस से दर्शन, विज्ञान और साहित्य पाया, पर इतने से सत्य प्रकट नहीं होता। विभिन्न क्षेत्रों के बड़े से बड़े साहित्यकारों ने ग्रीस की बात छिड़ते ही जिस उच्छ्वसित ढंग से उसकी प्रशंसा की है, वह बहुत ही विशिष्ट है।

हम सभी लोग जानते हैं कि किस प्रकार महाकवि गेटे ने कालिदास के शकुन्तला नाटक की प्रशंसा की है, पर ग्रीस के कवियों के सम्बन्ध में उनके ये मन्तव्य विशेष ध्यान देने योग्य हैं। उनका कहना है :—

"ईशीलस और सोफोक्लिस की तरह प्राचीन ग्रीक कवियों के सामने मैं तो बिलकुल कुछ नहीं हूँ।"

कवि वर्ड्सवर्थ ने इसी प्रकार कहा है :—

"भला डिमोस्थिनिस से बढ़कर वक्ता और शेक्सपियर के बाद ईशीलस सोफोक्लिस (यूरिपिडिस का तो कुछ कहना ही नहीं) के मुकाबले में काव्यमय नाटक कहाँ मिल सकते हैं।"

हेरोडोटस के सम्बन्ध में वर्ड्सवर्थ का यह कहना था कि बाइबिल के बाद उससे बढ़कर दिलचस्प और शिक्षाप्रद कोई पुस्तक नहीं है। कविवर शैली की प्रशंसा इनके मुकाबले में कम उच्छ्वसित थी, पर उनका भी यह कहना था कि—**"ग्रीकों की कविता दूसरे साहित्यों के मुकाबले में काफी ऊँचा मानदण्ड रखती है, यद्यपि वह इतना ऊँचा नहीं है कि वह बहुत ऊँचा जँचे, और दूसरे बहुत नीचे।"**

उनका कहना था—**"पेरिक्लिस के जन्म और अरस्तू की मृत्यु के बीच का युग निश्चित रूप से विश्व इतिहास का सबसे स्मरणीय युग है। चाहे इस पर अलग से**

विचार किया जाय या बाद के सभ्य मानव पर उसका जो असर रहा उस दृष्टि से उस पर विचार किया जाय। × × × × इन सूक्ष्म और गम्भीर मनों के जो इतस्ततः विक्षिप्त टुकड़े हमें प्राप्त हुए हैं, वे एक सुन्दर मूर्ति के भग्नांशों की तरह हमारे सामने अस्पष्ट रूप से उस समग्र की महत्ता तथा पूर्णता का चित्र पेश करते हैं, जो अब नहीं रहा। विविधता, सरलता, नमनीयता, प्रचुरता जिस दृष्टि से भी देखा जाय, पाश्चात्य जगत् में ग्रीक से बढ़कर कोई भाषा न रही।"

इसी प्रकार सैकड़ों उद्धरण दिये जा सकते हैं। आनातोल फ्रान्स का यह वक्तव्य सुनिये—**"मैं अब जानता हूँ कि मैं ग्रीकों का कितना ऋणी हूँ, क्योंकि मेरा सब कुछ उन्हीं का है। हम जानते हैं कि जगत् और मनुष्य पर जो कुछ भी बुद्धिसंगत है, वह सब उन्हीं से आया हुआ है।"**

मिल का तो यह कहना था कि ईसाइयत के अतिरिक्त बाकी सभी ऐसी चीजों की उत्पत्ति जिन पर आधुनिक जगत् नाज़ करता है, ग्रीस से हुई।

और उद्धरणों की आवश्यकता नहीं है। जब हम सारे विश्व इतिहास पर एक साथ दृष्टि डालते हैं, तो हमें यह बहुत कुछ आकस्मिक ज्ञात होता है। आकस्मिक इस अर्थ में नहीं कि कार्य कारण की कड़ियां दृष्टिगोचर नहीं होतीं, बल्कि आकस्मिक इस अर्थ में कि ग्रीस यूरोप में था। यदि ग्रीस को यह सुविधा न होती, तो भारत एक ऐसा देश है, जहां वे सब उपादान उसी मात्रा में मौजूद हैं, जिस मात्रा में वे प्राचीन ग्रीस में थे। मुझे तो निष्पक्ष रूप से सोचने पर भारत का पलड़ा कुछ भारी ही दिखाई देता है। क्यों और कैसे यह इस लेख के दौरान में स्पष्ट हो जायगा।

हम ग्रीस के साहित्य पर बाद को आयेंगे, पहले उनके दर्शन-शास्त्र पर एक विहंगम दृष्टि डाल लें। *थेलस* या *थेलिस* को ग्रीक दर्शन का पिता बताया गया है। उनका जन्म ई० पू० ६३६ में एशियाई कोचक के मिलिटस नामक स्थान में हुआ था। उनका कहना था कि जल ही मौलिक उपादान है, और उसी से जगत् की उत्पत्ति हुई है। उन्होंने अपने चारों तरफ देखा और यह उपसंहार निकाला कि आर्द्रता एक ऐसा उपादान है, जो सब में परिव्याप्त है। इस प्रकार से वे भौतिकवादी थे, क्योंकि वे जल से ही जगत् की उत्पत्ति मानते थे। मजे की बात यह है कि वे देवताओं को भी मानते थे, पर ऐसा बताते थे कि उनकी उत्पत्ति भी जल से ही हुई है।

ऐनैक्सिमिनिस नामक दार्शनिक भी मिलिटस में पैदा हुए थे। उनका जन्म ई० पू० ५२९ या ई० पू० ५४८ में हुआ। ये सब चीजों की उत्पत्ति वायु से मानते थे। उन्होंने यह अनुभव किया कि उनके अन्दर जो वायु है, वही उन्हें चला रही है, और यही जीवन है। उन्होंने इस प्रकार तर्क किया कि भीतर की वायु बाहर की वायु का ही अंग है, इसलिए सब चीजों की उत्पत्ति वायु से हुई। इस प्रकार ऐनैक्सिमिनिस भी भौतिकवादी रहे।

पर उनके अनुयायी ऐपोलोनिया के *डायोजिनिस* ने मोड़ फेर दी, और उन्होंने

भाववाद का प्रारम्भ किया। डायोजिनिस ने ऐनैक्सिमिनिस के अनुसार वायु को ही प्रथम माना। पर उन्होंने वायु को एक विस्तृततर और गम्भीरतर अर्थ दिया, जिससे वह करीब-करीब आत्मा हो गई। उन्होंने इसे शक्ति और बुद्धि समन्वित करके कल्पना की। पर उन्होंने साथ ही यह भी कह दिया कि यह विश्व एक सप्राण अस्तित्व है, जो स्वतःस्फूर्त रूप से अपना विकास कर रहा है, और इसमें जो कुछ परिवर्तन हो रहा है वह उसकी जीवनी शक्ति के कारण हो रहा है।[1] उनका कहना यह था कि सारी सृष्टि और पादार्थिक क्रिया श्वास प्रश्वासमूलक है। उन्होंने आर्द्रता के प्रति सूर्य का आकर्षण, लोहे के प्रति चुम्बक के आकर्षण में भी श्वास-प्रश्वास ही की क्रिया देखी। पशुओं से मनुष्य की श्रेष्ठता की व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की कि मनुष्य सिर ऊँचा करके श्वास लेता है, इसलिए वह पवित्रतर वायु ग्रहण करता है।

ऐनाक्सिमिन्डेर (जन्म ई० पू० ६१०) एक गणितज्ञ थे। उन्होंने थेलिस के जल वाले सिद्धान्त पर आपत्ति की, और यह कहा कि जल तो एक वस्तु मात्र है, और एक वस्तु सब वस्तु नहीं हो सकती। इसीलिए उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि संसार की उत्पत्ति जल से नहीं, बल्कि सीमाहीन अखिल से हुई। यद्यपि सीमाहीन अखिल सम्बन्धी उनकी धारणा बहुत कुछ सूक्ष्म है, फिर भी वह एक बड़ी हद तक पादार्थिक है। सीमाहीन अखिल से उनका मतलब किसी निराकार धारणा से नही, बल्कि सब वस्तुओं से थी। उन्होंने उसे एक विचार या प्रतीक तक पहुँचा नही दिया था। जैसा कि ल्यूस ने लिखा है--"उनकी सर्ववस्तु की धारणा असीम अस्तित्व की है न कि असीम मन की।" दूसरे शब्दों में हम ऐनाक्सिमिन्डेर को भाववादी नही कह सकते।

पाईथागोरस को इसके बाद गिना जाता है, यद्यपि उनका काल ठीक-ठीक ज्ञात नही। विभिन्न हिसाबों के अनुसार उनकी काल-गणना में ८४ साल का फर्क पड़ता है। उनके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि फिलासफी या दर्शन शब्द का प्रयोग पहले-पहल उन्होंने ही किया। यहां भारतीय पाठक के लिए एक दिलचस्पी की बात यह है कि उनके सम्बन्ध में यह अनुश्रुति है कि उनके बड़प्पन का कारण प्राच्य शिक्षा थी। अब प्राच्य शब्द से क्या मतलब है, इसका स्पष्टीकरण नही किया गया है। वे फिलासफी शब्द से क्या अर्थ लेते थे, यह भी स्पष्ट कर दिया जाय। उन्होंने लियोन्टियस से कहा था—'**मुझ मे कोई कला नहीं है, मैं तो फिलासफर (दार्शनिक) हूँ।**'

इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कहा था—दार्शनिक वही है जो लोभ और अहंकार त्याग कर प्रकृति का अध्ययन करता है। यह तो स्पष्ट है कि दर्शन से उनका मतलब मेटाफिजिक्स या ऐसी बातों पर दन्तकटाकटी करना नही था, जो अप्रमेय हों। उन्होंने एक गुप्त समिति भी बनाई थी, जिसमें बड़ी गम्भीर परीक्षाओं के बाद ही किसी को लिया जाता था। पांच साल तक तो अभ्यर्थी को मौन धारण करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से कृच्छ्र साधन कराये जाते थे। इन परीक्षाओं के

---

१. दर्शन का जीवनीमय इतिहास—जी० एच० ल्यूस पृ० ९

बाद प्रार्थी को गणित से आरम्भ करना पड़ता था, क्योंकि गणित के सम्बन्ध में यह समझा जाता था कि यह शरीरी और अशरीरी वस्तुओं के बीच एक माध्यम के रूप में काम करते हुए इन्टेलिजिविल याने बौद्धिक वस्तुओं में ही जा सकता है।

पाईथागोरस की शिक्षा यह थी कि संख्या ही वस्तुओं का मूलतत्व है। उनका कहना था कि प्रत्येक वस्तु बराबर स्थिति और गुण बदल रही है, इस कारण परिवर्तनीय है, पर अस्तित्व का मूलतत्व परिवर्तनीय नही हो सकता। पाईथागोरस का कहना यह था कि इस परिवर्तनशीलता और विविधता की तह में कोई न कोई अपरिवर्तनीय अस्तित्व होगा, इसी का नाम उन्होंने संख्या रखा। उन्होंने यह कहा कि प्रत्येक वस्तु की स्थिति, गुण आदि में परिवर्तन हो सकता है, पर वह किसी भी रूप में किसी भी अवस्था में हो, वह संख्या से अलग नहीं हो सकती। उनका कहना था कि यह हमेशा "एक" वस्तु रहेगी, किसी भी रूप में इस एकत्व में परिवर्तन नहीं हो सकता। यह न तो एक से बढ़ सकता है, न अनेक हो सकता है। यदि उसे तोड़ा भी जाय, तो वह एक ही रहेगा।

कहना न होगा कि यह विचार-पद्धति बहुत कुछ अद्भुत है, क्योंकि किसी भी तरह एक शब्द को ला देने में ही इसे सार्थकता प्राप्त होती है। जो कुछ भी हो इसी प्रकार तर्क करते हुए उन्होंने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि अनन्त की संज्ञा एक ही है। उन्होंने कहा कि एक निरवच्छिन्न संज्ञा है, किसी और भी वस्तु से, यहां तक कि किसी और संख्या से इसे सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है। दो का अर्थ एक और एक है। इसी प्रकार सारी संख्याएं है। इन बातों से यह प्रमाणित करने की चेष्टा की गई है कि पाईथागोरस एकेश्वरवादी थे, पर इस प्रकार की धारणा का कोई अर्थ नही मालूम होता, क्योंकि वहां तो केवल एक है, ईश्वर का कही पता नही, और वह एक जिस प्रकार है उसका कुछ दिग्दर्शन कराया गया।

जेनोफेनिस (जन्म लगभग ई० पू० ६२०) ने एकेश्वरवाद की बातें कहीं, पर उनके एकेश्वरवाद में विश्व संसार और ईश्वर की एकता अन्तर्निहित थी। वे विश्व संसार और ईश्वर को पृथक् करके देखने में असमर्थ थे।

हेराक्लिटस (जन्म ई० पू० ५०३) अग्नि से विश्व संसार की उत्पत्ति मानते थे। उनका कहना था कि इस संसार की रचना न ईश्वर ने की है न मनुष्य ने, यह था, है और हमेशा एक चिरंजीवी अग्नि के रूप में रहेगा। जो उचित प्रमाण में आत्म-निर्वापित है। उन्होंने इसी के साथ परिवर्तन के सिद्धान्त को भी संयुक्त कर दिया क्योंकि आग तो हमेशा जलती, लपटें देती, राख बनाती रहती है।

ऐम्पेडोक्लिस (जन्म लगभग ई० पू० ४४४) ने यह कहा कि चार मूल तत्व है—क्षिति, अप्, तेज और मरुत्। उनको बुद्धि और प्रयोग में सन्देह था।

डिमोक्रिटस (जन्म ई० पू० ४६०) बहुत धनी परिवार के थे। कहा जाता है कि उन्हें मिश्र में भ्रमण करने का मौका मिला, और उससे उन्हें बहुत ज्ञान प्राप्त हुआ

उन्होंने एक तत्व या चार तत्व के सिद्धान्त का त्याग कर दिया और कहा कि परमाणु से ही जगत् की उत्पत्ति हुई है। स्मरण रहे कि उनका परमाणु सिद्धान्त आधुनिक परमाणु-सिद्धान्त से पृथक् था।

प्रोटागोरस डिमोक्रिटस के ही समसामयिक थे। उन्होंने यह सिद्धान्त रखा कि मनुष्य ही सब वस्तुओं का पैमाना है। उन्होने यह कहा कि भूत बदलते रहते हैं, उम्र तथा अवस्था के अनुसार अनुभूतियां भी बदलती रहती है। स्वस्थ और अस्वस्थ व्यक्तियों की अनुभूतियों में भी फर्क होता है। इसलिए मनुष्य ही मानदण्ड है। जो कुछ मनुष्य अनुभव करता है, वह है, बाकी का अस्तित्व नही है।

अब हम *सुकरात* पर आते है। वे (जन्म ई० पू० ४६९) सारी दुनिया के दार्शनिकों में एक विशेष स्थान रखते है। सुकरात को केवल नीतिवादी ही समझा गया है, पर उन्होंने अस्तित्व के मूलतत्व पर भी विचार किया था। वे आत्मज्ञान के प्रतिपादक थे, और डेलफस में जो अभिलेख है 'आत्मानं विद्धि' वे उसी के प्रतिपादक थे। वे सदाचार और ज्ञान को एक ही समझते थे। उनका कहना था केवल ज्ञानी व्यक्ति ही साहसी, न्यायी और संयमी हो सकता है।

अफलातून (जन्म ई० पू० ४३०) के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वे ऐपोलो देवता के औरस से एक कुमारी के गर्भ द्वारा उत्पन्न हुए। अफलातून भी मिश्र घूम आये थे। उन्होंने अनेक पदार्थों में एक ही खोज की, और उसकी खोज कर अनेक विचारों में एक विचार की खोज की, और उसे प्राप्त कर उन्होंने उसका नाम ईश्वर दिया। उन्होंने ईश्वर को परिवर्तनहीन, अजर, अमर आदि करार दिया। उन्होंने यह भी कहा कि मर मनुष्यों के लिए ईश्वर का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं है। उन्होंने कहा कि यद्यपि ईश्वर में कोई बुराई नही है, फिर भी वे बुराई के अस्तित्व को रोक नहीं पाये।

अरस्तू (जन्म ई० पू० ३८४) १७ साल तक अफलातून के प्रवचन सुनते रहे। इसके बाद वे स्वयं आचार्य बन गये। राजा फिलिप ने अपने पुत्र के लिए अरस्तू को शिक्षक नियुक्त किया। इस प्रकार उन्हें राजा से हर प्रकार की सहायता मिलती रही। अरस्तू ने एथेन्स नगरी में एक महाविद्यालय खोला, जो उस युग में सबसे प्रसिद्ध हो गया। वे अपने शिष्यों के सामने टहल-टहल कर प्रवचन करते थे, इस कारण वे तथा उनके शिष्य टहलने वाले दार्शनिक कहलाये। उन्होंने अपने गुरु अफलातून के विचार के विरोध में अपने मतवाद को स्थापित किया। उनका कहना था कि विचार करने वाले के मन में मानसिक रूप से अस्तित्व रखता है, पर उसका कोई दृश्यगत अस्तित्व नही है। उन्होंने इस प्रकार तर्क किया कि यदि विचारों को अस्तित्व या माडल माना जाय, तो एक ही वस्तु के लिय कई माडल होंगे। जैसे सुकरात की कल्पना मनुष्य रूप में, प्राणी रूप में, द्विपद के रूप में, दार्शनिक के रूप में, सैनिक नेता के रूप में तथा राजनीतिज्ञ के रूप में की जा सकती है, पर व्यक्ति तो एक ही है। इसलिए उन्होंने कहा कि विचार वस्तु का प्रतिफलन मात्र है। इस प्रकार उन्होंने विचारों का अस्तित्व न करते हुए भी उन्हें वस्तु

मानने से इन्कार किया ।

अरस्तू ने दर्शन के अतिरिक्त बहुत से विषयों पर ग्रन्थ लिखे । कुछ विद्वानों का यहां तक कहना है कि अरस्तू ने ज्ञान की जितनी शाखाओं पर रचनाएँ प्रस्तुत कीं, न तो उनके पहले किसी ने इतनी शाखाओं पर लिखा और न उनके बाद । उनका प्रभाव ग्रीस या यूरोप तक सीमित न रह कर सारे अरब जगत् तक मध्य युग में फैल गया था,जहां अफलातून का मन एक भावुक और आदर्शवादी का मन था और वे तथ्यों की बेड़ियों को तोड़ कर अपने आदर्श जगत् में पहुँच जाते थे, वहां अरस्तू का मन वैज्ञानिक था, और वे परिस्थितियों से छलांग मार कर आदर्श पर पहुंचने की कोशिश नही करते थे । राजनीति के विषय में उन्होंने जो प्रवचन दिये, उनमें आदर्शों की छौंक उतनी अधिक नही थी जितनी कि उस युग की ग्रीक सभ्यता को देखते हुए उसमें व्यवहारिकता का बोलबाला था ।

आर. डब्ल्यू. लिविंगस्टोन ने लिखा है—**'यदि अफलातून की ''रिपब्लिक' नामक पुस्तक के साथ अरस्तू की 'राजनीति' नामक पुस्तक की तुलना की जाय, तो दोनों व्यक्तियों में प्रभेद स्पष्ट हो जायगा । अरस्तू में एक व्यवहारिक व्यक्ति तथा वैज्ञानिक निरीक्षक के गुण और अवगुण थे, उनकी दृष्टि पैनी और स्पष्ट थी, पर अफलातून के मुकाबले में उसका दायरा संकुचित है । अफलातून के पास राजनीतिज्ञ अनुप्रेरणा के लिए और अरस्तू के पास व्यवहारिक परामर्श के लिए जा सकता है ।"** [1]

राजनीति में वे गतानुगतिक में कुछ परिवर्तन तथा पद्धति लाकर ही खुश थे । यह एक मजे की बात है, पर किसी भी प्रकार आश्चर्य की बात नही कि अरस्तू ने दास-प्रथा का समर्थन किया । यदि हम उस समय के ग्रीक समाज पर दृष्टिपात करें, तो यह बिल्कुल स्वाभाविक मालूम होगा । आदिम समाज के बाद ही ग्रीस में उस युग का प्रवर्तन होता है, जिसे दासता का युग माना गया है । भारतीय इतिहास में ऐसा कोई सोपान नहीं हुआ, जब समाज का सारा उत्पादन कार्य दासों के ही ज़रिये से कराया जाता हो, यद्यपि यहां दासप्रथा मौजूद थी, और केवल अनार्य ही नहीं, बल्कि किसी-किसी परिस्थिति में आर्य भी दास बनाये जा सकते थे । ग्रीस में दास सम्बन्धी परिस्थिति कैसी थी, यह इतने से ही समझ में आ जायगी कि जिस समय एथेन्स अपनी समृद्धि के शिखर पर था, उस समय वहां आजाद लोगों की संख्या (इसमें बच्चे, बूढ़े, स्त्रियां सभी शामिल हैं) करीब ९० हजार थी, पर दास-दासियों की संख्या ३ लाख ६५ हजार थी, इनके अलावा ४५ हजार ऐसे लोग थे, जो या तो विदेशी थे, या ऐसे थे जो स्वतंत्रीकृत गुलाम थे ।

ऐसे समाज में रह कर अरस्तू के लिए यह स्वाभाविक था कि वे इसी पद्धति को एक आदर्श समझते । यहीं पर वह बात आ जाती है कि बड़े से बड़ा विचारशील व्यक्ति भी अपने स्थान, काल तथा वर्ग से बंध जाता है । अरस्तू ने एक समृद्धिशाली राज्य में दास-दासियों की आवश्यकता पर जो कुछ सोचा, वह दास-दासियों की दृष्टि से नहीं, बल्कि उनके मालिकों की दृष्टि से सोचा ।

---

१ दि पेजेन्ट आफ ग्रीस पृ० ३२०

फिर भी यह बात भुलाई नहीं जा सकती कि अरस्तू ने नृतत्व, कृषि, धातुविज्ञान, ज्योतिष, पदार्थ-विज्ञान, यंत्रशास्त्र, गणित, शरीर-विज्ञान, प्राणविज्ञान, मनोविज्ञान आदि सभी विषयों पर लिखा। उन्होंने जो कुछ लिखा, वह सैंकड़ों वर्ष तक सारे पाश्चात्य संसार के लिए प्रमाण के रूप में रहा। विज्ञान के क्षेत्र में वे सचमुच अग्रणी थे।

अब हम *एपिक्यूरस* (जन्म ई० पू० ३४२ और मृत्यु ई० पू० २७२) का थोड़ा सा वृत्तांत देकर प्राचीन ग्रीक दर्शन का यह परिचय समाप्त करेंगे। एपिक्यूरस को बहुत बुरा भला कहा गया है। **"उनके सम्बन्ध में ऐसा कहा गया है मानों वे येन-केन प्रकारेण शारीरिक सुख-भोग की प्राप्ति को अपना चरम लक्ष्य मानते थे। उनका कहना यह था कि दर्शनशास्त्र का उद्देश्य या स्वरूप सत्य की कला नहीं, बल्कि जीवन की कला है। उनका कहना था कि सब अन्वेषणों का लक्ष्य 'सुख' है। पशु भी सुख चाहते हैं और दुःख से बचने की कोशिश करते हैं। पर पशु ऐसा सहजात बुद्धि से करते हैं। मनुष्य को चाहिये कि वह पशु की तरह सहजात बुद्धि से ऐसा न कर इच्छापूर्वक करे। दार्शनिक और साधारण व्यक्ति में फर्क इतना है कि यद्यपि दोनों सुख चाहते हैं, पर दार्शनिक को यह मालूम है कि कौन-सा सुख बाद को चल कर कष्ट और परेशानी का कारण होगा, इसलिए वह ऐसे सुख से बचता है। इसके विपरीत साधारण मनुष्य सुखमात्र का पीछा करता है। इस कारण सच्चा सुख केवल सामयिक नहीं है, बल्कि वह सारे जीवन का उपभोग है। कोई भी जीवन बिना सदाचार (वर्चू) के सुखकर नहीं हो सकता और शारीरिक सुख आत्मिक सुख के मुकाबिले में नगण्य है, यद्यपि शारीरिक सुख भी त्याज्य नहीं है। इसलिए नियमित आहार-विहार वाला नियम एक स्वर्णिम नियम है।"**[1]

ऊपर जिन दार्शनिकों के नाम गिनाये गये हैं उनके अतिरिक्त स्टोइक नाम से कुछ दार्शनिक हुए, जो बहुत प्रसिद्ध हुए। यह नाम स्टोआ या मेहराब से पड़ा। बात यह है कि स्टोइकों के गुरु *जेनो* एक मेहराब के नीचे खड़े होकर प्रवचन किया करते थे। ये लोग एक तरह के यति थे, और शारीरिक सुख से बचते थे। कहा जाता है कि जिस समय जेनो की उम्र ९८ साल की थी, उस समय एक बार वे प्रवचन देकर लौट रहे थे, तो वे गिर पड़े और उनकी एक उंगली टूट गई। वे अपनी कमजोरी से इतने प्रभावित हुए कि जमीन को मारते हुए उन्होंने कहा—**"हे माता पृथ्वी, तुम मुझे इस प्रकार याद क्यों दिला रही हो ? अच्छी बात ह, मैं तुम्हारी पुकार मानता हूँ।"** कह कर वे अपने स्थान में गये और फांसी लगा कर जान दे दी।

चलते हुए एक दार्शनिक *प्लोटिनस* का भी जिक्र कर दिया जाय, जो इस बात पर लज्जित थे कि उन्हें एक शरीर प्राप्त हुआ है। यदि सारे प्राचीन ग्रीक दर्शन पर एक विहंगम दृष्टि डाली जाय, तो ऐसा ज्ञात होगा कि बहुत तरह की अटकलें लड़ाई गई, पर हासिल कुछ भी नहीं हुआ। ग्रीस में सुकरात को जहर का प्याला पीना पड़ा, अरस्तू को एथेन्स

---

१ दर्शन का जीवनीमय इतिहास पृ० २३३

छोड़कर भागना पड़ा और उन दिनों जिस मैसिडोनिया को एक असभ्य इलाका समझा जाता था, उसमें आश्रय लेना पड़ा। प्रोटागोरस को भागना पड़ा और देवताओं के विरुद्ध उनकी पुस्तकें जलाई गई। ऐनक्सगोरस को गिरफ्तार किया गया, पर वे किसी तरह भाग निकले। डायोजिनिस पर देवताओं के विरोधी होने का अभियोग लगाया गया और यही दशा थेलिस, डिमोक्रिटस आदि दार्शनिकों की हुई।[1]

फिर भी सारे पाश्चात्य जगत में ग्रीस ही ऐसा देश था, जहां प्रचलित देवी-देवताओं के विरुद्ध पड़ने पर भी खोज की क्रिया जारी रही। यह भी द्रष्टव्य है कि इन अटकलों में भी स्वतन्त्र विचार जारी रहा।

इस सम्बन्ध में यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि शताब्दियों में ग्रीस में इस प्रकार दर्शन और विज्ञान की खोजें जारी थीं, उन्हीं शताब्दियों के लगभग भारत में कपिल, कणाद, बुद्ध, महावीर, और चीन में कनफ्यूसियस और टाव आदि का उदय हो रहा था। ग्रीस ने इन शताब्दियों में जो कुछ प्राप्त किया उसका महत्व ऐतिहासिक रूप से यों अधिक हो गया कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान अपनी वंशावली ग्रीस के साथ जोड़ता है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है, इस दृष्टि से ग्रीस के प्राचीन दर्शन (इसी में विज्ञान भी आ जाता है, क्योंकि बाद को जैसे दर्शन मेटाफिजिक्स बन कर विज्ञान से अलग हो गया वैसा अभी तक नही हुआ था) को एक अद्वितीय महत्व हमेशा प्राप्त रहेगा, पर अब जब कि यह मालूम हो चुका है कि केवल ग्रीस में ही नहीं अन्यत्र भी चार्वाक, वृहस्पति, कणाद, कपिल, बुद्ध, महावीर आदि उत्पन्न हुए, तब ज्ञान-विज्ञान के लिए इनकी अवज्ञा करना असम्भव होगा। अफलातून, अरस्तू, डायोजिनिस आदि प्राचीन ग्रीक दर्शनिक एक-एक विद्यालय ही चला कर रह गये, पर भारत में तो बुद्ध तथा महावीर एक एक धर्म चला गये, जिनमें बौद्ध धर्म तो एक विश्वधर्म बना हुआ है।

हम पहले यह कह चुके है कि प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों की ऊहापोह से कुछ हासिल नहीं हुआ, उसका तात्कालिक परिणाम देख कर तो ऐसा ही मालूम होता है, पर जैसा कि ल्यूस ने लिखा है—'इन महान् विचारकों की असफलताएं व्यर्थ नहीं गईं। इन लोगों ने जिन महान् समस्याओं को उठाया, उन्हें उन्होंने वही पर छोड़ दिया, पर उन लोगों ने मनुष्य जाति को इस दौरान में आगे बढ़ाया।' आगे चल कर वे फिर कहते हैं कि 'ग्रीक दर्शन असफल रहा, पर गवेषणाओं के परिणाम बहुत विराट हुए। पद्धतियां काम में लाई गईं, और उन्हें त्याग दिया गया, पर इस बीच में वास्तविक पद्धति के लिए बड़ी तैयारियां हो चुकी थीं।'

यद्यपि हमें यहां प्राचीन ग्रीक जीवन से ही मतलब है, फिर भी यहां हम इस बात की ओर दृष्टि आकर्षित करना आवश्यक समझते हैं कि ग्रीक दार्शनिकों की यह जो महत्ता थी कि उन्होंने ग्रीक ज्ञान-विज्ञान को प्रचलित देवी-देवताओं के खटराग से मुक्त किया, बाद को चल कर ईसाईयत के प्रभाव में यही बात नष्ट हो गई, और दर्शन-

१ मेटीरियलिज्म पृ० ४२

शास्त्र स्कालेस्टिसिज्म के नाम से उसी दलदल याने धर्म में फंस गया। पर यह हमारे वर्तमान आलोच्य विषय के बाहर है।

ग्रीस के प्राचीन साहित्य पर कुछ कहने के पहले संक्षेप में यह भी बता देना आवश्यक है कि भारत के प्राचीन दर्शन में चीजें ग्रीक दर्शन से कुछ भिन्न प्रकार से हुईं। ग्रीस में दर्शन-शास्त्र का उद्भव प्राचीन देवी-देवताओं के विरुद्ध विद्रोह के रूप में हुआ था, यहां भी वैदिक याग-यज्ञमूलक धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में एक तरफ सरल आस्तिक और दूसरी तरफ नास्तिक मतों का उदय हुआ, पर इन नास्तिक या आंशिक रूप से नास्तिक मतों के उदय के पीछे कोई पृथक् वर्ग नहीं था। इस कारण वे जोर नहीं पकड़ सके, केवल यही नहीं वे अन्ततोगत्वा प्रचलित धर्म के ग्रास में चले गये। जो मत बिल्कुल नास्तिक थे वे भी व्यावहारिक रूप में आस्तिक हो गये। वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध और जैन मतों को भी किसी न किसी प्रकार यदि सिद्धान्त रूप में नहीं, तो व्यावहारिक रूप में ब्राह्मण्य धर्म के कुसंस्कारों के साथ कदम मिला कर चलना पड़ा। मैं यहां पर षड्दर्शनों या उपनिषद्-वर्णित धर्म के ब्यौरे में जाना उचित नहीं समझता, फिर भी तत्कालीन हिन्दू दर्शनों के मन्थन से यह उपसंहार निकलता है कि जिसे हिन्दू दर्शन कहा जाता है, वह प्राचीन परिभाषा के अनुसार थियोलोजी में आता है न कि फिलोजोफी में। वैशेषिक और सांख्य इसके अपवाद है, पर उनको भी बाद को कदम मिलाना पड़ा।

ग्रीक दर्शन की परिक्रमा को किसी तरह समाप्त कर अब हम ग्रीक साहित्य मे पदार्पण करते है। प्राचीन ग्रीक साहित्य में प्रवेश करते ही हमें पुनः संस्कृत साहित्य का स्मरण हो आता है। यदि कहा जाय कि दोनों के वातावरण तथा उनके सम्बन्ध में उठने वाली समस्याओं में समता है, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

हम महाकवि *होमर* को ही लें, तो उनकी रचना तो हमारे सामने है पर उनके सम्बन्ध में हमें कुछ विशेष मालूम नहीं है। 'इलियड' नामक महाकाव्य उनके द्वारा रचित माना जाता है, पर यह पता नहीं चला कि यह महाकाव्य एक ही कवि की रचना है या बहुत से कवियों की। ऐसा मालूम होता है कि ई० पू० ९०० के लगभग एशियाई कोचक के तट पर इसकी रचना प्रारम्भ हुई, पर बाद को बहुत से कवियों ने इसमें हाथ बँटाया, और अन्त में शायद किसी एक महाकवि ने इसे सुग्रथित और सम्पादित किया। इस प्रकार होमर के विषय में हमारे सामने वे ही समस्याएँ आ जाती हैं, जो महा-भारत की रचना के सम्बन्ध में आती है, जैसे एक व्यास थे या कितने व्यास थे, कितनी पुश्तों में इसकी रचना हुई इत्यादि इत्यादि।

होमर की कविता के सम्बन्ध में थोड़े में बता दिया जाय। यद्यपि होमर ग्रीक जाति के थे, और ग्रीकों ने बहुत प्राचीन काल में ही भूमध्यसागर में सर्वत्र साम्राज्य स्थापित कर लिया था, फिर भी 'इलियड' में अजीब बात यह है कि ग्रीकों के साथ कोई पक्षपात नहीं मिलता। आर० डब्ल्यू० लिविंगस्टोन ने कहा है —

"होमर की कला में हमें कलाकार की निस्पृहता का परिचय उसी प्रकार से

मिलता है, जैसे ग्रीक इतिहासकारों में मिलता है। वे ग्रीक हैं, ग्रीकों और एशिया-वासियों के बीच दस वर्ष-व्यापी युद्ध का वर्णन कर रहे हैं, फिर भी उनके पाठकों में अधिकांश के मन में हेक्टर के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती है न कि ऐशिलिस के प्रति। ऐसा मालूम होता है कि वे किसी के पक्ष में नहीं हैं, पर दोनों के साथ देखते हैं, और अनुभव करते हैं, उस वीर के साथ भी उनकी सहानुभूति है जो ट्राय के लिए एक पराजयशील युद्ध लड़ रहे थे, और उसके साथ भी उन्हें सहानुभूति है जिसने एक मित्र खो दिया और दुःख से अभिभूत होकर प्रतिहिंसा का एक पुतला मात्र रह गया था। 'इलियड' के बाइसवें प्रकरण के अन्त को, जहाँ पर वीर मिलते हैं, कोई पक्ष बिना लिये लिखना करीब-करीब असम्भव मालूम होता है, और इसमें सन्देह नहीं कि हम हेक्टर का पक्ष लेते। पर होमर झगड़े से अलग खड़े होकर दोनों व्यक्तियों की अनुभूतियों का चित्रण एक न्यायाधीश की तरह नहीं, बल्कि एक विवरण तैयार करने वाले देवदूत की तरह लिखते जाते हैं। इस सम्बन्ध में उनके या थूसिडिसिस के क्या विचार हैं, उसे केवल अनुमान से ही जाना जा सकता है। उन्होंने तथ्यों को बिना तोड़-मरोड़े या बिना किसी प्रकार रंग भरे सामने रख दिया है और तथ्य अपनी कहानी आप कह जाते है, अपनी व्याख्या करते हैं। उनके साथ वे अनुभूतियाँ संयुक्त हैं, जो उत्पन्न होनी चाहिए, वे अपनी रोशनी से आप उसी प्रकार जगमगाती हैं, जैसे समुद्र के अन्दर की फासफरस भरी ज्वाला।"

इस बात पर बहुत जोर दिया गया है कि ग्रीक विज्ञान और दर्शन में ही नहीं, ग्रीक काव्यों में भी अपने संस्कारों को अलग रख कर अध्ययन, अध्यापन तथा रचना की परिपाटी रही है। इसका कारण यही मालूम होता है कि यद्यपि प्राचीन ग्रीकों का एक निजी धर्म था, और वह हिन्दू धर्म से बहुत कुछ मिलता था, फिर भी उसकी बेड़ियों को अलग रख कर शारदा-मन्दिर में प्रवेश करने की परिपाटी होने के कारण ही प्राचीन ग्रीकगण इतिहास में अपना एक निशान छोड़ गये।

पर इन बातों से यह न समझा जाय कि होमर ने जिस समाज का चित्रण किया है, वह कोई आदर्श समाज था। हमारे महाभारत या रामायण में वर्णित समाज की तरह वह एक सामन्तवादी समाज था, जिसमें राजाओं और सामन्तों के षड्यंत्र, संग्राम, रागद्वेष की कहानी कही गई है। आर० डब्ल्यू० लिविंगस्टोन ने यह साफ कहा है कि होमरीय समाज अनिवार्य रूप से धनतान्त्रिक समाज था, और सरदार लोग युद्ध और ऐडवेंचर में जीवन व्यतीत करते हैं। उस समाज में दो ही बातें प्रधान मालूम होती हैं, एक तो उच्चकुल और दूसरी पशुशक्ति। फिर भी होमर के काव्य में उस युग का बहुत सुन्दर परिचय मिलता है, और जैसा कि बताया गया है, कविता महाकाव्य के ढंग की उच्चकोटि की है। होमर ने 'इलियड' के अतिरिक्त 'ओडिसि' भी लिखा, ऐसा कहा जाता है। 'इलियड' में जहां केवल युद्ध ही युद्ध है, वहां 'ओडिसि' में युद्ध प्रधान नहीं है, इसमें बताया गया है कि किस प्रकार ग्रीक सरदार ओडिसियस ट्राय की लूट के बाद

इथाका द्वीप में अपने घर लौट आते हैं, और वहां वे शान्ति स्थापन में लग जाते हैं। वे उतने बड़े योद्धा नहीं हैं, जितने बड़े पर्यटक हैं। उनका भ्रमण केवल देशदर्शन मात्र नहीं है, वे मनुष्यों के अन्तरंग सम्पर्क में आते हैं, और उनके भावना-जगत् में प्रवेश करने की चेष्टा करते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह माना जाता है कि 'ओडिसि' 'इलियड' के काफी बाद लिखा गया। बहुत से कवियों ने इन्हीं विषयों पर लिखा, पर 'इलियड' और 'ओडिसि' अमर हो गये।

ग्रीस में महाकाव्य के युग के बाद गीति-कविता का युग आता है, और उसके बाद नाटक का युग आता है। गीति-कविता के युग में कवि *पिंडार* का नाम सबसे महत्व-पूर्ण है। दुःख है कि उनकी अधिकांश कविताएं लुप्त हो गई है। दूसरा महत्वपूर्ण नाम साफो का है, यद्यपि आधुनिक गीति-कविता की तुलना में उसका दायरा बहुत संकीर्ण था।

पिंडार के विषय में इसके सिवा कोई विशेष बात मालूम नहीं है कि वे ई० पू० ५२१–४४१ में मौजूद थे तथा वे एक धनी पुरोहित परिवार में पैदा हुए थे। *साफो* के विषय में इतना मालूम है कि वह ई० पू० छठी शताब्दी के आरम्भ में लेस्वोस में रहती थी। उसकी शादी हुई, उसे देश-निकाला दिया गया, पर उसे लौटा लाया गया, और बाद को चल कर उसने कवयित्रियों का एक विद्यालय सा खोल दिया। साफो की कविता की उच्छ्वसित प्रशंसा करने वाले लोगों का न प्राचीनकाल में अभाव था, और न अब है। इस बात पर बहुत जोर दिया गया कि जैसे अब हम गीति-कविताओं को पुस्तकों में पढ़ते हैं, वैसा पहले जमाने में नही होता था।

पिंडार और साफो के बहुत से अनुकरणकारी पैदा हुए। अंग्रेजी के कवि ड्राइडेन और ग्रे ऐसे अनुकरणकारियों में प्रमुख बताये जाते है। पिंडार में यह शक्ति थी कि किसी उत्सव या सभा के लिए फौरन गाने योग्य कविता लिख डालते थे। फिर भी उनका महत्व इस बात में रहा कि राजकवि किस्म के होते हुए भी उन्होंने कभी अपनी स्वतंत्रता का त्याग नही किया।

इसके बाद हम ग्रीक नाटक के युग में प्रवेश करते है। ग्रीकों के प्राचीन नाटक दुःखान्त होते थे, और उनका विषय ग्रीक पुराण या इतिहास से लिया जाता था। सामयिक इतिहास या कल्पना पर अवलम्बित नाटक लिखने का रिवाज कम था। ग्रीक जनता जैसे पहले महाकाव्य, बाद को गीतिकविता सुनने के लिए लालायित रहती थी, उसी प्रकार नाटकों के युग में नाटकों की बड़ी मांग थी। ये नाटक खेले जाते थे। उस युग के बहुत कम नाटक बच पाये हैं, पर कितने नाटक खेले जाते थे, इसका एक अन्दाजा इसी से मिल सकता है कि प्रत्येक मार्च मास में बारह नाटक खेले जाते थे। दुःख तो यह है कि जो नाटक इस समय तक जीवित है, वे उन नाटकों में सबसे अच्छे नहीं हैं। एथेन्स में डायोनिसस के विराट रंगमंच पर अच्छे नाटक खेले जाते थे।

प्राचीन ग्रीक जनता के नाटक प्रेम का प्रमाण इस बात से मिल सकता

है कि दर्शकों की संख्या बीस हजार तक होती थी। दर्शक सवेरे से लेकर सन्ध्या समय तक लगातार बैठे रहते थे। बात यह है कि कई बार कवियों में प्रतियोगिता बड़े जोर की होती थी, और दर्शकों को एक-एक नाटककार-कवि के तीन-तीन नाटक देखने पड़ते थे। सामने की कतार में पुरोहित और नेतागण बैठते थे। उनके बैठने के लिए जो जगह होती थी, वह संगमरमर की बनी होती थी, दूसरे लोगों के आसन पत्थर के बने होते थे, पर लोग उन पर बिछाने के लिए छोटे-छोटे गद्दे ले आते थे। सामने मद्य और शस्यदेवता डायोनिसस की वेदी दिखाई पड़ती थी। तीन से अधिक अभिनेता नहीं होते थे। कोई यवनिका नहीं होती थी। दृश्य बहुत सरल होते थे। वार्तालाप कविताबद्ध तथा लम्बे-लम्बे होते थे। पहले सूत्रधार भूमिका के ढंग पर नाटक के सम्बन्ध में कुछ बता जाता था। नाटक छोटे-छोटे होते थे। उदाहरण स्वरूप यूरिपिडिम का 'इलेक्ट्रा' नाटक १३५९ पंक्तियों का है। यत्र-तत्र गाने विशेषकर सहगान भी होते थे। संक्षेप में ग्रीक नाटक और उनके रंगमंच का यही विवरण है।

तीन नाटककार विशेष रूप मे उल्लेखनीय है—*ईशिलस* (ई० पू० ५२५-४५६), *सॉफोक्लिस* (ई० पू० ४९६-४०६) और *यूरिपिडिस* (ई० पू० ४८०-४०६) कुछ लोगों का यह विचार है कि यदि यह तीन नाटककार प्राचीन युग के सबसे बड़े नाटककार नहीं तो, सर्वकाल के श्रेष्ठ नाटककारों में थे। आर० डब्ल्यू० लिविंगस्टोन तो जानबुल के तरीके पर यह कहते है कि शेक्सपियर के बाद यही तीन नाटककार दुनिया के सबसे बड़े नाटककार थे। इसमें संदेह नहीं कि शेक्सपियर बहुत बड़े नाटककार हो गये हैं, पर उनके अतिरिक्त भारत की बात तो जाने दीजिये, यूरोप में भी गेटे आदि कई नाटककार हो गये हैं, जिन्हें उच्चतम श्रेणी में रखा जा सकता है।

इन तीनों ग्रीक नाटककारों के नाटक सचमुच ही बहुत उच्चकोटि के हैं, और उन्हें पढ़े बिना हम यूरोपीय साहित्य की जड़ में नही पहुंच सकते। अब इन नाटककारों के सम्बन्ध में दो-दो शब्द कह दिये जायँ। ईशिलस के सम्बन्ध में यह ज्ञात होता है कि वे कवि होने के अतिरिक्त योद्धा भी थे। सलामिस और मैराथन के युद्ध में उन्होंने स्वयं भाग लिया था। ऐसा समझा जाता है कि वे योद्धा रूप में अपने को इतना गौरवान्वित समझते थे कि उनके समाधिफलक पर उनके कवि होने का कोई उल्लेख नहीं है, और इतना ही लिखा है कि वे ईरानियों के विरुद्ध लड़े। उनके सभी नाटक एक ही कोटि के हैं, ऐसा नहीं। उनका जो नाटक सबसे पुराना माना जाता है, और जिसका नाम 'प्रार्थिनी स्त्रियां' हैं, उसके सम्बन्ध में कहा गया है कि वह यथेष्ट शिथिल है। इसे खेलने के लिए दो ही अभिनेताओं की आवश्यकता होती है। ईशिलस एक बहुत शक्तिशाली कवि थे। उनके नाटकों में गानों की अधिकता है। जिस नाटक का उल्लेख किया गया, उसके अभिनय का आधा समय तो सम्मिलित गान में लग जाता है।

उनके बाद के नाटक कला की दृष्टि से उच्चकोटि के हैं, पर उनमें भी सम्मिलित गान की प्रधानता है। उनके नाटक सरल हैं, पर यूरिपिडिस के मुकाबले में वे जीवन का

समग्र चित्र पेश करने में समर्थ नहीं होते। उनके ईश्वर सम्बन्धी विचार अभी पूर्ण रूप से एकेश्वरवादमूलक नहीं है। झुकाव तो एकेश्वरवाद की ओर है, पर बहुदेव-देवीवाद का पुट उस पर बराबर चढ़ा रहता है।

उनके नाटकों में ईश्वर तथा देवी-देवता सम्बन्धी जो विचार मिलते हैं, वे शायद उस युग की राजनैतिक अवस्था को प्रतिफलित करते हैं। झुकाव अखिल ग्रीस की राष्ट्रीय एकता पर है, पर छोटे-छोटे राज्य समाप्त होने में नही आते, इसी राजनैतिक अवस्था के साथ उनके ईश्वर सम्बन्धी विचार सामंजस्य रखते हैं। सामाजिक दशा का जो चित्र मिलता है, उसमें परिवार व्यक्ति से प्रबल है। यदि किसी ने पिता या पितामह के साथ कोई ज्यादती की तो पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र सबका यह कर्त्तव्य है कि उसका बदला ले।

ईशिलस के नाटकों में यह भी दिखलाया गया है कि पाप की उत्पत्ति समृद्धि से होती है। इस प्रकार के दर्शनशास्त्र के दो अर्थ हो सकते है, एक तो यह कि इससे धनियों के प्रति घृणा व्यक्त होती है, और दूसरे यह कि इस दर्शनशास्त्र के द्वारा साधारण जनता को सन्तोष का उपदेश दिया गया है।

जो कुछ भी हो, इसमें सन्देह नही कि ईशिलस के नाटक कई प्रसिद्ध कलाकारों के द्वारा बहुत ऊंचे दर्जे के माने गये है। अंग्रेजी के कवि शेली तथा स्विनवर्न ने उनके नाटकों की बहुत खुल कर प्रशंसा की है। यद्यपि इन नाटकों में कई विचार ऐसे आते है, जिन्हें आधुनिक युग में समझ पाना कठिन है, फिर भी सहानुभूतिशील पाठकों को वे पसन्द आये बिना नही रह सकते। केवल ईशिलस के नाटक के रस ग्रहण के लिए ही नही, सारे प्राचीन साहित्य के साथ ही यह असुविधा लगी हुई है कि हम जब तक अपने को मानसिक रूप से उस वातावरण में ले न जायँ, तब तक हम उनका अच्छी तरह रसास्वादन नही कर सकते।

नाटककार सोफोक्लिस के सम्बन्ध में बताया जाता है कि वे उच्च राजनैतिक और सैनिक पदाधिकारी थे, पर साथ ही यह भी बताया गया है कि वे अपने पद में न तो विशेष क्रियाशील थे और न दक्ष ही थे। वे एक साधारण एथेन्सवासी की तरह थे। वे सुन्दर थे, जल्दी क्रोध में आ जाते थे, फिर भी जनप्रिय थे। पहली बार प्रतियोगिता में ही उनकी कविता सर्वश्रेष्ठ समझी गई, और दूसरे कवियों के मुकाबले में वे सांसारिक रूप से सफल भी रहे। वे ९० वर्ष की उम्र तक जीवित रहे, और कहते हैं, कि मृत्यु के पहले उन्होंने दो नाटक लिखे, जो उनके नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है। वे एक सफल नाटककार तथा रंगमंच के आचार्य माने गये है। फ्रायड के कारण जिस एडीपस और इलेक्ट्रा की इतनी ख्याति हो गई, और प्रथम के नाम पर एक ऐसी जटिलता मानी गई, जो प्रत्येक व्यक्ति में पाई जाती है, उसी एडीपस और इलेक्ट्रा पर सोफोक्लिस ने नाटक लिखे थे।

सोफोक्लिस के नाटकों में कई बार ऐसी परिस्थितियां आ जाती हैं, जब सनसनी और नाटकीयता पूर्ण मात्रा में सामने आती है। सोफोक्लिस शब्दों के भी जादूगर है। ग्रीक साहित्यमर्मज्ञों का कहना है कि उनके शब्दों में व्यंजना के अतिरिक्त संगीत भी प्रचुर मात्रा में मौजूद है। सोफोक्लिस की एक त्रुटि बतलाई जाती है कि उनका मनो-

विज्ञान कमजोर है, कुछ कार्य-कारण-परम्परा भी अक्सर समझ में नहीं आती। यह सब होने पर भी सोफोक्लिस में प्रबल कल्पनाशक्ति और अनुभूति है। एडीपस नाटक के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि उसमें कल्पना की जिस प्रकार शानदार उड़ान है, वैसी विश्व-साहित्य में कम दृष्टिगोचर होगी। इसमें संदेह नहीं कि वे एक बड़े कलाकार थे।

कवि *यूरिपिडिस* एक अजीब चरित्र के व्यक्ति थे। छात्रावस्था से ही वे लोगों से दूर रहना पसन्द करते थे। वे मनुष्यों से बच कर पुस्तकों के साथ समय बिताना पसन्द करते थे। कहा जाता है कि एथेन्स निवासियों के वे उन अग्रणियों में थे, जिनके पास निजी पुस्तकालय था। अपनी साहित्यिक प्रतिभा के बावजूद वे कभी जनप्रिय नहीं हुए। वे सुकरात के मित्रों में थे। यह कहा गया है कि वे जिस ज़माने में पैदा हुए थे, उस ज़माने के नहीं बल्कि उससे अगले ज़माने के थे, नतीजा यह हुआ कि उन्हें स्वयं निर्वासित होकर थ्रेस के जंगली राज्य में जाकर मरना पड़ा। इस व्यक्ति को अपने जीवनकाल में सम्मान नहीं प्राप्त हुआ, पर मरने के बाद उनकी पूजा सर्वश्रेष्ठ नाटककार के रूप में हुई। जिस युग में ईशिलस और सोफोक्लिस के नाटक अल्मारियों के हवाले कर दिये गये, और उन्हें क्लासिक मान कर अलग रख दिया गया, उस जमाने में यूरिपिडिस के नाटक इस प्रकार से पढ़े और खेले गये, मानों वे एक समसामयिक कवि हों।[1]

बाद के युग में यूरिपिडिस की कदर इतनी अधिक हुई, इसका एक कारण यह मालूम होता है कि उनकी भाषा पुरानी नहीं हुई। उनके लिए यह एक बड़ी सूझ की बात थी कि उन्होंने भाषा के भविष्य झुकाव को समझ लिया, और उसी ढांचे में उसे ढाला। किसी ऐसे लेखक के लिए यह एक बड़ा गुण है कि वह इस झुकाव को अच्छी तरह समझे, तभी उसके अमरत्व की आशा पूर्ण हो सकती है। अवश्य केवल भाषा से ही कुछ नहीं होता, जब तक साथ ही उसकी अन्तर्गत वस्तु ऐसी न हो, जो चिरन्तन मूल्य रखती हो।

यूरिपिडिस के नाटकों की विशेषता यह है कि उनमें संघर्ष बहुत तीव्र हो जाता है। अजीब बात यह है कि यह संघर्ष पात्रों के कार्य-कलाप के द्वारा घनीभूत न होकर बहस-नुमा बातचीत से घनीभूत होता है, जैसा कि आर० डब्ल्यू० लिविंगस्टोन ने कहा है—"मानों दोनों पक्ष अदालत के सामने खड़े हों। एथेन्स के नागरिक तर्क बहुत पसन्द करते थे, इसीलिए यूरिपिडिस के नाटक बहुत सफल रहे। उन्होंने अपने नाटकों की परिस्थिति और समय आदि का स्पष्टीकरण एक विशद बातचीत के द्वारा करने की परिपाटी चलाई। अक्सर सूत्रधार की तरह एक पात्र आकर परिस्थिति के सम्बन्ध में एक वक्तव्य पेश करता है। उनके नाटकों में अत्यन्त मनोवैज्ञानिक मुहूर्त में देवताओं का हस्तक्षेप होता है। नाटक अच्छा भला मानवीय ढंग पर चलता रहता है, जब अन्त होने में केवल सौ पंक्तियां रह जाती हैं, तो उस समय किसी देवता का हस्तक्षेप होता है। डाक्टर वेराल नामक एक समालोचक इस पहेली को कि सारा नाटक तो बौद्धिक सतह पर चलता है, पर अन्त में धार्मिक खुराफात आ जाता है, इस प्रकार सुलझाते हैं कि यूरिपिडिस अपने नाटकों में धर्म

१. दि पेजेन्ट आफ ग्रीस पृ० १२१।

की आलोचना करवाते हैं, पर अन्त में धर्म का पुट देकर धर्म-विश्वासी जनता को बहला देते हैं। यह एक अच्छी व्याख्या मालूम देती है। यह तो साफ है कि उस युग में किसी नये विचार को सीधे सादे स्पष्ट रूप से कहना सम्भव नहीं था। इसी कारण मालूम होता है, यूरिपिडिस को जनता के साथ रियायत करनी पड़ी।"

फिर भी यह कहा गया है कि एक आधुनिक व्यक्ति के लिए यूरिपिडिस के जगत् में पहुंच कर उसे अपना लेना अधिक आसान है। यद्यपि उन्होंने भी होमरीय उपाख्यानों को आधार बना कर अपने नाटक लिखे हैं, फिर भी वे उन पर बुद्धि की सर्चलाइट डालने से चूकते नहीं हैं। आधुनिक युग में यूरिपिडिस का पुनराविष्कार हुआ है, इसका कारण यही है कि वे कोरे नाटककार नहीं है, वे नाटकों के ज़रिये से समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। जब वे प्राचीन ग्रीक देवताओं या वीर पुरुषों को लेते हैं, तो वे एक अन्ध भक्त की तरह उनके सामने घुटने टेक कर उनकी उपासना में तन्मय नहीं हो जाते, बल्कि वे आंख खोल कर उनके साथ आंख मिलते है, और अपनी शताब्दी की रोशनी में उनके दोषों का उद्घाटन करके रख देते है। वे इस प्रकार न केवल पौराणिक देवताओं और वीरों का नये ढंग से मूल्यांकन करते है, बल्कि साथ ही साथ अपने ज़माने के लोगों की भी समीक्षा करते हैं। होमर ने ट्राय के युद्ध का वर्णन करते हुए केवल वीरता और युद्धपिपासा की बड़ाई का वर्णन किया था। उनकी रचनाओं में वीरों की ललकार के आगे उजड़े हुए घरों से उठनेवाली चीख सुनाई नहीं पडती थी, पर यूरिपिडिस ने यह दिखलाया कि युद्ध के अन्दर कितनी पशुता और कडुवापन है, उसके फलस्वरूप विजेता और विजित दोनों के शिविरों में हाहाकार उठता है, घर उजड़ जाते है, इत्यादि इत्यादि। इस दृष्टि से देखने पर यूरिपिडिस प्राचीनतम शान्तिवादियों में है। वे शान्ति के लिए तो नहीं कहते, पर युद्ध के विरोध में बहुत कुछ कह जाते हैं।

यह कहा गया है कि यूरिपिडिस स्त्रियों के विषय में बड़ी सहानुभूति और अन्त-र्दृष्टि के साथ लिखते है। लिविंगस्टोन कहते है—"यदि हम उनकी प्राप्त रचनाओं से उन पर विचार करें तो यह ज्ञात होगा कि स्त्रियो के विषय में ही वे मुख्य रूप से दिल-चस्पी रखते थे। उनकी अठारह रचनाओं में से बारह के केन्द्रस्थल में स्त्रियां ही हैं, जिनमें से छः सच्चे अर्थों में वीरांगनाएं हैं। ये सभी स्त्रियां बहुत सुखद चरित्र नहीं हैं, उनके शत्रु बड़े अजीब तरीके से उन्हें स्त्रियों से घृणा करनेवाले बताते है। वे विशेषकर यह दिखाते हैं कि स्त्रियों पर दुर्व्यवहार करने का क्या नतीजा होता है। इसमें सन्देह नहीं कि अपने युग के एथेन्स से उन्हें जीवित उदाहरण प्राप्त हुए। उनकी रचनाओं में कई तरह के नमूने प्राप्त होते हैं, जिनमें हम ऐसी स्त्रियों को देखते है, जैसे—मीडिया, हेक्यूबा, क्रेयूसा, इलेक्ट्रा जो निष्ठुरता या दमन के कारण राक्षसी बन गई। इसके साथ ही हम इफिजिनिया की तरह चरित्र पाते हैं, जो सारी बातों को झेल जाती हैं।"

इन ग्रीक दुःखान्त नाटककारों के अतिरिक्त प्राचीन ग्रीस में और भी बहुत नाटक-कार हुए, पर हम केवल इन्हीं तीन का परिचय देकर आगे बढ़ जायेंगे। सुखान्त नाटककारों

में *ऐरिस्टोफेनिस* (ई० पू० ४४६-ई० पू० ३८५) का हम उल्लेख करेंगे। बड़ी मुश्किल की बात यह है कि ऐरिस्टोफेनिस समसामयिक व्यक्तियों और घटनाओं से इतने उलझे हुए हैं कि उन्हें अच्छी तरह समझना टेढ़ी खीर है। फिर भी वे एक बहुत अच्छे आलोचक थे, जैसा कि प्रत्येक हास्यरस के लेखक के लिए ज़रूरी है, और उनके युग को देखते हुए उनका दृष्टिकोण बहुत स्वस्थ था। वे अपनी 'मेढ़क' नामक रचना में परलोक-यात्रा का वर्णन करते हैं, जिसमें यह झगड़ा खड़ा हो जाता है कि कवि ईशिलस को वहां से वापस लाया जाय या कवि यूरिपिडिस को। स्वाभाविक रूप से दोनों कवियों की बहुत लम्बी आलोचना की जाती है। 'बादल' नामक रचना में वे सुकरात और समसामयिक विज्ञान की आलोचना करते है। 'बर्रे' नामक रचना में वे एथेन्स के असेसरों और उनकी मुकदमा-प्रियता पर फबती कसते है। 'चिड़ियों' नामक रचना में वे एथेन्स के दो नागरिकों का चित्रण करते है, जो एथेन्स नगरी से ऊब कर चिड़ियों के देश में पहुंच जाते हैं। 'वीर' नामक रचना वे व्याख्यान देकर जनता को बहकाने वालों की खबर लेते हैं। 'शान्ति' और 'अर्शनियावादी' नामक रचनाओं में वे युद्ध का विरोध करते हैं। (शेषोक्त उनकी सबसे उत्कृष्ट रचना है, और वह पेलोपोनेशिय युद्ध की प्रत्यक्ष छाया में प्रस्तुत की गई थी) उन्होंने 'लिसिस्ट्राटा', 'एकलेजियाजूसाई' तथा 'थेस्मोफोरियाजुसाई' नामक रचनाओं में स्त्रियों पर लिखा। प्रथम रचना में यह दिखाया गया है कि स्त्रियां किस प्रकार लड़ाईबन्दी करा देती हैं, दूसरी रचना में संसद् में उनका कार्यकलाप दिखलाया गया है, तीसरी रचना में यूरिपिडिस को इसलिए सजा देने की बात लिखी गई कि उन्होंने स्त्रियों की बुराई की। 'प्लुटस' नामक रचना बाद की है, और दूसरी रचनाओं से भिन्न शैली में लिखी गई है। यह लड़ाई के बाद प्रस्तुत की गई थी, जब वित्तीय समस्याएँ बहुत कठिन थीं और मुनाफाखोरों के हाथ में सारा धन एकत्र हो गया था। एथेन्स का एक नागरिक डेलफी नामक स्थान में यह पूछने जाता है कि धन प्राप्त करने का मार्ग केवल अन्याय ही है? रास्ते में धन देवता से उसकी भेंट होती है, जो अन्धे हैं। धन देवता की अन्धता दूर कर दी जाती है और जो नतीजा होता है वह दिखाया जाता है।'[1]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऐरिस्टोफेनिस ने भी उन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति की, जिन्हें दुःखान्त नाटककारों ने अपने ढंग से पूर्ण किया। यदि हम ईशिलस, सोफोक्लिस, यूरिपिडिस और ऐरिस्टोफेनिस के सारे साहित्य मिला कर देखें, तो हमें साहित्य की वह परिभाषा मूर्त होते दिखाई देगी, जिसमें यह कहा गया है कि 'साहित्य जीवन की व्याख्या है।'

प्राचीन ग्रीस के इन साहित्यकारों के अतिरिक्त कुछ ऐसी विभूतियां हो गई हैं, जो अपने क्षेत्र में अद्वितीय रही हैं। ऐसी ही विभूतियों में इतिहासकार *हेरोडोटस* की गिनती है। भारत में तो इतिहास को इतिहास रूप में लिखने की कोई परिपाटी नहीं थी, पर ई० पू० ४८४ में पैदा होकर भी हेरोडोटस ने इतिहास के क्षेत्र में बड़ा मूल्यवान् कार्य किया। उनका जन्म एशियाई कोचक के हेलिकारनासस नामक स्थान

---

१. वही पृ० १३०-१३१

में हुआ। उन्होंने २० साल की उम्र में ही स्थानीय राजा के विरुद्ध विद्रोह किया। इसके फलस्वरूप उन्हें निर्वासन दंड मिला। उन्हें माफी मिल गई, पर फिर उन्होंने कुछ आलोचना कर दी, और फिर उन्हें जन्मभूमि से निकाल दिया गया। वे इसके बाद दूर-दूर तक भ्रमण करते रहे, और इन्हीं भ्रमणों के दौरान में उन्हें इतिहास के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने ग्रीकों तथा उनके साथ सम्पर्क में आने वाले लोगों का नौ खंडों में इतिहास लिखा, जिसमें ई० पू० छठी शताब्दी से लेकर प्लैटिया में ४७९ में ईरानियों की पराजय तक का इतिहास लिखा। उनकी इतिहास-लेखन-प्रतिभा के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वे एक कुशल पर्यटक थे, उन्होंने जो कुछ भी देखा, उसे लिपिबद्ध किया। हां, वे लिपिबद्ध करने की कला में बहुत कुशल थे।

यह कहा नहीं जा सकता कि हेरोडोटस एक आदर्श इतिहासकार हैं, क्योंकि वे जादू टोना और मुअज्जिजों में विश्वास करते हैं तथा बहुत सी ऐसी बातें लिखते हैं, जिन पर विश्वास नही किया जा सकता। फिर भी नीर-क्षीर-विवेक से काम लेने पर उनमें उस युग की बहुत सी बातें मालूम हो सकती हैं। लिविंगस्टोन ने लिखा है कि 'उनका सबसे बड़ा गुण था अनन्त कौतूहल'। फारस में लगान की क्या पद्धति है, इस बात से लेकर दूध दुहने का सीदियन तरीका क्या है, यह सब वे लिख जाते हैं। यहां तक कि मिश्र में कैसी बिल्लियां होती हैं, इस सम्बन्ध में भी वे दिलचस्पी रखते हैं। संक्षेप में उन्होंने उस युग में प्रचलित सारी किम्वदन्तियां लिपिबद्ध कर दीं, पर कई घटनाओं का उन्होंने बिलकुल ऐतिहासिक ढंग से विवेचन किया है। उनकी रचनाओं का मूल्य कितना अधिक है, वह इस बात से समझ में आ सकता है कि अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि वर्डसवर्थ यह समझते थे कि बाईबिल के बाद ही उनकी रचनाओं का महत्व है।

एक दूसरे इतिहासकार *थूसिडिसिस* का भी उल्लेख आवश्यक है। उनके सम्बन्ध में मेकाले ने यह लिखा था कि वे दुनिया के सबसे बड़े इतिहासकार हैं। जान मार्ले का भी यही कथन था। थूसिडिसिस का जन्म ई० पू० ४७१ में हुआ था। वे एथेन्स के उच्चकुल में पैदा हुए थे, और वे खानों के मालिक भी थे। वे एथेन्स की जलसेना के सेनापति थे। इस पद में रहते समय वे एम्फीपोलिस नामक नगर की रक्षा नहीं कर सके, इस कारण उन्हें युद्ध के अन्त तक एथेन्स में लौटने नही दिया गया। इमी आकस्मिक घटना के कारण वे शत्रुपक्ष की बातों को भी समझ गये, इस कारण वे निष्पक्ष इतिहास लिखने में समर्थ हुए। उन्होंने एथेन्स के साम्राज्य और स्पार्टा में जो युद्ध हुआ था, उसका वर्णन लिखा है। यद्यपि हेरोडोटस बहुत बड़े इतिहासकार माने जाते है, पर थूसिडिसिस कुछ अर्थों में उनसे भी बड़े हैं। शेषोक्त ने ऊलजलूल किम्वदन्तियां तथा अन्य अविश्वास-योग्य बातें नही लिखी, बल्कि उन्होंने अपने को सच्ची बातों तक सीमित रखा। थूसिडिसिस के वर्णन सरल और प्रांजल है, पर यह केवल शैली की बात हुई। हेरोडोटस ही अधिक सरल मालूम देते हैं, यद्यपि उन्होंने दुनिया अधिक देखी है। थूसिडिसिस की रचना में ओज गुण है, जबकि हेरोडोटस की रचना में प्रसाद गुण अधिक है। इन दो इतिहासकारों को प्राचीन

ग्रीस के व्यास और वाल्मीकि माने जा सकते हैं, यद्यपि प्रभेद यह है कि व्यास और वाल्मीकि की रचनाएँ जिस रूप में हमें प्राप्त हैं, वे इतिहास से बहुत दूर हैं, जब कि प्राचीन ग्रीस के ये दो इतिहासकार आधुनिक अर्थों में इतिहासकार के बहुत निकट हैं।

प्राचीन ग्रीक संस्कृति के एक और पहलू पर दृष्टि बिना डाले यह विवरण अधूरा रह जायगा। वह पहलू है--वक्तृत्व कला। ग्रीस जिस समय इतिहास में आता है, उस समय वह छोटे-छोटे प्रजातंत्रों या अर्द्ध प्रजातंत्रों का समूह था। उस युग में छापने की कला का अभी आविष्कार नहीं हुआ था। इसलिए स्वाभाविक रूप से वक्ताओं तथा वक्तृत्व कला का बहुत अधिक महत्व था। राजनैतिक आवश्यकता के अतिरिक्त वक्तृत्व कला मुकदमों के अवसर पर भी काम में आती थी। प्रत्येक व्यक्ति को अदालत में खड़े होकर अपने पक्ष की तरफ से वकालत करनी पड़ती थी। अक्सर ये वक्तृताएँ बड़े-बड़े पेशेदार वक्ताओं के द्वारा लिखी जाती थीं। इनमें से बहुत सी वक्तृताएँ अब प्राप्त हुई हैं। ई० पू० चौथी शताब्दी के लगभग के ग्यारह वक्ताओं की वक्तृताएँ विशेषकर प्राप्त हुई हैं, जिनमें *लिसियस* (ई० पू० लगभग ४५८ से ३८०) *इसोक्रेटिस* (ई० पू० ४३६--३३८) बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। पर इन सबसे प्रसिद्ध *डिमोस्थिनिस* थे। इनका समय ई० पू० ३८४ से ३२२ है। यह बताया जाता है कि बालक के रूप में डिमोस्थिनिस बहुत शर्मीले थे और बोलने में हकलाते थे। बाद को चलकर यही बालक एथेन्स के युद्धवादी दल का नेता हो गया, और यह महज अपनी वक्तृता की बदौलत। एक आश्चर्य की बात है कि यद्यपि २००० वर्ष से अधिक बीत गये, फिर भी उनके व्याख्यान अब भी हमें ओज और अग्नि से भरे मालूम होते हैं। एथेन्स प्रजातंत्र के लोग बहुत आत्मविश्वासी हो गये थे, और यह समझते थे कि जब वे युद्ध नहीं करते, तो उनसे कौन लड़ेगा ? पर उधर राजा फिलिप एथेन्स के विरुद्ध लड़ाई की तैयारियां कर रहा था। इसलिए डिमोस्थिनिस ने युद्ध की तैयारी का नारा दिया। वे अपने लक्ष्य में सफल रहे, पर इतना विलम्ब हो चुका था कि उनकी कला काम नहीं आई, और फिलिप सफल रहा। कुछ भी हो, हम सफलता से उनकी कला को नहीं कूतेंगे, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे एक बहुत बड़े वक्ता थे।

हमने संक्षेप में प्राचीन ग्रीस के दर्शन, साहित्य, विज्ञान और संस्कृति का जो परिचय दिया है, वह बहुत कुछ अधूरा है। फिर भी एक भूमिका के रूप में यह यथेष्ट है। यदि देखा जाय तो प्राचीन भारत और ग्रीस में बहुत कुछ समता है। जहां समता नहीं है, उसका हम इंगित कर चुके हैं। अब तक यूरोपीय ही नहीं सारी दुनिया के साहित्य, दर्शन, विज्ञान और सस्कृति का इतिहास लिखते समय प्रत्येक विषय के जनक के रूप में ग्रीस का उल्लेख किया जाता था, अब धीरे-धीरे इस सम्बन्ध में भारत को भी उसका उचित स्थान दिया जाने लगा है। जो कुछ भी हो, हमारे लिए यह उचित है कि हम अपने प्राचीन दर्शन और साहित्य के साथ साथचीन और ग्रीस की प्राचीन संस्कलि का भी अध्ययन करें।

क्रान्तिकारियों के द्वारा इतिहास-लेखन

जब तक भारत स्वतन्त्र नहीं हुआ था, तब तक भारतीय स्वतन्त्रता से सम्बद्ध बहुत से उज्ज्वल अध्यायों का लिखना सम्भव नहीं था। जिस ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने हमें अपने खूनी पंजे के बीच दबा रखा था, वह इस सम्बन्ध में भी सजग था कि जहां तक हो सके हमारे इतिहास का वह हिस्सा अन्धकार में पड़ा रहे, जिससे हमें स्वतन्त्रता-संग्राम के लिए अनुप्रेरणा मिल सकती थी। इस दमननीति को कार्यान्वित करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने कुछ उठा नहीं रखा। सक्रिय रूप से स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेनेवाले वीरों के साथ स्वतन्त्रता-संग्राम के इतिहासकारों का भी दमन तथा इतिहासों की जब्ती होने लगी।

इसके दो परिणाम हुए, एक तो यह कि स्वतन्त्रता-संग्राम-सम्बन्धी बहुत से बहुमूल्य उपकरण नष्ट हो गये—यहां तक कि वे अब मिल नहीं सकते—क्योंकि इन उपकरणों को संग्रह करके उनके आधार पर कुछ लिखना सब के वश की बात नहीं थी—इसलिए कि इतिहास लिखने के लिए जेल कौन भुगते। दूसरा परिणाम यह हुआ कि स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेनेवाले लोग ही स्वतन्त्रता-संग्राम को बल पहुँचाने के लिए उसके इतिहास लेखन यानी इस प्रकार के इतिहास-लेखन की ओर बढ़े। इस प्रकार से इतिहास-लेखन भी स्वतन्त्रता-संग्राम का एक अंग बन गया।

श्री सावरकर ने १९०८ में मराठी में "१८५७ की क्रान्ति" का इतिहास लिखा, तो स्वतन्त्रता-संग्राम को बल पहुँचाने के लिए (हम इस पर फिर आयेंगे) श्री शचीन्द्र-नाथ सान्याल ने "बन्दी-जीवन" लिखा। डाक्टर दत्त ने "राजनैतिक इतिहास का एक अप्रकाशित अध्याय" लिखा तो मैंने "भारत में सशस्त्र क्रान्ति-चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास" लिखा—सबका उद्देश्य इतिहास लिखने के साथ-साथ स्वतन्त्रता-संग्राम को बल पहुँचाना था।

ये इतिहास किस धारणा को लेकर लिखे गये, तथा उनके पीछे कौन-सी

अनुप्रेरक शक्ति थी, यह मेरी उल्लिखित पुस्तक की भूमिका से ज्ञात होता है—

"भारतीय क्रान्ति-प्रचेष्टा के सनसनी भरे इतिहास की भूमिका में किन शब्दों में लिखूं, कुछ समझ में नहीं आता। मुझे तो बार-बार इन शहीदों की—वीरों की—सर पर कफ़न बांधकर निकले हुए अलमस्तों की कहानी लिखते-लिखते यह इच्छा हुई है कि मैं लेखनी पटक दूं, और निकल पड़ूं............इन शहीदों के इतिहास का मैंने वर्षों तक मनन किया है, लिखते-लिखते बार-बार मैं सोचता रहा। लेखनी चलाना यह मेरा काम नहीं है, मैं शायद अपने Vocation को miss कर रहा हूं, मेरे समय का उपयोग तो कुछ और ही होना चाहिए। ज़माने का यही तक़ाज़ा है, शहीदों का यही सन्देश है। मैं मानता हूं, लेखनी, यदि वह एक क्रान्तिकारी की लेखनी है, और यदि वह उसी इस्पात से ढाली गई है, जिससे भगतसिंह, आज़ाद, सोहनलाल, करतारसिंह की पिस्तौलें ढाली गई थीं, तो वह साम्राज्यवाद के लिए एक बहुत ही ख़तरनाक चीज़ हो सकती है।

फिर भी लिखते-लिखते बार-बार लिखने पर मेरी वितृष्णा हो गई है। मेरे हृदय के भाव उससे व्यक्त कहां होते हैं? एक बेताबी ने मुझ पर अधिकार जमा लिया है, और मेरी कहानी रुक गई है। शायद इस प्रकार की बेताबी में जो चीज लिखी गई है, वह इतिहास की मर्यादा प्राप्त नहीं करेगी, किन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है कि हमारी भावी पीढ़ियों का निर्माण करने में यह कहानी उसी प्रकार सहायक होगी, जिस प्रकार लोरियां बच्चे को आदमी बनाने में होती हैं। मैं चाहता हूँ, देश के नौजवान इस कहानी के साये में पलें, इसी में उनका कल्याण है, इसी में मेरी लेखनी-धारण की सार्थकता तथा पुरस्कार है।"

यह भूमिका त्रिपुरी कांग्रेस के ऐन पहले २-३-३९ को लिखी गई थी। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि निकलने के तीन महीनों के अन्दर ही पुस्तक ज़ब्त कर ली गई, और सात साल तक ज़ब्त रही।

यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के विचारों से अनुप्रेरित होकर इतिहास-लेखन करने से स्वतन्त्रता-आन्दोलन को भले ही बल पहुँचा हो, पर इससे इतिहास के साथ न्याय नहीं हुआ होगा। यहां यह आधारिक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि इतिहास उद्देश्य-हीन रूप से तथ्यों का क्रमिक संकलन है या और कुछ? क्या इतिहास केवल मृत तथ्यों के अध्ययन के लिए अध्ययन है, या वह वर्तमान के लिए एक पथ-प्रदर्शक तथा भविष्य के लिए एक इंगित है।

इस तर्क में पड़े बगैर इतना तो कहा ही जा सकता है कि इस विषय में दो प्रमुख मत हैं और इस लेख में हम इस पर किसी अन्तिम निर्णय पर पहुँचने का प्रयत्न नहीं कर सकते। ट्राट्स्की ने रूसी क्रान्ति का जो इतिहास लिखा है उसमें विस्तार के साथ इतिहास की सोद्देश्यकता पर आलोचना की है।

जो कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि पराधीनता के युग में कुछ ऐसी

परिस्थितियां हुईं कि जो स्वतन्त्रता के योद्धा थे, वे ही उसके इतिहासकार भी बने। यह कोई अकाट्य सत्य के रूप में नहीं कहा जा सकता कि ऐसे लोगों का लिखा इतिहास सही नहीं होगा। इसके सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं। ट्राट्स्की को ही ले लिया जाय, उनके क्रान्ति के इतिहास का पहले उल्लेख कर चुका हूँ।

अवश्य ट्राट्स्की और भारत के इन इतिहासकारों में फर्क यह था कि ट्राट्स्की ने क्रान्ति के बाद क्रान्ति का इतिहास लिखा और यहां जिन इतिहासों का मैंने उल्लेख किया है, वे स्वतन्त्रता युद्ध के दौरान में लिखे गये। इस कारण यह कहा जा सकता है कि इनके इतिहासों में अधिक रंग चढ़ाया गया होगा क्योंकि इनके इतिहासकारों को तुरन्त प्रत्यक्ष रूप से स्वतन्त्रता के आन्दोलन को बल पहुँचाना था। ऐसा कहीं नही हुआ, यह मैं नहीं कह सकता; पर मैंने अपने इस प्रकार के लेखों तथा पुस्तकों में अधिक से अधिक तथ्य की ओर रहने की चेष्टा की है। डाक्टर भूपेन्द्रनाथ दत्त, शचीन्द्रनाथ सान्याल आदि के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है।

श्री सावरकर भी तथ्य के साथ चले, पर उनके इतिहास में जोश तथा विधर्मियों के विरुद्ध तिरस्कारात्मक शब्दों की भरमार है। जहा-तहां वे अपनी कहानी को बन्द करके इस प्रकार की बातें करते हैं मानों वे बातों से उन सब अत्याचारों का बदला लेना चाहते हैं जो अंग्रेजों ने सन् १८५७ के वीरों पर किये थे। वे समय-समय पर इतिहास की वाग्देवी को सम्बोधित करते हैं और कवियों के ढंग पर उससे कहते है, "तू ऐसी कहानी सुना, वैसी कहानी सुना।"

कहा जा सकता है कि इस प्रकार की भाषा तथा शैली इतिहास-लेखन के उपयुक्त नही है। हो सकता है, पर श्री सावरकर की इन उड़ानों को निकाल दिया जाय तो मानना पड़ेगा कि उनका लिखा हुआ "१८५७ के स्वतन्त्रता-युद्ध का इतिहास" तथ्यों से हटता नहीं है, और वह इतिहास है।

भारत में कानूनी रूप से प्रकाशित अपनी पुस्तक के प्रथम सस्करण की भूमिका में श्री सावरकर यह दावा करते है कि उनकी पुस्तक की ज़रा-ज़रा-सी बात ऐतिहासिक प्रमाणों पर आधारित है। इसी से पता लगता है कि इस पुस्तक के लिखने में यद्यपि उनका प्रधान उद्देश्य स्वतन्त्रता-आन्दोलन को बल पहुँचाना था, फिर भी वे तथ्यों से विचलित होकर भटके नहीं।

सावरकर के इस इतिहास की कहानी स्वयं बड़ी रोमांचकारी है, जो संक्षेप में इस प्रकार है। सावरकर ने इसे २४ साल की उम्र मे लन्दन में मराठी में लिखा था। हां, इसमे कुछ अध्यायों का अंग्रेजी मे अनुवाद कर वे फ्री इण्डिया सोसाइटी के सदस्यों को सुनाते थे। स्काटलैण्डयार्ड को इसका पता चला और उसके एजेन्टों ने मराठी पुस्तक का एक अध्याय चुरवा लिया। तब पुस्तक चोरी से भारत भेज दी गई, पर मराठी प्रेस के मालिकों ने इसे छापने से इन्कार किया। फिर अन्त में "अभिनव भारत" नामक क्रान्तिकारी दल का एक सदस्य, जो एक छापाखाने का मालिक था,

उसे छापने को तैयार हो गया। पर पुलिस को कुछ सुराग मिल गया। तब सब मराठी छापाखानों पर एक साथ दौड़ गई, पर इतने में किसी सहानुभूतिशील पुलिस अफसर ने उस छापेखाने वाले को खबर दे दी थी, और पुस्तक की पाण्डुलिपि वहां से हटा दी गई थी। बाद को यह पाण्डुलिपि पेरिस में लेखक के पास भेज दी गई। फिर मराठी पुस्तक को जर्मनी में किसी संस्कृत प्रेस में छापने की चेष्टा की गई, पर एक तो वहां प्रचलित नागरी लिपि पसन्द नहीं आई; दूसरे खर्च बहुत आ चुका था; तीसरे जर्मन कम्पोजीटर मराठी नही समझते थे। इस कारण इसे मराठी में प्रकाशित करने का प्रस्ताव त्याग दिया गया।

तब इसे अंग्रेजी में अनुवाद करके छापने की ओर ध्यान दिया गया। लन्दन में आई० सी० एस० आदि पढ़ने के लिए गये हुए मराठी छात्रों ने इसका बीड़ा उठाकर उसे सम्पूर्ण किया। फिर श्री० वी० वी० एस० अय्यर की अध्यक्षता में इसे छापने की चेष्टा हुई, पर पुलिसवाले चुप नहीं बैठे थे। तब अंग्रेजी पाण्डुलिपि पेरिस भेज दी गई, पर फ्रेंच सरकार ब्रिटिश सरकार की हिदायतों के अनुसार भारतीय क्रान्तिकारियों के पीछे पड़ी थी। कोई भी फ्रेंच मुद्रक इस पुस्तक को छापने के लिए तैयार नहीं हुआ।

अन्त में झांसा देकर हालैण्ड के एक छापाखाने में पुस्तक छपने लगी। पर फ्रेंच पुलिस और साथ ही ब्रिटिश पुलिस को अन्धकार में रखने के लिए क्रान्तिकारियों की ओर से खुल्लमखुल्ला यह कहा जाने लगा कि पुस्तक फ्रांस में छप रही है। जब पुस्तक हालैण्ड में छप गई, तो कुछ प्रतिया चोरी से फ्रांस में लाई गई कि उन्हें भारत तथा अन्य स्थानों में भेजा जाय। पर छपने के पहले ही पुस्तक ज़ब्त करके गैर-कानूनी घोषित कर दी गई थी।

यह बहुत ही अजीब बात है कि किसी पुस्तक को छपने के पहले ही ज़ब्त कर लिया जाय। पर ब्रिटिश सरकार इसी प्रकार की बातों पर अवलम्बित थी। इस ज़ब्ती की आज्ञा के विरुद्ध श्री सावरकर ने लन्दन टाइम्स में एक पत्र लिखा, जिसमें यह कहा गया कि जिस पुस्तक की प्रति सरकार ने देखी तक नही, उसे ज़ब्त करने का क्या अर्थ होता है। लन्दन टाइम्स ने इस पत्र को प्रकाशित करते हुए यह कहा कि जब सरकार को इस प्रकार की कार्रवाई करनी पड़ रही है, तो सरकार में कुछ न कुछ त्रुटि अवश्य है।

हालैण्ड में छपी हुई पुस्तकों की प्रतियां सर्वत्र पहुँचाई गई। पुस्तकों पर गलत रेपर लगाये गये, जैसे "पिकविक पेपर्स" इत्यादि। इस प्रकार पुस्तकें भारत में फैलीं, और जैसा कि लेखक का उद्देश्य था, इसने भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन को बल पहुँचाया। तथ्यों के संकलन की दृष्टि से यह पुस्तक बहुत सुन्दर है। १८५७ एक सैनिक गदर नहीं था, यह भारतीय स्वतन्त्रता का युद्ध था, इस बात को इसी पुस्तक ने स्थापित किया।

दूसरी पुस्तक जिसके सम्बन्ध में मैं कहना चाहता हूँ, वह है "बन्दी जीवन" जिसे

श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल ने लिखा। श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल श्री रासबिहारी के अन्यतम प्रधान सहकारी थे। रासबिहारी को लोग लार्ड हार्डिंग पर बम के सिलसिले में जानते हैं, पर वे वास्तविक रूप से प्रथम विश्व-महायुद्ध के युग में उत्तर भारत के क्रान्तिकारियों के नेता थे। शचीन्द्र बाबू को बनारस षड्यन्त्र में कालेपानी की सजा हुई। वे कालेपानी से १९१९ में आम माफी में छोड़े गये। देशबन्धु दास ने उनकी कहानी सुनी तो इतने जोश में आये कि उन्हें फौरन इस बात के लिए आह्वान किया कि वे देशबन्धु की बंगला मासिक पत्रिका "नारायण" में लिखें, इस प्रकार "बन्दी जीवन" का सिलसिला चला। इस पुस्तक का द्वितीय भाग सुप्रसिद्ध बंगला पत्र "वंगवाणी" में निकला। "बन्दी जीवन" बहुत दिनों तक उत्तर भारत के क्रान्तिकारियों के लिए एक बहुत महत्वपूर्ण पुस्तक रही। इस पुस्तक का अनुवाद हिन्दी तथा अन्य कई भारतीय भाषाओं में हुआ। बाद को यह ज़ब्त भी हो गई। दुःख है कि इसके परम विद्वान् लेखक देवली से लौटकर तपेदिक से मर गये। उनके तीन भाइयों को भी क्रान्तिकारी आन्दोलन में सजा हुई।

जिन दिनों शचीन्द्र बाबू का "बन्दी जीवन" धारावाहिक रूप से "वंगवाणी" में निकल रहा था, उन्हीं दिनों डा० भूपेन्द्रनाथ की पुस्तक "राजनैतिक इतिहास का एक अप्रकाशित अध्याय" भी उसमें निकल रहा था। मुझे स्मरण है कि हम नवीन क्रान्तिकारी उस पत्रिका पर किस तरह टूटते थे। "बन्दी जीवन" की तरह यह भी "आपबीती" नहीं थी, यद्यपि इसके लेखक स्वयं योरोप में भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन के अन्यतम पुरोधा हैं। डा० दत्त समाजशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् हैं, और उन्होंने इस विषय पर कई प्रामाणिक पुस्तकें लिखी हैं।

यों तो सावरकर, उल्लासकर दत्त, वारीन्द्र घोष, उपेन्द्र बनर्जी, अरविन्द, विजयकुमार, परमानन्द तथा अन्य कई क्रान्तिकारियों ने जेल-कहानियां लिखी हैं; पर यहां उनका उल्लेख नहीं किया जायगा; हाल में श्री यशपाल अपनी आत्म-कथा लिख रहे हैं। यह भी इतिहास की श्रेणी में आयगी ऐसा ज्ञात होता है।

अन्त में मैं अपनी लिखी पुस्तक "भारत में सशस्त्र क्रान्ति-चेष्टा का इतिहास" का नाम भर लूंगा जो १८५७ से लेकर नौ-सैनिक विद्रोह तक का इतिहास है। मैं जानता हूँ कि इसमें कई त्रुटियां हैं, पर यह जितने बड़े कैनवास को लेती है, उसे देखते हुए त्रुटि होना स्वाभाविक है। यह चौथे संस्करण में जा रही है। पहले ही बता चुका हूँ, यह पुस्तक सात साल तक ज़ब्त थी।

१८५७ के करीब का एक प्रगतिवादी बंगला नाटक

आज बंगालियों में कोई **'नीलदर्पण'** नाटक को नहीं पढ़ता। अवश्य मैं यहां पर उन लोगों को नहीं गिना रहा हूँ जो परीक्षा पास करने के लिए या साहित्य के इतिहास में गम्भीर अध्ययन करने के लिए इस पुस्तक को पढ़ते हैं। यह नाटक केवल साहित्य की दृष्टि से नहीं, हमारे राजनैतिक इतिहास की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण है। उसका महत्व कितना अधिक है, इस बात का इसी से अनुमान किया जा सकता है कि स्वयं बंकिमचन्द्र ने इस पुस्तक को बंगाल का "अंकलटाम्स कैबिन" बतलाया है।

यह नाटक नीलकोठी के साहबों के अत्याचारों के विरुद्ध लिखा गया था। यहां पर यह बताना आवश्यक है कि वे नीलकोठी के साहब कौन थे और नीलकोठी क्या थी। आजकल तो सभी रंग रासायनिक हैं। पर पहले नील से ही रंग बना करता था। मैं थोड़े से शब्दों में अपनी पुस्तक *"राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास"* से नील की खेती का इतिहास संकलित करता हूँ जिससे आलोच्य नाटक की पृष्ठभूमि समझ में आ जाय।

जब अंग्रेज आये उन्होंने बंगाल की जमीन को नील की खेती के उपयुक्त पाया। पहले पहल कुछ किसानों को इसमें फायदा भी रहा। स्वयं राजा राममोहनराय ने १८२९ में यह कहा था कि नील की खेती से किसानों को फायदा है। यदि किसानों पर ही इसका बोना न बोना, और बोना तो कितना बोना यह छोड़ दिया जाता तथा उन्हें अपनी उपज को स्वतन्त्रतापूर्वक बेचने दिया जाता, तो बात और होती।

पर यहां तो कुछ अंग्रेज कोठीवाले इसके एकाधिकारी हो गये और उन्होंने मनमाने ढंग से बर्ताव शुरू किया। यद्यपि ये अंग्रेज कोई सरकारी हैसियत नहीं रखते थे, पर अंग्रेज होने के कारण ही उन्हें मानों भारतीयों पर मनमानी करने का पट्टा

मिला हुआ था। वे जो चाहें सो करते थे।

यों तो देखने में ऐग्रीमेंट का रूप होता था, पर असल में किसान को कोई स्वतन्त्रता नहीं होती थी। नील की कोठी के कारिन्दे जाकर प्रत्येक खेत पर निशान लगा देते थे कि इस खेत में नील और इसमें धान बोया जायगा। किसान की क्या मजाल थी कि वह उसका उल्लंघन करे।

नीलकोठियों के साहबों का यह अत्याचार बीसियों वर्ष तक बंगाल में चला। ऐग्रीमेंट एक साल का होता था, पर असल में आजीवन गुलामी का पट्टा लिखा जाता था। हर साल जब हिसाब होता था तो नील की गाड़ियाँ देने के बाद नील के किसानों के हिसाब में कुछ भी नहीं निकलता था। नतीजा यह कि उन्हें और भी पेशगी लेनी पड़ती थी।

१८२२ में नील के साहबों के अत्याचारों के विषय में पहले उल्लेख "समाचार चन्द्रिका" और "समाचार दर्पण" नामक बंगला अखबारों में मिलता है। इसके बाद अक्षयकुमार दत्त ने "तत्त्वबोधिनी" पत्रिका में नील के किसानों पर अत्याचार के सम्बन्ध में लिखा था। अच्छी से अच्छी जमीन पर जबरदस्ती नील की खेती कराई जाती थी।

किसी-किसी क्षेत्र मे दस साल के ऐग्रीमेंट का पता मिलता है। यह भी पता चलता है कि जब नील के किसान अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह करने लगे, तो इस बहाने अत्याचारों को बन्द करने के बजाय अंग्रेज सरकार ने नील की कोठी के साहबों को मजिस्ट्रेट के अधिकार दे दिये। जो लोग अंग्रेजी साहित्य और अंग्रेजों की विज्ञान-निष्ठा को सामने रखकर साम्राज्यवाद के इन पहलुओं को भूल जाते हैं वे ब्रिटिश शासन की असलियत को नहीं समझ पाते।

नील के साहबों को यह अधिकार तो पहले से मिला हुआ था कि वे किसानों को जब चाहें तब अपनी कोठी में कैद कर लें। नील के किसानों में इससे बड़ा असन्तोष फैला हुआ था। इनमें आन्दोलन इस मात्रा तक पहुँचा था कि बड़े लाट लार्ड केनिंग १८५७ के विद्रोह से इसके सम्बन्ध में अधिक चिन्तित थे। उन्होंने लिखा है—

"करीब एक हफ्ते तक मैं इतना उद्विग्न था कि मैं दिल्ली के गदर के समय में भी नहीं था, और मुझे डर था कि यदि इस समय किसी नील के मालिकों ने भय या मूर्खता-वश एक भी गोली चला दी, तो उससे सम्भव है कि बंगाल के दक्षिणी हिस्से में प्रत्येक कारखाने में आग लग जाय।"

शायद इसी उद्विग्नता के कारण बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर जान पीटर नदी से बंगाल के देहातों का दौरा करने लगे। १८६० के १७ दिसम्बर को उन्होंने दौरे के बाद एक रिपोर्ट दी जिसमें उन्होंने यह कहा कि **"मैं ६०-७० मील तक भागीरथी तथा जमुना नदियों में नाव के द्वारा दौरा करता रहा तो उसमें मैंने देखा कि वह ६०-७० मील का किनारा अर्जी देनेवाले किसानों से भरा हुआ था। यहां तक कि गांव की औरतें तक जमा थी। ऐसा मालूम होता था कि जो लोग वहां पर अपनी**

फरियाद लेकर आये थे, वे नदी के दोनों किनारों पर स्थित दूर-दूर के गांवों से आये थे। मैं नहीं जानता कि आज तक किसी राजकर्मचारी के भाग्य में यह बात हुई कि नहीं कि लगातार १४ घंटे तक दोनों किनारों पर खड़े अर्जी देने वालों की कतारों के बीच से स्टीमर पर चले। सभी लोग बड़े अदब से मांग रख रहे थे, और यह स्पष्ट है कि वे लोग जिस विषय को लेकर आये थे उसके सम्बन्ध में वे बहुत गम्भीर थे। यह सोचना बेवकूफी होगी कि यह जो दसियों हजार लोग आये थे, और जिनमें स्त्रियां पुरुष तथा बच्चे भी थे उसका कोई अर्थ नहीं है।"

इसके पहले ही १८५९ में ५० लाख नील के किसानों ने हड़ताल कर दी थी। इसी की प्रतिध्वनि साहित्य में *"नीलदर्पण"* नाटक के रूप में हुई। इसे क्यों बंकिमचन्द्र ने बंगला का *"अंकलटाम्स कैबिन"* बतलाया—यह पहले जो कुछ लिखा गया उससे स्पष्ट हो गया होगा।

बंकिमचन्द्र ने यह लिखा—"दीनबन्धु मित्र को समाज के सम्बन्ध में अद्भुत ज्ञान था, और उनमें प्रबल सहानुभूति थी। इन्हीं के कारण वे नाटक लिखने की ओर अग्रसर हुए। जिन इलाकों में नील पैदा होता था, उनमें वे खूब घूमते रहते थे। वे अपने ही तजर्बे से जानते थे कि प्रजा पर किस प्रकार का अत्याचार हो रहा है। उनको इस प्रजा-पीड़न के सम्बन्ध में जितनी जानकारी थी, इतनी और किसी को नहीं थी। अपनी स्वाभाविक सहानुभूति के कारण उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ जैसे उन्होंने ही उन दुःखों को झेला हो। इसीलिए उन्होंने अपनी कवित्वपूर्ण लेखनी से यह दुःख-गाथा तैयार की। 'नीलदर्पण' बंगाल की टाम काका की कुटिया है। टाम काका की कुटिया ने अमेरिका के हब्शियों को गुलामी से मुक्त किया। उसी प्रकार से *'नीलदर्पण'* नील के गुलामों की गुलामी को मिटाने में बहुत कार्य कर सका।"

हम पहले यह बता दें कि यह पुस्तक किस प्रकार एक भयंकर राजनैतिक अस्त्र के रूप में हो गई। इस पुस्तक का अनुवाद अंग्रेजी में प्रकाशित हुआ। इससे इतना तहलका मचा कि इसके प्रकाशक पादरी जैम्सलंग पर मुकदमा चला और उन्हें एक महीने की कैद तथा एक हजार रुपया जुर्माना किया गया। शासकवर्ग के इस क्रोध का यह रूप विशेष ध्यान देने योग्य है कि इस पुस्तक के मूल लेखक को कोई सजा नहीं दी गई। अंग्रेजी में 'नीलदर्पण' के प्रकाशन से सरकार ष्ट स कारण हुई कि इससे शासकवर्ग के ढोंग में बाधा पड़ती थी। यहां फिर एक बार ब्रिटिश न्याय और अन्ततोगत्वा सब न्यायों के वर्ग-चरित्र को देख लें।

जिस मधुसूदनदत्त नामक व्यक्ति ने 'नीलदर्पण' का अनुवाद किया था, उसे भी सजा दी गई। फिर भी आन्दोलन चलता रहा। मैं फिर अपने *"राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास"* से उद्धृत करता हूँ—"आन्दोलन ने इतना जोर पकड़ा कि सरकार ने एक नील कमीशन बैठाया, पर इस कमीशन ने कोई अच्छी सिफारिश न की कमीशन ने उल्टा यह कहा कि नील की खेती होनी चाहिए। साथ ही उन्होंने नील

के किसानों के दुःखों को दूर करने के लिए कोई अच्छी सिफारिश नहीं की। सच तो यह है कि जब तक जर्मनी ने वैज्ञानिक ढंग से नील उत्पादन नही किया तब तक नील की खेती चलती रही। "भारतवर्ष में उस समय कोई नेतृत्व ऐसा उत्पन्न होता जो नील के किसानों के आन्दोलन को १८५७ के विद्रोह के साथ संयुक्त कर देता, तो इसमें सन्देह नही कि भारतीय इतिहास कुछ दूसरा ही होता।""

कुछ भी हो, नील के किसानों के विषय को लेकर एक नाटक लिखना बड़े साहस और सूझ की बात थी। इसलिए इसमें आश्चर्य की बात नही कि दीनबन्धु स नाटक को लिखकर बहुत प्रसिद्ध हु और उनका नाटक जनप्रिय हुआ।

दीनबन्धु का जन्म बंगला के १२३८ में हुआ, उनके पिता का नाम कालाचांद मित्र था। बचपन में हेयर स्कूल का छात्र रहते समय ही उन्होंने बंगला में लिखना आरम्भ कर दिया था। वे ईश्वरगुप्त के अनुयायी थे। ऐसा समझा जाता है कि उनकी पहली रचना "मानव चरित्र" नामक एक कविता थी जो ईश्वरगुप्त द्वारा सम्पादित "साधु रंजन" पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। इसके बाद तो वे बराबर कुछ न कुछ लिखते रहे। उनकी एकाध रचना इतनी प्रसिद्ध हुई कि जिस संख्या में वे छपी, पत्रिका की उस संख्या को फिर से छापना पड़ा।

दीनबन्धु ने जीवन को बहुत पास से देखा था। डाक-विभाग में एक मामूली बाबू के रूप में भरती होकर वे उस विभाग के एक बड़े अफसर हो गये थे, और इस नाते उन्हें मणिपुर से गंजाम और दार्जिलिंग से समुद्र तक बार-बार जाना पड़ता था। इसके अलावा उनमें यह आदत थी कि वे जहां पर भी दौरे पर जाते, वहां सरकारी काम समाप्त कर हर एक से मिलते। इस कारण हम यह देखते हैं कि वे छोटे से लेकर बड़े तक सब के जीवन से बखूबी परिचित थे।

जब उनका "नीलदर्पण" नामक नाटक प्रसिद्ध हुआ, तो वे एक पार्टी में बैठे हुए थे। किसी का परिचय अभी नहीं कराया गया था। उस पार्टी में नीलकोठी का एक बंगाली कारिन्दा भी था। किसी प्रकार से "नीलदर्पण" नाटक पर उसकी नजर पहुँची। इस पर उस कारिन्दा ने कहा—"साले ने हूबहू नील की कोठी में जैसे जो कुछ होता है, वैसा ही लिख दिया है। मालूम होता है जैसे हमारा कोई कर्मचारी ही लेखक है।"

दीनबन्धु ने यह बात सुनी, तो वे हंसे। उधर मेजवान ने झेंपते हुए दीनबन्धु का परिचय लोगों से कराया। तब वह कारिन्दा दीनबन्धु से माफी मांगने लगा। इस पर दीनबन्धु बोले—"आपके शब्द चाहे जैसे भी हों, पर आपने जैसी प्रशंसा मेरी की है, वैसी आज तक किसी ने नहीं की।"

दीनबन्धु के नाटक की इस वस्तुवादिता के कारण ही उनके नाटक में वह गुण आ गया जिससे वह उस युग में प्रसिद्ध हुए।

संक्षेप में नाटक की कथावस्तु यों है—

गोलोकचन्द्र और उनके नौकर साधु में बातचीत हो रही है। साधु यह कह रहा है कि अब इस देश को छोड़ देना चाहिए, पर गोलोक कह रहा है—यहां हमारे सात पुरखे रहते आये हैं। जो धान पैदा होता है, उससे साल भर चलता है, अतिथिसेवा होती रहती है और पूजा भी होती है। जो सरसों होती है उससे तेल मिलता है, और साठ-सत्तर बच जाते हैं। खेत का चावल, खेत की दाल, बाग मे तरकारी और पोखरे से मछली मिलती है। ऐसे देश को कैसे छोड़ा जाय ?

साधु ने कहा—पर अब तो ये बातें जाती रही। नील के साहबों के मारे अब तो नील बोना पड़ता है। उसका भी पैसा मिल जाता तो ठीक रहता।

दूसरे गर्भांक में भी किसान आपस में बाते कर रहे हैं कि नील की खेती के मारे सबकी आफत है। किसान यह आपस में कह रहे हैं कि गाय बैल बेचकर गांव छोड़कर भाग चला जाय। बात यह है कि किसानों की सारी जमीन पर नील की खेती होने लगी है।

वे लोग बात ही कर रहे थे कि इतने में अमीन और प्यादे आकर उन किसानों को बांधने लगे।

तीसरे गर्भांक में मिस्टर उड अपने दीवान को इसलिए डाँट रहा है कि वह अधिक अत्याचार नहीं कर रहा है। साहब कह रहा है—तुम साले डरपोक हो, नालायक हो, तुम डर गये हो, तुम घबड़ाते हो।

इस पर दीवान कह रहा है—हुजूर जब मैंने यह ओहदा लिया तो डर कैसा ? मैंने तो डर, लज्जा, मान-मर्यादा, सबको तिलांजलि दे दी। गोहत्या, ब्रह्महत्या, स्त्रीहत्या घर में आग लगाना—ये सब तो मेरे लिए अंग के आभूषण हो गये हैं। जेलखाना तो मेरे सिर पर नाचता रहता है।

इस पर साहब ने कहा—मैं बात नहीं मांगता काम मांगता हूँ।

इतने में वे ही दो किसान बंधकर आते हैं। दीवान जी को तो खैरख्वाही दिखानी थी, वे इन पर बहुत बिगड़ते हैं। कहते है—सुना है, तुम साहब को कैद करना चाहते हो।

इस पर वह किसान प्रतिवाद करता है। तब दीवान जी यह कहते हैं कि गांव में स्कूल बना है, इसी से राजद्रोह फैल रहा है। साहब कहते हैं कि मैं स्कूल बन्द करा दूंगा। इसके अलावा वे और भी बिगड़ते हैं।

दीवान जी कहते हैं—हुजूर, यह नीलवाले खेत में खेती नहीं कर रहा है—साले ने लेने को तो पेशगी के रुपये ले लिये, पर कहता है कि नील की खेती मुझ से नहीं होती। कहता है कि वक्त नहीं है।

इस पर उड साहब आपे से बाहर होकर कहते हैं—साला बड़ा हरामजादा है। पेशगी तू लेगा, और खेती मैं करूँ ? साला बड़ा हरामी है (जुते की ठोकर मारना) अभी तेरी मुलाकात श्यामचांद से कराता हूँ।

साहब ने अपने डंडे का नाम श्यामचांद रखा था। उसे उतार कर साहब जमाना शुरू करते हैं और किसान जोर-जोर से चिल्लाता है। इस पर साहब पराक्रम दिखलाने के लिए ब्लाडी, निगर तथा मां-बहन की गालियां देते हैं।

इसी प्रकार से यह नाटक चलता जाता है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का नग्न रूप सामने आ जाता है। मैंने पहले ही बतलाया कि अब यह नाटक न तो पढ़ा जाता और न खेला जाता है; फिर भी इस नाटक के अन्दर भारतीय इतिहास का एक अध्याय निहित है। इस नाटक को बंगला-साहित्य और साथ ही साथ भारतीय इतिहास की एक क्रोशशिला कहा जा सकता है। सच तो यह है कि इतिहास की किसी पुस्तक में नील की कोठियों में साहबों के देशव्यापी अत्याचार की कहानी इतने अच्छे ढंग से नहीं लिखी गई है।

मेरे उपन्यास

अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में विशेषकर उपन्यासों के सम्बन्ध में लिखना कई अर्थों में खतरे से खाली नहीं है। जब कोई लेखक अपनी रचनाओं पर लिखता है, तो उसमें सबसे बड़ा खतरा यह होता है कि वह शायद अपनी कृतियों में जो कुछ है, उससे अधिक बता जावे या कम बता जावे। मान लीजिए शेक्सपीयर अपनी रचनाओं की एक व्याख्या लिख जाते, तो उससे उन्हें समझने के बजाय कदाचित् उनकी रचनाओं के लिये बुराई ही होती। बात यह है कि यदि वे कुछ लिख जाते, तो वे अपनी कृतियों की एक सीमित व्याख्या ही कर जाते, जो उनकी रचनाओं के हक में अच्छी नहीं होती। शेक्सपीयर की तरह महान् कलाकारों को विभिन्न शताब्दियों में विभिन्न कारणों से, और कई बार तो परस्परविरुद्ध कारणों से सराहा जाता है।

इसलिये लेखक द्वारा लिखित व्याख्या हर हालत में प्रामाणिक नहीं होगी। जहां तक रचना किस परिस्थिति में की गई, लेखक पर क्या-क्या प्रभाव पड़े, याने क्या-क्या प्रभाव सज्ञान रूप से पड़े, लेखक प्रामाणिक बातें कह सकता है। पर उस रचना में क्या गुण दोष हैं, लेखक क्या कहना चाहता है, वह जो बात कहना चाहता है उसे ठीक तरह से अदा कर पाया था या नहीं, इन विषयों पर उसके वक्तव्यों का बहुत सीमित अर्थ होता है। क्या कोई पिता अपने पुत्र के गुण दोषों को सम्यक् रूप से दृष्टिगत रूप से देख पाता है? याने क्या वह अपने पुत्र को उस रूप में देख पाता है जिस रूप में समाज के सब लोग उसे देखते हैं या देखेंगे?

जिस प्रकार पिता को अपने पुत्र के सम्बन्ध में भावुकतापूर्ण आसक्ति होती है, उसी प्रकार लेखक को अपनी कृति के सम्बन्ध में आसक्ति होना स्वाभाविक है। सच कहा जाय तो अपनी कृति के प्रति आसक्ति पुत्र के प्रति आसक्ति से कहीं अधिक होती है। अपनी कृति के प्रत्येक शब्द का लेखक से नाड़ीगत सम्बन्ध होता है। उसका प्रत्येक दृश्य और परिस्थिति उसके हृदय के साथ अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध होती

है। उसका एक-एक स्वर मानों उसके हृदय की स्वरलिपि है। यह सच है कि जब कृति सम्पूर्ण हो जाती है और कुछ दिन निकल जाते हैं, तो वह उसके लिए बहुत कुछ बेगाना हो जाता है। बेगानेपन की यह भावना नई कृति की रचना के लिए जरूरी है, नहीं तो लेखक या कलाकार अपनी पूर्व कृति में उलझ कर रह जाय। पर किसी भी हालत में यह बेगानापन उस प्रकार का नही होता, जैसे केचुल छोड़ देने के बाद सांप उससे बेगाना हो जाता है। याने ऐसा तो नही होता कि दोनों में कोई सम्बन्ध ही नही रह जाय।

इसीलिए मैंने अपने "दुश्चरित्र" नामक उपन्यास की भूमिका में यह लिखा था—

"मैं उपन्यास अथवा नाटक की भूमिका लिखने में विश्वास नहीं करता; क्योंकि यदि उपन्यास या नाटक को पढ़ कर या उसके अभिनय को देख कर पाठक के निकट लेखक का वक्तव्य स्पष्ट नहीं हो जाता, तो केवल प्राक्कथन या वक्तव्य से अपनी कला के स्पष्टीकरण करने का प्रयास हास्यास्पद है। लेखक जो कुछ कहना चाहता है, साथ ही वह जो कुछ नहीं कहना चाहता है (यह अधिक महत्वपूर्ण है) या न कह कर भी कहना चाहता है (इसी में असली परख है) वह उसकी रचना से ही स्पष्ट हो जाना चाहिए। फिर भी कई बार अच्छे उपन्यासकार तथा नाटककार भूमिकाएँ लिखते हैं। इसका उद्देश्य केवल औसत दर्जे के पाठक के समक्ष अपनी कला का स्पष्टीकरण है, नहीं तो शायद वह उसे बिलकुल ही समझ न पावे।

यह मानते हुए भी कि औसत दर्जे के पाठक को किसी-किसी क्षेत्र में कुछ बताना नाटककार या उपन्यासकार के लिये उचित हो सकता है, मैं इसमें एक खतरा यह देखता हूँ, और वह खतरा लेखक के लिए ही है कि लेखक शायद स्वयं अपनी कला की समग्र रूप से परिक्रमा न कर पाये। सज्ञान कलाकार अपनी कला में जो कुछ डालता है, उसमें उससे अधिक भी हो सकता है। आमतौर से ऐसा होता ही है। ऐसी हालत में लेखक द्वारा अपनी कला की समीक्षा उस कला का स्पष्टीकरण न होकर उसे एक एसी सीमा में डाल देता है जो उसके लिए उचित नहीं है। उदाहरण के तौर पर यदि शेक्सपियर अपनी कला के सम्बन्ध में कुछ लिख जाते, तो उससे उनकी कला के चमत्कारों के खुलने में बाधा पहुँचती क्योंकि शेक्सपियर को विभिन्न युग में विभिन्न लोगों ने विभिन्न यहाँ तक कि परस्परविरोधी कारणों से सराहा है। ऐसे ही सब महान् कलाकारों का हुआ है। हमारे सामने बहुत कुछ प्रेमचन्द के सम्बन्ध में भी इस प्रकार के बहुमुखी तथा भिन्नमुखी विचार है।

आगे बढ़ने से पहले इस विषय पर प्रकाश डाला जाय कि जब मैं उपन्यास की भूमिका लिखने में विश्वास नहीं करता, तो मैंने 'दुश्चरित्र' की भूमिका क्यों लिखी। मैं स्वयं इस विरुद्ध व्यवहार की बात से परिचित हूँ, इसलिए कुछ विषयान्तर होते हुए भी यहाँ यह बताया जाय कि किन परिस्थितियों में मुझे यह भूमिका लिखने

के लिए मजबूर होना पड़ा। पुस्तक छप चुकी तो मुझे बताया गया कि प्रकाशक के नियमानुसार पहले के चार पृष्ठ छोड़ कर कम्पोज किया गया। मैंने बहुतेरा कहा कि बाबा मैं भूमिका लिखने में विश्वास नहीं करता। पर उन चार पृष्ठों को तो भरना ही था, इस कारण झख मार कर भूमिका लिखनी पड़ी, जिसमें मैंने भूमिका लिखने की परिपाटी का विरोध किया, चूंकि कुछ कहना ही था, इसलिए अन्त में यह भी कह गया कि मेरे निकट साहित्य स्वयं कोई लक्ष्य नहीं है, बल्कि वह जीवन के उन्नयन करने तथा उसे ऐश्वर्यशाली बनाने का एक साधनमात्र है। इसी कारण मैं इस प्राक्कथन में एक मध्यम मार्ग का अवलम्बन करते हुए केवल इतना ही सैद्धान्तिक रूप से बताने की चेष्टा करूँगा कि मैं उपन्यास तथा कहानी साहित्य की रचना की तरफ क्यों आकृष्ट हुआ। मेरे निकट साहित्य स्वयं कोई लक्ष्य नहीं है, बल्कि वह जीवन के उन्नयन करने तथा उसको ऐश्वर्यशाली बनाने का एक साधन-मात्र है।"

मैंने यह जो लिखा है कि मै यह कह गया, इससे यह मतलब न निकाला जाय कि मैने जो कुछ कहा, वह केवल स्थानपूर्ति के लिए कह गया। नहीं, साहित्य-रचना के सम्बन्ध में मेरा यही हार्दिक विचार है। पर इन बातों को एक उपन्यास की भूमिका में कहना मै सम्पूर्ण रूप से प्रासंगिक नही मानता। इसीलिये मैंने कह गया शब्द का प्रयोग किया है।

बर्नर्ड शा ऐसे महान् लेखक अपने नाटकों की सुदीर्घ भूमिकाएँ लिख गये हैं, इसलिए मै यह दावा नहीं करता कि इस सम्बन्ध में मेरा जो कुछ विचार है, वही एक-मात्र संगत विचार है। यह तो स्पष्ट ही है कि इस सम्बन्ध में दोनों तरह के विचार चल सकते है, पर शा तथा अन्य ऐसे लोगों की भूमिका में क्या सीमाएँ हो सकती हैं, उनकी तरफ मैं पहले ही इंगित कर चुका हूँ। यदि किसी नये विषय को लेकर कोई रचना प्रस्तुत की जाती है या किसी नई टैकनीक का प्रवर्तन करना है अथवा किसी पात्र या विषय को नये ढंग में पेश करना है, जैसे उदाहरणार्थ *"सीजर और क्लिओपेटरा"* में क्लिओपेटरा के चरित्र को अभिनव रूप में पेश किया गया है, तो उस परिस्थिति में भूमिका लिखने की गुंजाइश स्वतः उत्पन्न होती है। मामूली तरीके से अपनी कृति में क्या कहा गया है, इस बात को समझाने के लिए भूमिका के पुछल्ले की जरूरत मैं नहीं मानता।

यदि कलाकार का कोई वक्तव्य है, और वह उसकी कला से स्पष्ट नहीं होता, यदि लेखक का कोई दृष्टिकोण है और वह उसकी कृति से उभर कर सामने नही आ जाता, तो क्या भूमिका से उसकी पूर्ति हो जायगी। यदि हो जायगी, तो क्या यह उसी हद तक कला की न्यूनता नहीं होगी? वह कला ही क्या जिसका जादू सिर पर चढ़कर न बोले? अवश्य जैसा कि मैं बता चुका कई क्षेत्रों में भूमिका अपरिहार्य हो सकती है। एक तो मैं *"सीजर और क्लिओपेटरा"* का उदाहरण दे चुका। क्लिओ-पेटरा के सम्बन्ध में पहले के इतिहासकार तथा नाटककार कुछ इस प्रकार की धारणा

बनाये हुए थे कि चूंकि क्लिओपेटरा ने कुछ दिनों तक सीजर ऐसे अत्यन्त बुद्धिमान्, राजनीतिज्ञ और योद्धा के नथुने में रस्सी डालकर चलाया, इसलिए वह ग्रीक संस्कृति में पगी कोई विदुषी होगी, पर बर्नर्ड शा ने उसे बचकाना बुद्धि रखने वाली एक सुन्दरी के रूप में पेश किया। इस कारण भूमिका लिखना आवश्यक था। भूमिका का यह कारण तो समझ में आता है ।

इसी प्रकार जब किसी नई रचना-पद्धति का प्रवर्तन करना है या प्रचलित शैली से बहुत दूर जाना है, तब भी भूमिका उचित कही जा सकती है ।

जो कुछ भी हो, मैं इस क्षेत्र में कोई अन्तिम फैसला न तो देने जा रहा हूँ और न इसका कोई अवकाश ही है ।

मैं जिस प्रकार उपन्यास लिखने की ओर आकृष्ट हुआ, और जिस प्रकार एक के बाद एक उपन्यास लिखता गया, उसी का थोड़ा-सा वर्णन इस लेख में करूँगा ।

काकोरी षड्यन्त्र में बहुत लम्बी सजा पाकर मैं उस समय के संयुक्त प्रदेश और इस समय के उत्तर प्रदेश की केन्द्रीय जेलों में हवा के झोंकों से ताड़ित तृणखंड की तरह मारा-मारा फिरता रहा। अपना कोई वश नहीं था। जब १९२५ के २६ सितम्बर से लेकर ४ अप्रैल १९२७ तक करीब डेढ साल बनारस और लखनऊ के थाने और हवालात मे रहा, तो उस समय लिखने काब हुत कम प्रश्न था। पढ़ना बहुत तेजी से चलता रहा। बनारस जेल में रहते समय बाबू श्रीप्रकाश के निजी पुस्तकालय से तथा लखनऊ जेल की हवालात में रहते समय श्री चन्द्रभानु गुप्त के पुस्तकालय से बराबर पुस्तकें आती रहीं। काशी के बाबू शिवप्रसाद गुप्त के निजी पुस्तकालय से भी बराबर पुस्तकें आती रहीं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक साथी के निजी साधन भी थे, और हम लोग पुस्तकें भी बराबर खरीदते थे। पढ़ने के अतिरिक्त भाषाएँ सीखने का भी जोर रहा ।

पर जब कैदी बनकर नैनी केन्द्रीय जेल पहुँचा तो वहां पठन-पाठन की सारी सुविधाएँ छीन ली गई। कैदियों के टिकट पर यह लिख दिया गया कि पुस्तक सो भी केवल एक, रविवार और दूसरी छुट्टियों के दिन मिलेगी। इसकी तह में यह सिद्धान्त (बात यह है कि हर जगह हर मौके पर सिद्धान्त की छौंक लगाना यह आधुनिक जीवन की एक विशेषता है) बतलाया गया कि सख्त कैद होने के कारण अन्य दिनों के सम्बन्ध में यह समझा जाता है कि हम मशक्कत करते हैं। यहां ब्यौरे में नहीं जाऊँगा कि इस पर क्या-क्या लड़ाइयां हुईं, कितने अनशन करने पड़े इत्यादि। मैंने अपनी "*क्रान्तिकारी की आत्मकथा*" नामक पुस्तक में इन झगड़ों का कुछ विवरण दिया है। यहां केवल इतना ही बताना यथेष्ट है कि भीतर की लड़ाइयों तथा बाहर के आन्दोलनों के फलस्वरूप हमें पढ़ने की कुछ मामूली सुविधाएँ तो प्राप्त हो गई यानी आधे कानूनी और आधे गैर-कानूनी ढंग से एक साथ दस पन्द्रह तक किताबें केवल रविवार और छुट्टियों के दिनों में नहीं, दिन रात रखने की अनुमति दी गई। केन्द्रीय जेल बरेली में

गया, तो वहां जेलों के इन्स्पैक्टर जनरल ने लालटेन की अनुमति दे दी। यह हमारे लिए कितनी बड़ी खुशी की बात थी, इसकी कल्पना करना भुक्तभोगियों के लिए ही सम्भव है। हमें जब यह अनुमति मिल गई, तो हम खुशी से नाच उठे थे। हमें उस समय ऐसा अनुभव हुआ कि मानों हमारी आधी रिहाई हो गई।

हमने इन्हीं शब्दों में इस "रियायत" का स्वागत किया। जिन क्रान्तिकारियों को सुदीर्घ कैदें मिली हुई थीं, उनके लिए रात को पढ़ने की सुविधा बहुत ही बड़ी थी। अभी तक जेलों मे ए० बी० सी० वर्गीकरण का सूत्रपात नहीं हुआ था, यद्यपि काकोरी वालों के अनशनों में स्पष्ट रूप से उसका सूत्रपात हो चुका था। तथ्य तो यह है कि जब काकोरी वाले हवालात में थे उन दिनों लोगों ने एक अनशन किया था, जिसके फल-स्वरूप उन्हें वही विशेष व्यवहार प्राप्त हुआ था जो गोरे कैदियों को दिया जाता था। पर काकोरी वालों को यह व्यवहार मेडिकल ग्राउन्ड पर मिला था, जिसका नतीजा यह हुआ कि कैद पड़ते ही वह छीन लिया गया।

बात यह है कि विशेष व्यवहार मेडिकल ग्राउन्ड पर मिलने के कारण प्रत्येक जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट को यह अधिकार था कि वह चाहे उसे दे या न दे। यह पूछा जा सकता है कि जो व्यक्ति कल तक हवालाती रहते समय तक विशेष व्यवहार का अधिकारी था, वह आज कैद पड़ते ही मामूली कैदियों की तरह खान-पान का अधिकारी कैसे हो गया, याने उसका मेडिकल ग्राउन्ड कैसे टूट गया। पर असली बात यह थी कि जिस समय हम हवालात में थे, हमारे साथ प्रतिदिन अखबारों के सम्वाददाताओं का सम्पर्क होता था। यदि हम उन दिनों कुछ करते तो अखबारों की सुर्खियां बनती थीं, पर जब हमें कैद करके एक-एक दो-दो करके विभिन्न केन्द्रीय जेलों में बांट दिया गया तो स्वाभाविक रूप से सरकार का पलड़ा भारी पड़ गया। इसलिए मेडिकल ग्राउन्ड तो महज झोल था, यह एक धोखा था, और ऐसे ही धोखों पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद की गाड़ी चलती थी। ऊपर से तो यह साम्राज्यवाद बड़े-बड़े आदर्शों की बघार लगाता था, पर इसके आदर्शों के नीचे खूनी पंजा छिपा हुआ था।

फिर भी वर्षों की लड़ाई और बाहर से स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी ऐसे नेताओं के द्वारा आन्दोलन चलाये जाने के फलस्वरूप जेलों के अन्दर हम राजनैतिक कैदियों की जीत पर जीत होती गई। हमने बाहर रहते समय जिस संग्राम को चलाया था, जेल जाकर हमने उसी संग्राम को एक दूसरे धरातल पर चलाया। काकोरी वाले इस संग्राम की पहली कतार में बराबर बने रहे। करीब-करीब सब काकोरी वालों ने किसी न किसी रूप में जेल की बान बटाई, चक्की पिसाई, मूंज कुटाई आदि से इन्कार किया। इसके लिए बेड़ियां, खड़ी हथकड़ी, कोठरी, एक जेल से दूसरी जेल में चालान प्रति रात्रि जगह बदलकर कोठरी बन्द करना इत्यादि सज़ा बराबर चलती रही। यह एक बहुत ही लम्बी कहानी है।

लाहौर षड्यन्त्र वालों ने राजनैतिक कैदियों के लिए विशेष व्यवहार के

संग्राम को वहीं से उठा लिया, जहां काकोरी वालों ने उसे छोड़ दिया था। लाहौर वालों ने झगड़े को उठाया, तो इधर से काकोरी वालों ने भी उस लड़ाई में हाथ बँटाया। बहुत लम्बा अनशन चला, जिसमें श्री यतीन्द्रनाथ दास शहीद हो गये। पर इसके बाद भी सरकार झुककर नहीं झुकी और बहाने बनाने लगी। तब लाहौर वालों ने और केन्द्रीय जेल बरेली में काकोरी वालों ने अनशन तोड़ दिया, पर हम तीन काकोरी वालों ने यह कहकर अनशन तोड़ने से इन्कार कर दिया कि जब तक हमें उच्चवर्ग में रखने का हुक्म नहीं आता, तब तक हम अनशन नहीं तोड़ेंगे। बावन दिन के अनशन के बाद जब डाक्टरों ने यह रिपोर्ट दे दी कि अब एक सप्ताह से अधिक हमें जीवित रखना कठिन है, तब सरकार ने सब काकोरी वालों के साथ-साथ हमे भी बी० श्रेणी में रखा। इस प्रकार नये वर्गीकरण के अनुसार सबसे प्रथम उच्चवर्ग का व्यवहार पानेवाले हम लोग ही हुए। मजे की बात यह है और ब्रिटिश साम्राज्य किन सिद्धान्तों पर चलाया जाता था, इसका एक प्रकृष्ट नमूना यह है कि जिन लाहौर वालों में से श्री यतीन्द्रनाथ दास शहीद हुए, और जिन लाहौर षड्यन्त्र वालों को यह श्रेय प्राप्त हुआ कि उन्हीं के हाथों से राजनैतिक कैदियो की लड़ाई (जिस रूप मे होनी चाहिए थी उस रूप में तो नहीं) जयश्रीमंडित हुई, उन्ही लाहौर वालों को अन्त तक उच्च श्रेणी में नहीं रखा गया।

बी० श्रेणी में हो जाने के कारण अब हमें पढ़ने की सुविधा बहुत अधिक दी गई, पर लिखने की सुविधा काफी दिनों के बाद ही मिली। मुझे तारीख ठीक-ठीक याद नहीं, पर ऐसा अनुमान है कि सात साल जेल मे रहने के बाद यानी करीब १९३२ म हमें लिखने की सुविधा प्राप्त हुई, वह भी दिलचस्प है। एक दो सौ पृष्ठों की कापी और साथ ही एक कापिंग पेंसिल अपने दाम से खरीदने की इजाजत हमें मिल गई। इस कापी के पृष्ठ गिने हुए थे और प्रत्येक पृष्ठ पर जेलर की ओर से किसी ने हस्ताक्षर किये थे। यह हस्ताक्षर तथा संख्यीकरण इस कारण थे कि कहीं हम कापी में से पन्ने फाड़कर पत्र न लिख भेजें।

जेल अधिकारियों की ओर से इस प्रकार के एहतियात बिल्कुल मूर्खतापूर्ण थे। हम इस लेख में कानूनी रूप से जेल में पुस्तक-लेखन की बात कह रहे हैं, इसलिए हमने यह नहीं बताया कि सी० क्लास में रहते समय किसी प्रकार की कोई सुविधा न होते हुए भी हमने चोरी से कितनी ही चीजें बाहर लिख भेजीं। समय-समय पर पत्रों में प्रकाशनार्थ हम जेल की खबरें तो भेजा ही करते थे, पर हमने इन छुट-पुट सूचनाओं तथा लेखों के अतिरिक्त पूरी पुस्तकें लिखकर बाहर भेज दीं, वे छपीं, जब्त हो गई, और एक लेखक को तो हमारे ही द्वारा दिये हुए मैटर पर पुस्तक लिखने के कारण दो साल की सजा भी हो गई।

संक्षेप में वह कथा यों है—जब १९२७ में काकोरी षड्यन्त्र के कैदियों को लम्बी-लम्बी सजाएँ हुई, और हम में से चार व्यक्तियों को सर्वश्री रामप्रसाद बिस्मिल, राजेन्द्र-

नाथ लाहिड़ी, अश्फाकउल्ला, रोशनसिंह को फांसी की सजा हुई, तो देश में इस बात की बड़ी जबरदस्त मांग हुई कि इन शहीदों तथा उनके साथियों का परिचय प्राप्त किया जाय। बात यह है कि इनमें से कुछ लोग केवल स्थानीय रूप से परिचित थे। बाकी लोग बिल्कुल ही साधारण थे।

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी का प्रताप प्रेस काकोरी के शहीदों के सम्बन्ध में एक पुस्तक प्रकाशित करने के लिए तैयार था, पर मसाला नहीं मिल रहा था। उन दिनों मैं केन्द्रीय जेल बरेली मे पहुँच चुका था। वहां मेरे साथी श्री राजकुमारसिंह भी थे। वे कानपुर के ही थे, इसलिए उनके पास खबर आई कि वे प्रस्तावित पुस्तक के लिये कुछ मसाला दें। उन्हें बहुत कम बातें मालूम थी। पर उन्होंने और मैंने मिल कर शहीदों तथा उनके साथियों की कामचलाऊ जीवनियां लिख लीं। हमारी लिखी हुई चीजों में कुछ अन्य मसाला मिलाकर *"काकोरी के शहीद"* नामक पुस्तक छप गई। यह पुस्तक हाथों-हाथ बिक गई, दूसरा संस्करण छप रहा था कि पुस्तक ज़ब्त कर ली गई। बाद को ऐसा सुना जाता है कि इस पुस्तक के कई संस्करण दूसरे लोगों ने चोरी से निकाल दिये।

हमने उसी युग में एक दूसरी पुस्तक का मसाला भी तैयार किया था। बाद को चलकर चटगांव शस्त्रागार कांड के प्रमुख अभियुक्त होने वाले श्री गणेश घोष और श्री प्रतुल भट्टाचार्य उन दिनों केन्द्रीय जेल बरेली में नजरबन्द थे। हमने उनसे गैर-कानूनी रूप से सम्पर्क स्थापित किया और जेलर की चश्मपोशी का फायदा उठाकर हम उनसे मिलते भी रहे। उन दिनो नजरबन्दों की रिहाई के लिए बड़ा जबरदस्त आन्दोलन चल रहा था, और यह आशा की जाती थी कि वे शीघ्र ही छोड़ दिये जायेंगे। उन्होंने हमसे यह कहा कि बंगाल में काकोरी केस के सम्बन्ध में बहुत अधिक कौतूहल है, अतएव इस सम्बन्ध में हम उन्हे ब्यौरेवार मसाला दें। तदनुसार श्री राजकुमार और मैंने चोरी से लिख-लिख कर उन्हें पर्याप्त मसाला दिया। ये नजरबन्द साथी छूट गये, और उन्होंने श्री मणीन्द्रनारायण राय को यह उपकरण दिया, और बंगला में *"काकोरी षड्यन्त्र"* नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। "काकोरी के शहीद" नामक पुस्तक छपते ही जेल मे हमारे पास आ गई थी, पर "काकोरी षड्यन्त्र" नामक पुस्तक देखने का मौका न तो तब लगा, और न बाद को लगा, इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि मणीन्द्र बाबू ने कहां तक हमारे दिये हुए उपकरण का उपयोग किया। मणीन्द्र बाबू की पुस्तक भी ज़ब्त हो गई, केवल यही नहीं उन्हें शायद इसी पुस्तक के लिखने के कारण दो साल की सजा भी हो गई।

इस प्रकार सरकारी रूप से लिखने की अनुमति मिलने के पहले ही हम बहुत कुछ लिख चुके थे, और उस लिखने से इतिहास बन चुका था, पर जब हमें लिखने की अनुमति मिली, और वह कापी मिली तो बहुत खुशी हुई। इस कानूनी अनुमति से हमें कई तरह के लाभ हुए। पहले जो कुछ भी लिखा था; पहरेदारों, नम्बरदारों और जमां-

दारों की आंख बचाकर लिखा था, पर अब खुलेआम लिखा जा सकता था । हमारे रख-वालों में इतनी तमीज नहीं थी कि वे यह समझ सकें कि कितना लिखना कानूनी है और कितना गैरकानूनी ।

मैं अपने लिखने का पूरा इतिहास यहां बताने नहीं जा रहा हूँ। मैं तो यह बताना चाहता हूँ कि किन परिस्थितियों में और किन कारणों से उपन्यास लिखने की ओर झुका । जेल में जो वातावरण था, उसकी पृष्ठभूमि स्पष्ट करना जरूरी था। कई साल तक मैं मुख्यतः कविताएँ लिखता रहा । कविताएँ या तो बंगला में होती थीं या कुछ हद तक अंग्रेजी में । जेल में आने के पहले ही मैं बंगला और हिन्दी में लिखने लगा था, बंगला में अधिक और हिन्दी में कम । जब बात छिड़ गई तो यह भी बता दिया जाय कि मैंने बंगला में मुख्यतः हिन्दी के कवियों पर ही लिखा । पर जेल में अनुमति मिलने पर मैंने बंगला में ही इस कारण लिखा कि जेल के अधिकारी यदि उसे देखें, तो समझ न पावें ।

कविताएँ लिखते-लिखते मैंने कुछ ऐसा अनुभव किया कि मेरे जीवन का जो लक्ष्य है, वह पद्य में उतनी अच्छी तरह अदा नहीं हो सकता, जितनी अच्छी तरह वह गद्य में अदा हो सकता है । दूसरे शब्दों में गद्य को मैंने वर्तमान जीवन की समस्याओं के सम्बन्ध में अधिक उपयोगी समझा । मैंने टाल्सटाय, रोमांरोलां, अनातोल फ्रांस आदि जितने भी महान् साहित्यकारों की रचनाएँ पढ़ीं, उनसे मुझे गद्य लिखने की अनुप्रेरणा मिली । उपन्यासों की तरफ विशेष झुकाव हुआ, क्योंकि मैंने यह देखा कि अपने वक्तव्य को कहने का सबसे अच्छा साधन उपन्यास है । साथ ही मैंने उन्हीं दिनों यह हृदयंगम कर लिया कि वक्तव्य को लट्ठमार तरीके से कहने से कुछ हासिल न होगा, उसे कलात्मक ढंग से कहना पड़ेगा ।

इस प्रकार मैंने इस बार बारह वर्ष के जेल जीवन के अन्त की ओर दो उपन्यास और बहुत सी कहानियां लिखीं । ये सब प्रारम्भ में बंगला में ही लिखी गईं । बाद को मैंने स्वयं इनका स्वतन्त्र अनुवाद हिन्दी में किया । ये दो उपन्यास हिन्दी में "*जय यात्रा*" और "*अवसान*" के नाम से प्रकाशित हुए ।

प्रथम उपन्यास के सम्बन्ध में एक दिलचस्प बात यह भी है कि एक अनशन के दौरान में मेरे दिमाग में "अवसान" आया । इस उपन्यास में मौलिकता बहुत ही इस माने में है कि यह हमारे साथ के एक कैदी ही की जीवनी पर आधारित है । जब भी जेल अधिकारियों से लड़कर या अन्य किसी कारण से अनशन करता था, तो पहले ही दिन अंधेरी कोठरी में डाल दिया जाता था । सब पुस्तकें आदि छीन ली जाती थीं । इसलिए अवचेतन प्रबल हो जाता था । मन की गहराइयों में न जाने कब की खोई हुई, भुला दी हुई बातें अंगड़ाई लेकर उठ खड़ी होती थीं, और तपःक्लिष्ट शरीर से छिटकने वाली कल्पनाओं से उद्भासित होकर एक अजीब रूप में सामने आती थीं । मैंने इसी प्रकार अथ से इति तक अर्द्धविराम और विरामचिह्नों सहित पूरे उपन्यास को मान-

सिक रूप से लिख डाला। कागज पेंसिल छीन ली गई थीं, और यदि छीन भी न ली जातीं, तो अनशन से उत्पन्न कमजोरी के कारण लिख भी नहीं पाता। मैं समझता हूँ कि उस समय लेखन-सामग्री का छिन जाना ही मेरे लिये अच्छा रहा। क्योंकि जिस तेजी से मैं "अवसान" के कथानक तथा वार्तालाप को प्रत्यक्ष कर रहा था, उस तेजी से उसे कागज और स्याही की कैद में बांधना सम्भव न था। मैंने जिस प्रकार इस उपन्यास को प्रत्यक्ष किया और उसकी सृष्टि में मुझे जो आनन्द आया, उसके सामने हफ्तों तक न खाने की तकलीफ कुछ भी नहीं मालूम पड़ी।

अनशन में पड़ा होने पर भी और शरीर की शक्ति यत्परोनास्ति क्षीण और क्षीयमाण होने पर भी अपनी सफलता पर मैं बार-बार शारीरिक रूप से तो नहीं, मानसिक रूप से उछल-उछल पड़ता था। मुझे उन दिनों जिस प्रकार की अनिर्वचनीय अनुभूति हुई, वह बाद को फिर कभी नहीं हुई। बाद को मैंने कई बार अनशन किये और कई बार अंधेरी कोठरियों में बन्द भी किया गया, मैंने सज्ञान रूप से चाहा कि जो अनुभूति उस बार हुई थी, वही फिर से हो, पर चेष्टा करने पर भी मैं उस अवस्था में फिर नहीं पहुँच सका। आज भी जब मै उस वातावरण और अनुभूति का स्मरण करता हूँ, तो मेरे रोंगटे उदग्र और उन्मुख होकर मानो उस अनुभूति की आशा में खड़े हो जाते हैं। यदि मैं अध्यात्मवादी होता, तो पता नहीं इसके सम्बन्ध में क्या सोचता। पर मै अब यही सोचता हूँ कि यह वही अवस्था थी जिसे अनुप्राणित अवस्था कहते है, और अनशन से उत्पन्न शारीरिक, मानसिक जटिलताओं के कारण यह मेरे सामने उस रूप में प्रकट हुई।

जो कुछ भी हो, मैं जिस परिस्थिति में तथा जिन कारणों से उपन्यास की ओर झुका उसे कुछ-कुछ स्पष्ट करने की चेष्टा की गई। जैसा कि मैं पहले ही बता चुका हूँ। इस कैद में केवल दो ही उपन्यास लिखे गये और मैं यह भी बता चुका हूँ कि मैं उपन्यासों की व्याख्या करना नहीं चाहता, फिर भी मैंने इन उपन्यासों में क्या कहना चाहा है, उसे संक्षेप मे कहना चाहूँगा। कह पाया या नहीं, यह दूसरों के लिए विचार्य है।

"*अवसान*" मजदूर-जीवन-सम्बन्धी एक उपन्यास है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यह मजदूर-जीवन तक ही सीमित है। जिस समय मैंने यह पुस्तक लिखी, उस समय तक मै लगभग दस साल जेल में रह चुका था, और सैंकड़ों कैदियों के अन्तरंग जीवन से परिचित हो चुका था। जो लोग बाहर कभी सच नहीं बोलते, पुलिस के अत्याचार जिनसे सच कहला नहीं पाते, अदालत में खड़े होकर जो लोग अन्त तक न्यायाधीश और जूरी या असेसरों को वास्तविकता के सम्बन्ध में अन्धेरे में रखते हैं, वे जेल में आते ही अपने साथियों से सारी बातें कह देते है। इसमें सन्देह नहीं कि वीरता के सम्बन्ध में गलत धारणा होने के कारण वे कई बार अपने अपराधों का अतिरंजित वर्णन पेश कर देते हैं, पर इन लोगों के साथ रहते-रहते नीर-क्षीर-विवेक करना आ जाता है,

और यह मालूम करना कोई कठिन नहीं होता कि कहां यह सच बोल रहा है, और कहा यह लनतरानियां हांक रहा है। साधारण कौतूहल के अतिरिक्त मैंने जेल जीवन का फायदा उठाकर अपराध-विज्ञान का भी अध्ययन शुरू कर दिया था। अपराध-विज्ञान की पुस्तकों मे जो कुछ पढ़ता था, उसे अपने सामने मौजूद विशाल अपराधी-शाला के टाइपों की कसौटी पर कसकर देखता था। इसके अतिरिक्त मानवीय तथा एक सम्भव उपन्यासकार की दिलचस्पी तो थी ही।

मैंने इन अन्तरंग कथाओं से यह उपसंहार निकाला कि जो भी अपराधी होता है, उसके लिए समाज या सामाजिक व्यवस्था जिम्मेदार है, और अपराधी एक प्रकार का रोगी मात्र है। अवश्य इसका अर्थ यह कदापि नही है कि प्रत्येक अपराधी सुधर ही सकता है। जैसे प्रत्येक रोगी पूर्ण स्वास्थ्य नही प्राप्त कर सकता, उसी प्रकार प्रत्येक अपराधी अपने जीवन मे स्वस्थ नागरिक नहीं बन सकता। कम से कम इस समय तक हमारे ज्ञान की यही दशा है।

मैंने अपराध विज्ञान पर अपनी खोजों के सम्बन्ध में "*अपराध*" नाम से एक पुस्तक लिखी है, यहां उसके उपसंहारों को बताने की आवश्यकता नही है, पर मैंने ऊपर यह जो बताया कि अपराधी बनने के लिए समाज जिम्मेदार है। इसी आधार पर "अवसान" लिखने की चेष्टा की गई। इस उपन्यास में यह दिखलाया गया कि किस प्रकार दो बिल्कुल स्वस्थ प्राणी--बलखंडी और मुनियां परिस्थितियो की थपेड़ के कारण एक तो अपराधी और दूसरी वेश्या बन जाती है। यद्यपि मुनिया—अन्त तक वेश्या बनी रहती है, पर उसका चरित्र ऐसा है कि बरबस यह कहने को जी चाहता है कि "भले ही तुम सती नामधारिणी न हो, तुम किसी भी सती से श्रेष्ठ हो।" वेश्या के प्रति जो घृणा उत्पन्न होनी चाहिए, वह समाज के प्रति उत्पन्न होती है। इसी प्रकार बलखंडी सब मजदूरों में साहसी है, क्योंकि और लोग हड़ताल मे पराजित होकर मिल मे उल्टे पांव लौट जाते है। पर बलखंडी डटा रहता है, नहीं लौटता, और परिस्थितियों के सोते में बहता हुआ एक अपराधी हो जाता है, जैसे मजदूर नेताओं का पूंजीपतियों से मिल जाना, इत्यादि।

बलखंडी की बात जरा विस्तार से कहूँगा। उससे पहली बार भेंट होते ही मेरे मन पर यह प्रभाव पड़ा कि इसमें कुछ विशेषता है। शरीर से वह हट्टा-कट्टा था, पर कद में नाटा होने के कारण वह जितना तगड़ा था, उससे कहीं अधिक तगड़ा मालूम होता था। यहां यह बता दिया जाय कि उसकी तरफ मेरा ध्यान न तो उसके चेहरे के कारण गया, जो वाकई बहुत सजीव था, और न उसके हट्टे-कट्टेपन के कारण ही गया। जेल में हर तरह के मनुष्य आते है और उस दृष्टि से उसे मनुष्यों का एक चिड़ियाखाना कह सकते हैं।

बलखंडी की तरफ मेरा ध्यान उसकी कर्मठता के कारण गया। प्रत्येक सख्त कैद प्राप्त कैदी को कुछ न कुछ काम करना पड़ता है। किसी को चक्की पीसनी पड़ती

है, तो किसी को कोल्हू पेरना पड़ता है, तो किसी को रस्सी बटनी पड़ती है। और भी सैकड़ों काम होते है। ये सारे काम मजबूरी से कराये जाते हैं। उनमें कैदियों को कोई भी दिलचस्पी नहीं होती, और वे सजा के अंग के रूप में कैदियों के द्वारा कराये जाते हैं। ऐसी अवस्था में कैदी स्वाभाविक रूप से इन कामों से बचता है। जहां तक बन पड़ता है वह बीमारी बनाकर अथवा उसे बढ़ाकर काम से बचता है। एक तो अपराधियों में, मेरा मतलब पेशेवर अपराधियों से है, काम करने के प्रति वितृष्णा होती है, तभी वे श्रम के साधु और सहज उपाय को छोड़कर अपराध करते है, दूसरा जेल में श्रम सजा का अंग होने के कारण कैदियों को काम से बचने की कोशिश करना स्वाभाविक है।

जब बात चल पड़ी तो यह बता दूं कि मैंने कई कैदियों को देखा जिन्होंने काम से बचने के लिए जान बूझ कर भयंकर रोग बना लिया। यहां तक कि अपने एक अंग को बेकार कर डाला। यह एक दूसरी जेल की बात है, मैंने देखा कि एक कैदी ने अपने पैर में ऐसी सूजन पैदा कर ली कि उसके पैर को काट डालना पड़ा। उस कैदी ने किसी जहरीले पानी में सूई तागा डुबो कर उसे अपनी पिंडली के आर-पार कर दिया था। रात भर सूई तागा उसकी पिंडली में पड़ा रहा, याने उसे उसने निकाला नहीं। इसके फलस्वरूप उसका पैर सूज गया, और जैसा कि मै बता चुका दो चार दिन इलाज के बाद उसकी हालत ऐसी हुई कि उसका पैर काट डालना पड़ा।

पर बलखंडी को मैंने बिल्कुल दूसरे ही ढंग का पाया। काम में वह हर समय मुस्तैद रहता था। अपने हिस्से का काम तो वह दिन के दस साढ़े दस बजे समाप्त कर देता था। इसके बाद वह दूसरों का काम कराने लग जाता था। कभी किसी का काम करा देता, तो कभी किसी का। स्वाभाविक रूप से ऐसा आदमी कैदियों में बहुत जनप्रिय हो गया। उन दिनों हम राजनैतिक कैदियों से भी जेल अधिकारियों का काम के सम्बन्ध में कुछ झगड़ा चल रहा था। मुझे उन दिनों रस्सी बटने का काम दिया गया था। नियम के अनुसार हमें नित्य तीन सौ गज मूज की रस्सी बटनी चाहिए थी, पर मैंने कभी तीस गज से अधिक नही लिखाया। यह एक राजनैतिक लड़ाई थी और हमारा यह दावा था कि राजनैतिक कैदियों से इस तरह का काम नहीं लेना चाहिए।

बलखंडी को जल्दी इस झगड़े की बात मालूम हो गई। उसने आकर मुझ से कहा—बाबू झगड़ा क्यों करते हो, मै तुम्हारी रस्सी बट दिया करूंगा।

मैंने उसे समझाया कि बटने न बटने की बात नहीं है, जिस काम को तुम लोग कर सकते हो उसे मैं भी कर सकता हूँ। यह तो एक उसूल की लड़ाई है।

बलखंडी मुंह बा कर रह गया। यहीं से फिर उसकी मुझ से अन्तरंगता शुरू हुई। उसने बताया कि वह उसूल का आदमी है। इस पर मेरे कान खड़े हो गये, मैंने शायद उसे कुछ अविश्वास की दृष्टि से देखा। मैंने उसके कम्बलकोट से लटकती हुई लकड़ी की तख्ती को देखा, जिसमें आंकड़ों में कैदी का बहुत संक्षिप्त इतिहास जैसे

किस दफा में सजा हुई है, कब छूटेगा, कितनी सजा है—ये बातें लिखी रहती हैं। उस तख्ती में देखा तो उसको ३७९ अर्थात् चोरी की दफा में सजा हुई थी। उसी तख्ती में यह भी लिखा था कि उसकी दो मिसलें थी, याने इससे पहले उसे दो बार सजा हो चुकी थी। यह तो साफ ही था कि उसे चोरी ही में सजा हुई होगी।

ऐसे व्यक्ति के मुंह से सिद्धान्त की बात सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। यह छोटे मुह बड़ी बात मालूम हुई। मैंने पूछा—तो क्या तुमने चोरी नहीं की ?

बलखंडी ने जल्दी से कहा—मैंने चोरी की थी—कहकर वह और कुछ कहना चाहता था पर मैंने उसकी वाक्यधारा को बीच में ही रोककर चुनौती के स्वर में कहा—फिर ?

इसके बाद उसने जो कुछ सुनाया, उससे सचमुच यह ज्ञात हो गया कि वह सिद्धान्त का आदमी था। वह एक मामूली मजदूर था। मिल में काम करता था। वहां एकाएक मालिकों के द्वारा मजदूरी घटाये जाने के कारण उसने अन्य सब मजदूरों के साथ हड़ताल कर दी। पता नही क्या बात हुई, उसका तो कहना था कि मजदूरों के नेता मिल-मालिकों से भीतर-भीतर मिल गये, और हड़ताल बीच ही में समाप्त कर दी। उसने कहा कि सब मजदूरों ने सार्वजनिक रूप से कसम खाकर प्रतिज्ञा की थी कि जब तक मांग पूरी नही होगी, तब तक हडताल समाप्त नही होगी। पर सब ने नेताओं के बहकावे में आकर हडताल तोड़ दी। उसे भी लोगों ने फिर से मिल में काम करने के लिए कहा, पर वह नही माना।

यहां तक तो बात बिल्कुल समझ में आ गई, मैंने उसको ध्यान से देखा, क्योंकि यदि उसकी बात सच थी, तो वह उसी वस्तु का बना प्रमाणित होता था, जिससे क्रान्तिकारी बने होते हैं पर चोरी और इस वस्तु के अन्दर कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं पड़ा।

इस कारण मैंने उसको शायद कुछ हतबुद्धि दृष्टि से देखा। मै न तो उस पर विश्वास ही कर सकता था, और न उसका अविश्वास ही कर सकता था। कामचोर तो वह था नहीं, जो एक अपराधी का प्रथम लक्षण होता है, इसलिए उसकी बातों को हँस कर उड़ा देना सम्भव नहीं था।

उसने बाद को जो कुछ बताया, उससे उसके दावे का समर्थन हुआ। मिल से अलग हो जाने के बाद वह इधर-उधर मजदूरी करने लगा। कभी किसी का बक्स उठाकर स्टेशन तक पहुँचा आता, इससे चार छः आने मिल जाते, कभी और कोई काम करता। पर इससे जो आमदनी होती, उससे उसका गुजारा नहीं होता था, याने मुश्किल से होता था। धीरे-धीरे वह बुरी संगत में पड गया, ताड़ी पीने लगा, और अब चूंकि ताड़ी पीने के कारण उसका खर्च और बढ़ गया, इसलिए अपराध की ओर उसका रुझान स्वाभाविक ही था।

पहली बार जब उसने अपराध किया तो उसे पता ही नहीं लगा कि वह

अपराध कर रहा है। जो कुछ भी हो, अपराध से उसे पैसे मिलने लगे, और उसका खर्च चलने लगा। इस प्रकार वह अच्छे-खासे ईमानदार मजदूर से एक अपराधी में परिणत हो गया। यद्यपि पहली बार वह जिस चोरी में गया था, वह उसमें अपनी अनजान में ही गया था, याने उसके साथियों ने उसे बताया नहीं था कि वे चोरी करने जा रहे हैं। पर बाद को चलकर वह स्वयं एक मंजा हुआ अपराधी हो गया। उसकी सब झिझक नष्ट हो चुकी थी, और वह चोरी करने में खूब पटु हो गया था।

यहां तक बलखंडी की जो कहानी थी, उसमें कोई विशेषता नहीं थी। बरेली सेन्ट्रल जेल में जमा सैकड़ों चोरों की यही जीवन-कहानी थी। हां, बलखंडी के जीवन में एक विशेषता थी, वह यह कि एक हड़ताली मजदूर के नाते श्रमिक नेताओं के विश्वासघात के कारण उस पर विपत्ति आई थी, नहीं तो वह क्रान्तिकारी मजदूरों के लिये एक उज्ज्वल आलोकगृह के रूप में होता।

इतने पर भी उसका जीवन एक उपन्यास के पात्र बनने लायक नहीं होता। आगे जो कुछ बताऊँगा उससे पता लगेगा कि उसके जीवन में और कौन सी घटनाएँ थीं, जिनके कारण मैंने उसे इस लायक समझा कि उसे एक उपन्यास का पात्र बनाऊँ।

बलखंडी की स्त्री जिसका नाम मैंने अपने उपन्यास में मुनियां रखा, एक सुन्दरी थी। पहले इस तरफ उसके साथियों का ध्यान नहीं गया था। बलखंडी की तरह रूखे-सूखे व्यक्ति की स्त्री सुन्दरी होगी, यह दूसरे चोरों को विश्वास नहीं था। पर एक दिन यह भेद बलखंडी के एक साथी चोर पर खुल गया।

यह भेद जिस प्रकार खुला, यह भी बडा दिलचस्प है। एक दिन रात को बलखंडी और उसके साथी चोरी पर गये थे। वहां कुछ घटना-चक्र ऐसा हुआ कि माल तो अच्छा मिला, पर अभी माल बांट ही रहे थे कि कोई आहट हुई, और बलखंडी सारा माल लेकर अपने घर भाग गया। जब अगले दिन बँटवारा हुआ तो बलखंडी के प्रधान साथी को ऐसा मालूम हुआ कि बलखंडी ने एक अंगूठी गायब कर दी है। इसी की तलाश में वह चुपके-चुपके बलखंडी के घर पहुँचा। घर जाने में उसका विचार केवल अँगूठी का पता लगाना था। यह पूछा जा सकता है कि किसी के घर में जाकर अँगूठी ऐसी छोटी-सी चीज का पता कैसे लग सकता है।

पर घटनाएँ कभी-कभी बड़ी अद्भुत हुआ करती हैं। बलखंडी का चोर साथी उसके घर में जाकर क्या देखता है कि बलखंडी की स्त्री की उंगलियों में अँगूठी पड़ी हुई है। इसके साथ ही वह आविष्कार करता है कि बलखंडी की स्त्री बड़ी सुन्दर है। उस साथी को दालमंडी की वेश्याओं का अनुभव था। उसने मन में तौल कर देखा कि मुनियां एक तरफ, और दालमंडी की सारी वेश्याएँ दूसरी तरफ। अँगूठी का सुराग पाकर उसे अधिक खुशी हुई या एक अप्रत्याशित स्थल में ऐसी सुन्दरी का आविष्कार कर उसके मन में अधिक चीस पैदा हुई यह कौन जाने। आया तो था वह अँगूठी का उद्धार करने, पर वह अपने मन को भी खो चला। उसने

मुनियां को वह अँगूठी प्रेमोपहार में देनी चाही।

इस प्रकार एक गुत्थी पैदा हुई, जिसका सुलझाव इस प्रकार हुआ कि बलखंडी के उस साथी ने यह निश्चित कर लिया कि बलखंडी से छुटकारा प्राप्त करना चाहिए। इसके बिना मुनियां को प्राप्त करना असम्भव था।

इसके लिए उसने कौशल से काम लिया। सांप भी मरे और लाठी भी न टूटे। बलखंडी से लड़ झगड़ कर पार पाना मुश्किल था, अर्थ के लिए बलखंडी कितना भी पिशाच बन गया हो, उसे इस बात के लिए राजी नही किया जा सकता था कि वह अपनी स्त्री को उसके हाथ किसी भी दाम पर बेचे। इसलिए उसे अपने मार्ग से हटाना आवश्यक था।

चोर लोग आसानी से हाथापाई या हत्या के लिए तैयार नहीं होते। इस कारण बलखंडी के साथी ने दूसरे ही उपाय मे उससे छुटकारा प्राप्त किया। एक दिन वे एक साथ चोरी करने गये। बलखंडी भीतर गया और वह साथी बाहर पहरे पर रहा। जब बलखंडी भीतर घुस गया, तो साथी मोड के पुलिस वाले के पास पहुँचा, और उसे बताया कि अमुक मकान में चोर घुसा है, और वह अमुक ढंग से पकड़ा जा सकता है। मोड का पुलिसवाला दौड़ा, उसने दो चार राहगीरों की सहायता से बलखंडी को रंगे हाथों पकड़ लिया। इस प्रकार साथी निष्कंटक हो गया।

अब साथी मुनियां के पास पहुँचा, और उससे बोला कि बलखंडी चोरी में गिरफ्तार हो गया। स्वाभाविक रूप मे वह स्त्री बहुत घबडा गई। साथी ने उसका ढाढस बँधाया। उसने कहा कि इसमें कोई घबड़ाने की बात नही है क्योंकि वकील लोग बुरे से बुरे अपराधी को छुड़ा लेते हैं। पर उस बेचारी को वकीलों का क्या पता था। उसने तो केवल अस्पष्ट रूप मे सुन ही रखा था कि वकील होते हैं, पर वे कहां रहते हैं, कहां मिलते हैं, उनकी क्या फीस होती है यह उसे कुछ भी पता नही था।

इस कारण बलखंडी की पैरवी का सारा भार साथी पर पडा। इस नाते वह बार-बार मुनियां के पास आने-जाने लगा। पर उसकी दाल नही गली। पैरवी तो उसने खाक भी नही की, पर उसने पैरवी के बहाने मुनियां के पास जो सारे जीवन की पूँजी के रूप में दस-पांच रुपये थे, उन्हे खीच लिया। यह भी जरूरी था क्योंकि मुनियां को सम्पूर्ण रूप से अपने कब्जे में लाने के लिए उसे सम्पूर्ण रूप से निःस्व बनाना जरूरी था। तभी सफलता की आशा थी।

बलखंडी को सजा हो गई, पर साथी ने मुनियां को आशा दिलाई कि वह हाई-कोर्ट से छूट जायगा। बलखंडी का चालान हो गया, साथी के साथ मुनियां उससे मिलने इलाहाबाद पहुँची, और मुट्ठीगंज की एक धर्मशाला में ठहरी। यहां पर साथी ने मुनियां के साथ धोखा किया।

इसी प्रकार कहानी में गुत्थियों पर गुत्थियां पैदा होती हैं। आज इतने सालों बाद मेरे लिये यह कहना कठिन है कि मेरे उपन्यास "अवसान" में बलखंडी का जो

चित्र खींचा गया है, उसमें किस जगह पर कल्पना का गोश्त-पोश्त है और किस जगह पर सत्य है। पर इतना मैं कह सकता हूँ कि बलखंडी ने मुझे बहुत प्रभावित किया, और उसके जीवन की असफलता के अन्दर मुझे मजदूर वर्ग के संग्राम की ही एक झांकी दिखाई पड़ी। मुनियां तथा अन्य चरित्रों में भी मैं अपने देश की स्त्रियों की दुर्दशा का ही चित्र देखता हूँ। बलखंडी और मुनियां तभी सुखी हो सकती हैं, जब सही अर्थ में मजदूरों का राज्य कायम हो जाय। 'अवसान' में मानों मैंने उसी के लिए एक मुक़दमा तैयार किया है।

"जययात्रा" उपन्यास में हिन्दू-मुस्लिम दंगे के फलस्वरूप सुरमा नाम की एक स्त्री पर एक मुसलमान दंगाकारी के द्वारा बलात्कार किये जाने और उसके गर्भ रह जाने से जिन समस्याओं की उत्पत्ति होनी है, उनको लेकर एक कहानी चल निकलती है। यह एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास के रूप में लिखा गया है, पर इसमें बराबर सामाजिक तथा कानूनी समस्याएँ आती हैं। इसकी सामाजिक समस्या की ओर मैं पहले ही इंगित कर चुका हूँ, कानूनी समस्या यह आती है कि जब तक गर्भिणी की जान खतरे में न हो, तब तक गर्भपात कानूनी रूप से नहीं किया जा सकता, पर सुरमा की परिस्थिति अजीब है कि दंगे के कारण वह गर्भवती हुई है। उसका पति उसे गर्भ गिराने की सलाह देता है, पर सुरमा में मातृत्व जोर मारता है, और वह इस सलाह को मानने से इन्कार करती है। सबसे बड़ी उलझन इस बात से पैदा होती है कि सुरमा के पति एक वैज्ञानिक हैं, चौबीसों घंटे वे विज्ञान की ही चर्चा में लगे रहते हैं। पति-पत्नी में कोई प्रेम नहीं है। इस उपन्यास में ऊपर बताई हुई समस्याओं के अतिरिक्त और भी बहुत-सी समस्याएँ छू दी जाती हैं।

बारह वर्ष बाद जब मैं पंत मन्त्रिमण्डल के द्वारा अपनी सजा पूरी करने के पहले ही रिहा कर दिया गया, तो मैंने स्वाभाविक रूप से जीविका के लिए पत्रकार-कला अपना ली, पर राजनीतिक कार्य जोर-शोर से चलता रहा। मैंने एक तरह से राजनैतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्रान्तिकारी आन्दोलन का एक सिलसिलेवार इतिहास *"भारत में सशस्त्र क्रान्ति-चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास"* नाम से लिख डाला, और भी कई राजनैतिक पुस्तकें लिखी पर जो दो साल जेल के बाहर रहा, उनमें उपन्यास लिखने की बात न तो कभी सूझी, और न उसके लिए समय ही था। मेरा उक्त इतिहास ज़ब्त कर लिया गया, एक और भी पुस्तक ज़ब्त हो गई, सरकार के साथ संघर्ष तीव्र था।

द्वितीय महायुद्ध छिड़ने पर ज्यों ही कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने इस्तीफा दे दिया, त्यों ही मैं फिर अपने दो विरोधी व्याख्यानों के कारण दफा १२४ ए० में गिरफ्तार कर लिया गया। इस बार मुझे सात साल जेल में रहना पड़ा, और जब नज़रबन्दों की अन्तिम टोली रिहा की गई, तभी मैं रिहा किया गया।

इस बार सौभाग्य से पहले से ही लिखने की अनुमति मिल गई। बाहर दो

साल तो कोई भी उपन्यास नहीं लिखा था, पर जेल में पहुँचते ही मैंने एक उपन्यास लिख डाला, जिसका नाम '*सुधार*' रखा गया। यह उपन्यास हवालात में ही शुरू किया गया था, इस कारण यह डर बना हुआ था कि हवालाती से कैदी बनने के समय में शायद मेरे कागजों की जांच की जाय, इसलिये मैंने एक सम्पूर्ण रूप से अराजनैतिक उपन्यास लिखा। कई आलोचकों ने इसे आत्मकथामूलक बताया, इसमें सन्देह नहीं कि गत दो सालों में जेल के बाहर मेरे मन पर जो प्रतिक्रियाएँ हुई थी, वे इसमें प्रतिफलित है। इस पुस्तक की जिल्द पर यह जो परिचय दिया गया था—"अरिन्दम एक क्रान्तिकारी कवि हैं। उसको केन्द्र बनाकर प्रेम और घृणा की एक रोमांचक कहानी सहज सरल रूप में बहती है, सारे उपन्यास में साहित्य की एक अविच्छिन्न धारा प्रवाहित है। आज के साहित्यिक को किन-किन परिस्थितियों से झगड़ते हुए आगे बढ़ना पड़ता है, यह अरिन्दम बताता है।" यह परिचय ठीक ही है, और यह उपन्यास मुख्यतः मनोवैज्ञानिक है। कुछ लोगों ने मेरे राजनीति-प्रधान उपन्यासों से इसे उच्च कोटि का बतलाया है, पर यह अपने-अपने मत की बात हुई।

"*गृहयुद्ध*" नामक उपन्यास भी इसी बार जेल में लिखा गया। इस उपन्यास में भी हिन्दू-मुस्लिम दंगे को केन्द्र बनाकर कथा लिखी गई। मेरे सामने वे कहानियां थीं, जब श्री गणेशशंकर विद्यार्थी शहीद हुए थे। कानपुर निवासी मित्र श्री वीरेन्द्र पांडे उन दिनों मेरे साथ एक ही बैरक में थे। वे उस दंगे के भुक्तभोगी थे, और उन्हें उस दंगे के सम्बन्ध में बहुत ब्यौरा मालूम था। कोई एक सप्ताह तक वे लगातार मुझे उसकी कहानियां सुनाते रहे। उन्होंने इतने सुन्दर रूप में कहानियां सुनाईं कि मन पर उनकी अमिट छाप पड़ गई, और कुछ दिनों बाद मै एक उपन्यास लिखने लगा। वही "गृहयुद्ध" है। इसमें यह स्पष्ट रूप से लिख दिया गया कि दंगे कराने के जिम्मेदार अंग्रेज अधिकारी हैं। इसके अतिरिक्त यह भी दिखलाया गया कि मानव किस प्रकार दानव बन जाता है। इस पुस्तक का उद्देश्य साम्प्रदायिकता के अतिरिक्त धर्म की जड़ों पर कुठाराघात करना था। इसमें यह दिखाने की चेष्टा की थी कि केवल ऊपर-ऊपर से समन्वयवादी बातें करने से कुछ नही बनने का, धर्म से ही छुटकारा प्राप्त करना पड़ेगा। पाकिस्तान बनने से याने भारत का धार्मिक बँटवारा होने से हमारी किस्म के आदर्शवाद को बहुत चोट पहुँची, पर अन्तिम विजय उसी की होगी। यह उपन्यास इतनी घटनाओं से भरा है कि बहुत ही रोमांचकारी बन गया है।

अब की बार जेल में सात साल रहना पड़ा, पर उपन्यास अधिक नहीं लिखे गये। जोर दूसरी तरफ के साहित्य-रचना पर रहा। पर जो कुछ भी मैंने लिखा उन सब का एक ही उद्देश्य रहा। वह उद्देश्य यही रहा कि प्रत्येक क्षेत्र मे वैज्ञानिक ओर क्रान्तिकारी दृष्टिकोण क्या है, उसी का स्पष्टीकरण किया जाय। यह लेख केवल मेरे उपन्यासों के सम्बन्ध में है, इस कारण उन पुस्तकों के सम्बन्ध में कुछ ब्यौरा यहां

नहीं दिया जायगा। पर इतना बता दिया जाय कि अपराध-विज्ञान, यौनविज्ञान, ऐतिहासिक भौतिकवाद, आलोचना, जीवनी जिस विषय पर भी पुस्तकें लिखी गईं, उन्ही में एक ही वैज्ञानिक और स्वस्थ दृष्टिकोण लेने की चेष्टा की गई।

जेल से छूटने पर मैंने फिर पत्रकार कला को अपनी जीविका का साधन बना लिया। बाहर जो उपन्यास लिखे गये उनमें से केवल उन्हीं का उल्लेख करूँगा, जो प्रकाशित हो चुके है।

"बहता पानी" उपन्यास इसी युग में लिखा गया। इसमें एक छूटे हुए क्रान्तिकारी की बात कही गई है, जो था तो त्यागी और अन्त तक रहा भी त्यागी, पर उसकी विचारधारा में स्पष्टता होने के कारण वह किस प्रकार बहक जाता है यहां तक कि एक साथ दो शादियां और इसी प्रकार अन्य बातें कर बैठता है, यह दिखाया गया है। हिमालय की तराई के ग्राम्य-जीवन का तथा ताऊन-पीड़ित इलाकों का वर्णन भी इसमें किया गया है।

"होटल डी ताज" नामक उपन्यास असल में जेल में कुछ हद तक लिखा जा चुका था। मुझे क्या कहना है यह जेल में ही मेरे सम्मुख स्पष्ट हो चुका था। पर कई कारणों से यह पुस्तक सम्पूर्ण नही हो सकी। इस पुस्तक में मैंने इस बात पर रोशनी डालने की चेष्टा की है कि किस प्रकार आज वेश्यावृत्ति होटलों के ज़रिये से पनप रही है। पहले जमाने में वेश्यासक्त व्यक्ति वेश्याओं के मुहल्लों में जाकर उनसे मिलते थे, पर अब होटलों के ऊपर से दृश्यमान शरीफ वातावरण में वेश्यावृत्ति का काम चलता है। यह उपन्यास जिन घटनाओं को लेकर लिखा गया है, उनमें से अधिकांश मेरी आखों के सामने घटित हुईं या मुझे उनके सम्बन्ध में प्रत्यक्षदर्शी का वर्णन सुनने को मिला। बात यह है कि जब मै छूटा था, तो लगभग दो साल तक एक होटल के पड़ोस में रहा था। ये होटल वेश्यावृत्ति के अन्तिम आश्रय के रूप में है। इनकी तरफ दृष्टि आर्किषित करना तथा इनका पर्दाफाश करना ही इस उपन्यास का उद्देश्य है।

"दुश्चरित्र" उपन्यास में गांवों में फैली हुई दुःखद परिस्थितियों की ओर दृष्टि आर्किषित करने की चेष्टा की गई है। इस पुस्तक में यह दिखलाया गया है कि ग्राम-समाज के जो लोग नेता बने हुए हैं, वे सबसे अधिक गिरे हुए हैं और सड़े-गले धर्म का ढोंग रचते रहने पर भी उनका निजी जीवन बहुत ही पतित है। गांवों की पद्धति ऐसी अजीब है कि इसमें जो सच्चरित्र है, उसे दुश्चरित्र रूप में करार दिया जाना विचित्र नहीं है। इस उपन्यास में यही होता है, इस प्रकार ग्राम-समाज के आमूल सुधार के लिए एक मुकदमा प्रस्तुत किया जाता है। यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि केवल लोकतन्त्र या पंचायतों के पुनः प्रवर्तन से कुछ नही होने का, जब तक कि लोगों की धारणाओं में परिवर्नन नहीं किया जाता तथा अपने को सर्वज्ञ और सम्यता तथा संस्कृति के ठेकेदार माननेवाले इन पंचों को सही ढंग से शिक्षित नहीं किया जाता।

आर्थिक उन्नयन तो जरूरी है ही ।

"अन्धेर नगरी" नामक उपन्यास में उसी कहावत को चरितार्थ करके दिखलाने की चेष्टा की गई है कि जिसके अनुसार **"अन्धेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा"** होता है । चोरबाजारी किस प्रकार से समाज के देह मुंह के कर्ताधर्ता बने हुए है, और वे दिन दहाड़े दिन को रात और रात को दिन कर रहे यही हैं, इस उपन्यास में दिखलाया गया है । इस समाज में सीधे, सरल, शरीफ आदमियों की गुजर नही है । यहां तो ढोंगी और ढकोसलेबाजों का ढिंढोरा पिटता है । चलते हुए इस उपन्यास में मैंने फिर उमी समस्या को उठाया है, जिसे मैंने "जययात्रा" में उठाया था, याने किन-किन परिस्थितियों में गर्भपात कराना उचित हो सकता है । मैंने यह भी दिखलाया है कि कानून बनाने वालों की अदूरदर्शिता और हठ के कारण किस प्रकार सैकड़ों नीम हकीम गर्भपात का पेशा करके हजारों रुपये लूट रहे है ।

"चक्की" नामक उपन्यास में मैंने फिर हिन्दू-मुस्लिम दंगे से उत्पन्न परिस्थिति की घटनाओं को लिया है । इस उपन्यास में यह फिर दिखलाया गया है कि हिन्दुओं और मुसलमानों को लडाना साम्राज्यवाद की एक चाल थी, और कठमुल्लापन के पीछे साम्राज्यवाद के खूनी पंजे छिपे हुए हे । "चक्की" में यह भी दिखलाया गया है कि संगठित साम्प्रदायिक पागलपन के विरुद्ध अहिसा बिल्कुल बेकार है । ऐसे मौके पर अहिंसा केवल एक उदाहरण कायम कर सकती है, पर वह सफल नही हो सकती । इस उपन्यास में भी इस बात की ओर इंगित किया गया है कि धर्म स्वभाव से ही असहिष्णु और खुराफात की जड़ है, इसलिए इसे उखाड़ कर फेंक देने में ही कल्याण है । इस उपन्यास से धर्म की जो तस्वीर सामने आती है, वह किसी भी प्रकार मोहक नहीं है ।

"रक्षक-भक्षक" उपन्यास में डाक्टरी पेशे पर ही इस माने में चोट की गई है कि दूसरों की मुसीबत बढ़ने से ही जिस पेशे में समृद्धि हो सकती है, उस पेशे के सम्बन्ध में यह सोचना पड़ेगा कि उसे एक निजी व्यवसाय के रूप में रहने दिया जाय, या एक सार्वजनिक सेना के रूप में संगठित किया जाय । विशेषकर उन डाक्टरों पर प्रहार किया गया है, जो रोगियों के रोग बढ़ाकर और रोगी को डरा कर पैसे बनाते हैं । साथ ही इस उपन्यास में आधुनिक जीवन पर भी फब्तियां है । उदाहरण-स्वरूप लड़कियां प्रेम के नाम पर धनी वर खोजती हैं, इत्यादि इत्यादि ।

"दो दुनियाँ" उपन्यास अभी छपा है । इसमें उस समय के पंजाब की रोमांचकारी परिस्थिति ली गई है, जब पंजाब का विभाजन हुआ । यह उपन्यास भारत से पाकिस्तान तक पंख पसारता है, और यह दिखाता है कि दोनों दुनियाँ एक इस माने में हैं कि धार्मिक विभाजन होने से जनता की हालत में कोई विशेष सुधार नही हुआ । दिल्ली के उच्च वर्गों तथा अन्य लोगों की भी पोल इसमें खोली गई है ।

संक्षेप में यही मेरे उपन्यासों का परिचय है ।

छोटा नागपुर के लोक-गीतों में जन-जीवन का प्रतिफलन*

बिहार के लोक-गीत अन्य राज्यों के लोक-गीतों की तरह जन्म से लेकर सारे जीवन को परिव्याप्त करके चलते हैं। हमारे यहां की जनता का जीवन बहुत ही इकरस है, पेट भरकर भोजन नहीं मिलता फिर भी इन लोक-गीतों की बदौलत जनता के जीवन में कुछ न कुछ विचित्रता बनी रहती है। इस दृष्टि से देखा जाय तो लोक-गीत वह शक्ति है जो हमारी सब तरह से पीड़ित पददलित जनता की कमर को टूटने नहीं देती। जो लोग इन लोक-गीतों में पले हैं या जो लोग लोक-गीतों में में पले हुए लोगों को बहुत पास से देखते रहे हैं, वे ही समझ सकते हैं कि ये लोक-गीत किस प्रकार जादू सा असर रखते हैं। उनकी आवाज़ कानों में पड़ते ही गांव के लोगों के बुझे हुए चेहरे जल उठते हैं, आंखों में एक दिव्य-आदिम ज्योति आ जाती है. हृदय में गुदगुदी पैदा होती है।

बात यह है कि जन्म से इन गीतों को सुनते-सुनते वे उनमें जितना अर्थ लेते हैं, उतना उनमें दूसरों को कभी नहीं मिलेगा। दूसरे तो केवल शब्दार्थ लेंगे, पर उन शब्दों के साथ बचपन की, ऐसा मालूम होता है कि जन्म-जन्मान्तर की स्मृतियां छिपी हुई हैं, वे दूसरों को कैसे मालूम होंगी। लोक-गीतों का जन-जीवन में क्या स्थान है, यह लोक-गीतों को छापे के शीतल हरफों में पढ़ने से ज्ञात नहीं होगा। उनके द्वारा उत्पन्न वातावरण को हृदयंगम करने के लिए यह आवश्यक है कि उसी वातावरण में यदि पैदा न हुआ जाय तथा उसे मां के दूध के साथ न पिया जाय या उससे जिया न जाय, तो कम से कम उसे उसी वातावरण में सुना जाय, जहां वे गाये जाते हैं। आल-इण्डिया रेडियो इसलिए धन्यवाद का पात्र है कि अब सब लोगों को नियमित प्रत्येक राज्य के लोक-गीत सुनाई पड़ सकते हैं। शब्द से जहां तक हो सकता है रेडियो के जरिये से यह वातावरण लोगों तक पहुँचाया जा रहा है।

---

*यह लेख मेरी पत्नी श्रीमती माया गुप्त का है

पहले मैं सोहर गीत से शुरू करूँगी। सोहर गीत नवजात शिशु से सम्बन्ध रखता है। गरीब की झोंपड़ी से लेकर धनी की हवेली तक सर्वत्र सोहर का प्रचलन है। पड़ोस की स्त्रियां तथा गौतिनें याने रिश्तेदारी की स्त्रियां एकत्र होकर सोहर गाती हैं, और संगीत के ज़रिये से शिशु को तथा उसकी माता को अभिनन्दित करती हैं।

मेरा ऐसा अनुमान है कि सोहर के गीत स्त्रियों की रचना हैं। युग-युग से स्त्रियां उन्हें परिवर्द्धित और संरक्षित करती आ रही हैं। भाषा और भाव देखने से यही ज्ञात होता है कि न मालूम कितने युगों से कितनी ही जननियों की छाप इन पर पड़ी है। वे स्वप्न में रंगीन हैं, और कल्पना का घोड़ा तेजी से दौड़ता है। एक सोहर यों है:—

अठाहिं कंठ कुंइववा पातले मिले पानी
वांही सुन्दरी नारी चुकोवा में जल भरे।
घोड़ा चढ़ल आये राजा बेटा
पानी के प्यासा राजा मांगे पानी,
कहे—कंठ मेरा सूखल ई

इसी गीत में आगे जो कुछ आता है, उसकी थोड़ी व्याख्या की आवश्यकता है। वह इसलिए कि लोक-गीतों में प्रश्न के बाद उत्तर, और उत्तर के बाद प्रश्न बिना किसी तरह की सूचना दिये चलता है। जो उससे परिचित है, वह तो समझ लेता है कि यहां प्रश्न शुरू होता है, और यहां उसका अन्त होता है और उत्तर शुरू हो जाता है। इसी सोहर में वह राजा या राजकुमार पानी पीकर पूछता है—

केकर होहि तुहि बहुआ, केकर बेटिया।

इस पर वह स्त्री शायद कुछ मसखरेपन से या कि तिरस्कार करती हुई कहती है—

बाप क बेटिया ससुर क पतुहिया
आपन बालम क सुन्दरी नारी।

इतना कहने पर भी शायद वह राजा या राजकुमार मानता नहीं है, तब उसी सांस में वह अपनी सास से कहती है—

मांचिया बैठल तुहि सासु
कुइयां पर उतरल मुसाफिर आलि बोले मोरे

इस पर सास पूछती है—

कौन बरन घोड़वा कौन बरन असवारा

इस पर बहू कहती है—

लाल बरन घोड़ा सबज रंग साज बाज
सांवर बरन असवारा

इस पर सास यह समझ जाती है कि यह उसी का बेटा है, परदेश से लौटा है। वह कहती है—

बाप खाहु, भइया खाहु, पुतहै बहुरिया
वही लागे बेटवा हमार

इस पर पतोहू कहती है—

मत सासु भइया खाहु, मत सासु बाप
लरकई में भइले बियाह कैसे चिन्हैं सवामि

इस गीत में ग्राम्य जीवन का पूरा नक्शा सामने आ जाता है। लड़कपन में ब्याह होना, यहां तक कि पति-पत्नी का अपरिचित होना, सास और पतोहू का सम्बन्ध यह सब सामने आ जाता है। साथ ही रोमास की भी कमी नहीं है क्योंकि परदेश से आये हुए पति को राजा या राजपुत्र करके देखा जाता है।

यह गीत सन्तान के जन्म पर क्यों गाया जाता है, यह समझना कठिन नहीं है। यद्यपि इसमें सन्तान का उल्लेख नहीं है फिर भी इसमें जिस रोमांस का उल्लेख है, उससे सन्तान के जन्म का सम्बन्ध स्पष्ट है।

एक गीत यह है—

कौन बन उपजल नारियल
कौन बन जाफ़ल, कौन बन गुलाब
गुलाबे चुनरी रंगैबे।
बाप बन उपजल नारियल
भइया बन उपजल जाफ़ल
सैंया बन उपजल गुलाब
गुलाबे चुनरी रंगैबे।

प्रत्येक घर में जो लड़का पैदा होता है, वह उस घर के लिए रामचन्द्र का जन्म है, रामायण की कथा में राम के जन्म पर क्या-क्या उत्सव हुआ था, और क्या-क्या खुशियां मनाई गई थीं, यह सब को मालूम है, पर यहां तो नवजात शिशु के लिए एक खाट भी नहीं है। इस पर गरीबों की चीख के रूप में यह गीत सुनिये—

खटिया जो हैते खटिया न मिलै
काहे (कौन) खटिया सुतैबे (शयन कराब) माय
राम जनम लैले।
खटिया खोजैते, खटिया न मिलै,
तो सोनाक खटियै सुतैबे माय
राम जनम लैले।
कापड़ खोजैते कापड़ न मिलै,
काहे कापड़ राम पिधैबे माय

राम जनम लैले।
रेशम कापड़ राम पिधैबे
राम जनम लैले
सोनाक छुरिये राम मारा कटैबे
राम जनम लैले।
दीयरा खोजैते, दीयरा न मिलै
काहे दीयार करबै इंजोर माय
राम जनम लैले।
सोनाक दीयरै करब इंजोर घर
राम जनम लैले।

ऊपर के गीत में गरीब माँ के अरमानों का बहुत मार्मिक चित्रण है। वह नवजात शिशु राम है, फिर भी उसके लिए न खटिया है, न कपड़े हैं, और न कोई वस्तु है। शिशु को राम बता कर अज्ञात गीत रचयित्री या रचयित्रियों ने जो रस पैदा किया है, वह सैंकड़ों शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों से उत्पन्न नही हो सकता था।

शिशु का इस प्रकार चुम्बनों से स्वागत होता है—

अंगिया चुमे टोपिया चुमे
और चुमे गोरे गोरे गाल
घुंघुर घुंघुर बाल मोरे लाल के
पइया चुमे, मुंहवा चुमे और चुमे गाल
आहा मोरे लाल

बच्चे के ननिहाल से मिठाइयाँ आई हैं, बच्चे की दादी उन्हें देख रही है। यदि आधे-आधे लड्डू बाँटे जाते हैं, तो उनसे उंगली दुखती हैं, पर पूरा नहीं दिया जा सकता। इसी दुविधे का यह चित्रण है—

नैहर से अइले पचास लड्डुवा,
आँगन खड़ी खड़ी सासु निरखै
उनते तो दियाल नहीं जाय
आध तोड़ाते मोर अंगुली दुखाय
पर सौं से दियाल नहीं जाय।

छोटा-सा चित्र है पर इस गागर में ग्राम्य-जीवन का पूरा चित्र आ गया है। पग-पग पर गरीबी अपनी छाया छोड़ जाती है, फिर भी अरमानों की कमी नहीं है।

आँगन में बतासा लुटा दैबे
डगरिन बुलैबे सोहर गावन को
सोहर गावन से कसर मसर करिहै,
सहज से सीधा उठा लैबे।

यहां यह बता दिया जाय कि डगरिन से हमारे छोटा नागपुर में हिजड़ों या हिजड़िनों का बोध होता है। गीत का वक्तव्य यह है कि यदि उन्होंने आकर गाने से कुछ मुंह मोड़ा, तो फौरन उनका सीधा उनसे छीन लिया जायगा। केवल हिजड़ों को ही धमकी नहीं है, आगे इस गीत में सास को भी धमकी है। बात यह है कि सन्तान प्राप्ति से गर्विता माता यह समझती है कि अब वह घर में कोई है, इसलिए—

सासु से आस सोंठ घोटन के
उनकर मचिया लान दैबे
सोंठरी घोटन में कसर मसर करिहै
सहज से मचिया उठा लैबे

छठ पर्व छोटा नागपुर का एक विशेष पर्व है, यों तो ये सारे भारत में मनाया जाता है। छोटा नागपुर में और शायद सारे बिहार में यह विश्वास प्रचलित है कि इस पर्व के मनाने में कोई कसर होगी, तो कोढ़ हो जायगा। छठ पर जो गीत गाये जाते हैं, वे अन्य अवसरों पर भी गाये जा सकते हैं।

नीचे एक गीत दिया जाता है जो भक्त और देवता के बीच में प्रश्नोत्तर के रूप में है। सरल भक्त का सरल देवता से सम्वाद है।

गाईक बछवा दूध जुठौले,
अरघिया कैसे दैबो ?
गाईक बछवा हमर सिरजल,
अरघिया हम लैबो।
मालिन बेटिया फूल जुठौले
अरघिया कैसे दैबो ?
डोमिन बेटिया सूप जुठौलो,
अरघिया कैसे दैबो ?
मालिन बेटिया हमर सिरजल
डोमनि बेटिया हमर सिरजल
अरघिया हम लैबो।

इस प्रकार से इस गीत में एक तरह से देवता से पेशगी क्षमा मांग ली गई है कि सम्भव है सारी बातें आचार उपचार त्रुटिशून्य न हों। इस गीत का एक सामाजिक अर्थ यह भी है कि कथित छोटी जातियां यहां तक कि पशु भी देवता के निकट छोटा नहीं है।

छठ का एक गीत और लीजिये—

चारि पहर राति जलथल सेवलु
सेवलु चरन तोहार, हे छठ देव
दरसन देहु आपन।

मांगु मांगु तिरिया, कौन फल मांगु,
आज के मांगल फल पाऊं।
अपन ले मांगु अवध सिंदुर
जनम जनम एहिआत।[1]
प्रात दरसन देहु हे आदित
दरसन देहु आपन
पोथि पढ़न को बेटा मांगु,
गोड़ लगन के पुतहु,
सुपलि खोलनि के बेटी मांगु,
पढ़ल पंडित दामाद।
बाहर मांगु क्या भैंसिया,
भीतर सोहन भंडार।
ससुर लें मांगु अन[2] धन लछमी
नैहर सहोदर भाई।
प्रात दरसन देहु हे आदित
दरसन देहु आपन।

एक और गीत लीजिए जो सवेरे के समय अर्घ्य देते समय गाया जाता है—

काहे के उजे कोठर कोठरी
काहे सने लागल किवार
सोने के उजे कोठर कोठरी
रुपे लागल किवार।
आदित भजले मनु बाजतई झंझकार
यह पैसी सुतवै आदित देव,
अब जो भेलै बिहान।
जगावै आदित देव के माता,
उठ बेटा भेलै बिहान
कुष्ठी[3] लोग चरन धैले हे,
उनकर करह विचार।
अंधरा पुकारै पहर रात,
लंगड़ा भजत है पहर रात
अंधरै आंखि दिहो, कोढ़िया के काया,
निर्धने धनरा बहुत

१. एहिआत—सुहाग; २. अन—अन्न; ३. कुष्ठी—कोढ़ी।

हरषैते सब घर चलि जैतो
बाजत घनि झंकार।

इस गीत में पहले तो आदित देव के घर का वर्णन किया गया है, और बताया गया है कि वहां सोने से कमरे बने हैं, और उनके दरवाजे चांदी के बने हैं। फिर यह कल्पना की गई है कि आदित्यदेव की माता उनसे कह रही है कि जाकर अपने भक्तों की भलाई करो, अंधों को आंख दो इत्यादि। इसमें सबसे मजे की बात जो है, वह यह है कि आदित्यदेव को एक तरफ बहुत धनी करके कल्पना की गई है, और साथ ही उन्हें एक अल्हड़ लड़के की तरह समझाया गया है, जो देर तक सोता रहता है, और जगाने पर ही जागता है।

प्रातःकाल अर्घ्य देते समय यह गीत भी गाया जाता है—

अजोध्या नगरिये लागलै बजार
वहीं रे बेसरलु नारियल
वहीं रे सूप, फल, अमृत
उगहु आदित देव, लेहु अरघ हमार

इस गीत में देवता को यह प्रलोभन दिया गया है कि सारी चीजें अयोध्या से लाई गई हैं, अतएव भक्त का अर्घ्य स्वीकार किया जाय। छठ का पर्व ऐसा है कि इसे कुमारियां, सधवायें तथा विधवायें सभी मना सकती हैं। इस समय जो व्रत किया जाता है, उससे गृहस्थ का कल्याण होगा ऐसा समझा जाता है। छठ के दिन स्नान करने के लिए स्त्रियां नदी या तालाब जहां जैसा होता है पहुँचती हैं। वहां वे गोल बांधकर जाती हैं। अस्तायमान सूर्य को अर्घ्य देने के लिए जो स्त्रियां चलती हैं, वे रास्ते में बार-बार सूर्य को साष्टांग प्रणाम करती जाती हैं। आकंठ जलमग्न होकर सिर पर अर्घ्य रखकर अर्घ्य दिया जाता है। इसके बाद वे घर लौटती हैं। घर में वे रात भर उपवास रखती हैं। फिर वे सूर्योदय के पहले ही चल पड़ती हैं, और उदीयमान सूर्य को पहले बताये हुए ढंग से अर्घ्य देती हैं। विधि यह है कि आकंठ जलमग्न अवस्था में ही उदीयमान सूर्य का दर्शन हो। कई स्त्रियां इसके बाद दो दिन तक उपवास रखती हैं और उसके बाद प्रसाद लेती हैं।

विवाह के अवसर पर भी असंख्य गीत गाये जाते हैं। एक गीत यह है—

सीया के सुमंगल सुनि भूप सब आवल
राजराज भावे रानी उदयगिरि,
अब सिसु रहल कुंवार, धनुहा न टूटे
धनुहा टूटल, जनकपुर अब दिए दल साजु।
एक मांगन मांगिहै जो बिधि सुनै,
भांति हैं कौसिल्या सासु, ससुर राजा दसरथ,
लछमन देवर, मांगिये रामचन्द्र कान्त।

इस गीत में पहले थोड़े में रामायण के राम-विवाह की बात याद रखकर यह मांगा गया है कि सास के रूप में कौशल्या, ससुर के रूप में दशरथ, लक्ष्मण की तरह देवर और राम वर के रूप में मिलें। यह द्रष्टव्य है कि यह स्त्री के दृष्टिकोण से ही लिखा गया है।

विवाह सम्बन्धी लोक-गीतों में कन्या के दोनों दृष्टिकोण मिलेंगे। एक कन्या तो वह है जो पिता को छोड़कर जाना नहीं चाहती, और एक कन्या वह है, जो विवाह के लिए उतावली हो रही है। पहला दृष्टिकोण प्रश्नोत्तरमूलक गीत में देखिये—

कन्या—*बाबा काहे ला लैला इन्दर सभा,*
काहे लैला मानिक दीयरा
पिता—*तो घर लागि बेटी इन्दर सभा,*
इंजोर मानिक दीयरा
कन्या—*बाबा हाथ जोरि उठह स इन्दर सभा,*
पटक से निबावो मानिक दीयरा
पिता—*कैसे बेटी राखुं अब तोहार बतिया,*
बियाह न होय जब दूषे जतिया

दूसरा गीत इस प्रकार का है। उसमें कन्या विवाह के लिए उत्सुक है, शायद ब्याह हो भी गया है, पर पिता प्रेमवश कन्या को भेज नहीं रहा है—

लाल है फटक के राजा जी
ऊपर मानिक दिया परे।
बेटी बैसी जगायल हे
बाबा कत निन्दे सोयल ?
भैया कत निन्दे सोयल
बगिया में उतरल ससुर के पूत
कुछ देवा चाहे वाके।

इस पर पिता जी कहते हैं—

सोनवा देलुं बेटी रुपवा देलुं
हथिया देलके दहेज ।
नाहिं देबै बेटिया, न देबै
मोर मानी सूना होवे ।

पहले जो गीत दिये गये, उन्हीं से स्पष्ट है कि दहेज देने की प्रथा सामने आ जाती है। एक दहेज सम्बन्धी गीत यों है—

मौरिया सोभै हीरक मानिकै
मोतिया पूरब सोभै केशये

सोनवा से देलै राजा रुपवा अनैर
देहला जुतला राजा मोतिये जड़ाय
हाथिया घोड़वा देलै थरिया लोटवा
छलवा के देलै राजा मोतिये जड़ाय ।

एक और गीत लीजिए जिसमें विवाह की सूचना है, इसमें भी रामायण की छाप स्पष्ट है—

कौन बन बोलै कारी कोयलिया
कौन बन बोलै मयूर ।
दरबारे बोलै राजा जनक,
धिया भेलै बिहावन जोग ।
विजुबन बोलै अमवाडारै कोयलिया
आपन महले बोलै बिहावन जोग ।
चार बन खोजलू हे बेटी,
कहां न मिलै जँवइया,
जाइयो हे राजा अजुध्या नगरिया
वहां है सुन्दर रघुनाथ
सांवर बाबा मत जनु बोलियो
सांवर हैं रघुनाथ

इस गीत में कन्या के लिए वर खोजने में जो दिक्कतें आती हैं, उनकी ओर इंगित है। वर मिलना इतना कठिन है कि कहीं-कहीं नालायक वर को भी वर बनाना पड़ता है। इस बात को कहने के लिए रघुनाथ की उपमा ठीक नहीं पड़ती। इस कारण इसके लिये महादेव को चुना जाता है। पर महादेव देखने में नालायक होने पर भी वस्तुतः बड़े लायक हैं। परोक्ष रूप से यह उपमा यह सूचित करती है कि जो अनिवार्य है, उसके साथ सन्धि कर लो। गीत यों है—

भैंसवा चढ़ल आये महादेव वर
बाघ छाला पिंधल हे
जिनि वर खोजलै बाबा, जनम भिखारी,
सेह मारे बैरी हे
कौन निरबुद्धि भरल हुंकार हे

इस पर मां कह रही है—

तोर लागि माघ नहैलू,
तोर लागि करलू एतवार है ।
तोर मिले जय गोविन्द है ।
जनम देलू बेटी करम आपन

का विधि लिखल लिलार हे ।
सोनवा आनिये भिख दे ते जो बेटी,
मिलि सै तो राजकुंवार हे
सूप झार के भिख देला हे बेटी
मिलि गैलो जनम भिखारी हे

ऐसे ही बहुत से गीत हैं, जिनमें जीवन के हर एक पहलू पर किसी न किसी प्रकार की रोशनी पड़ती है। किसी गीत में सास बहू के वैमनस्य का उल्लेख है, तो किसी में इसी प्रकार कोई घरेलू बात बताई गई है। पर इन गीतों के सम्बन्ध में जहां यह मानना पड़ेगा कि वे हमारी तरफ के जन-जीवन को प्रतिफलित करते हैं, वहीं यह भी मानना पडेगा कि उनका दायरा बहुत सीमित है। बात यह है कि हमारा ग्राम जीवन ही बहुत सीमित रहा है। जब मूल चित्र ही सीमित है, तो उसका फोटो या प्रतिफलन कैसे विस्तृत हो।

सन्तान का जन्म, विवाह, तीज त्योहार, पूजा इनके अलावा लोगों के जीवन में और है ही क्या ? इन्ही बातो को लेकर जन-जीवन चलता है, और लोक-गीत भी इन्ही को लेकर चलते है ।

करमा बिहार की स्त्रियों का एक विशिष्ट त्योहार है। एकादशी में उपवास रखकर करम पेड़ की शाखा को पूजना ही इस त्योहार की विशेषता है। यह त्योहार भाइयों के कल्याण के लिए मनाया जाता है । भाद्र मास में यह पर्व मनाया जाता है। रात को स्त्रियां एकत्र होकर गाना गाती है। एक विशेष गाना यों है--

भरी भादौ फुटले फुलवा बेलंजनु
घोड़ा चढ़ के आवरे मेरे भइया

इस पर भाई कहता है--

लेहू हे बहनी फुवा बेलंजन हे

इस पर बहन कहती है--

कैसे लेवों हे भइया फूल बेलंजन
मारे गोदे बालक गदाधर

ऊपर के गीत में शायद इस बात की ओर भी इशारा किया गया है कि भाई बहन जैसे हर साल खेलते थे, वैसा खेलना चाहते हैं पर इस बीच में अभी खेल की उम्र न बीतने पर भी बहन एक बालक की मां हो चुकी है, जिससे खेल में बाधा पड़ती है । भाई कहता है--

बालक सुताओ बहनि सोना के खटोल में,
लेहि लेहू फूल बेलंजन

जितिया एक और त्योहार है। आश्विन की एक अष्टमी को यह त्योहार पड़ता है । इसे जिताष्टमी कहते है। सन्तानों के मंगल के लिए यह त्योहार पड़ता

है। सन्तानों को भोजन कराकर दिन भर के उपवास के बाद मां खाने बैठती है। यह उपवास का एक गीत है—

छान छान अमृत चांछि
नस्ता परल बासी।
खोरये डाबले।
सब बालक गृह आयली,
मोर लाल कहां रहि लै।

तीज तो सारे भारत में मनाया जाता है। इस अवसर पर हमारे यहां छोटा नागपुर में स्त्रियां नाचती व गाती हैं। यह गाना तीज में विशेष है—

महादेव भिंजल थैया थाकित रे राम
गौरी के सिरे नहीं पानि रे,
बागि पायन के कड़र नहीं मांगलू ए राम
केही विधि सिरे नहीं पानि रे,
सासु के लिपला पैर नहीं धरलू,
बड़ जेठ के तुकार नहीं मारलू ए राम,
केही बिधि सिरे नहीं पानि रे।

बड़े सरल तरीके से इस गीत में स्त्री को सीख दी गई है। पानी बरसा, महादेव तो भीग गये, पर पार्वती नहीं भीगी इसका कारण यह है कि उन्होंने बाग के अंकुरों को पैर से रौंद नहीं डाला। सास के द्वारा गोबर से लिपे हुए स्थान को पैर से खराब नहीं किया, बड़ों का असम्मान नहीं किया। इसी प्रकार कितने ही लोक-गीत हैं जिनका उद्देश्य शिक्षा देना है। हमारे गांवों में लोग अधिकतर अनपढ़ होने पर भी उनमें एक अन्तर्निहित संस्कृति है, इसका कारण यह है कि लोक-गीत न केवल मनोरंजन के साधन और कला के संवाहक हैं, बल्कि लोक-गीत शिक्षा के माध्यम भी हैं, जिनके ज़रिये से बिना अश्रुपात के शिक्षा प्राप्त होती है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में किसान

आधुनिक हिन्दी साहित्य की परिभाषा बराबर बदलती चली जा रही है। ज्यों-ज्यों समय बीतता जा रहा है, त्यों-त्यों आधुनिक हिन्दी साहित्य की परिधि इधर की ओर आ रही है। प्रेमचन्द के प्रारम्भिक युग में *राजा शिवप्रसाद* (१८२३–१८६३), *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र* (१८५०–१८८४), *बालकृष्ण भट्ट* (१८४४–१९१४), *श्रीनिवासदास* (१८५१–१८८७), *राधाचरण गोस्वामी* (१८५८–१९२५) आदि लेखक आधुनिक समझे जाते थे, पर अब शायद प्रेमचन्द और प्रसाद के पीछे आधुनिक हिन्दी साहित्य को ले जाना सम्भव न होगा। इस प्रकार सीमित कर देने पर भी आधुनिक हिन्दी साहित्य का क्षेत्र काफी बड़ा हो जाता है।

हम प्रेमचन्द से ही अपना विवेचन शुरू करें, तो हमारे पास इतना मसाला हो जायगा कि उस पर एक लेख में विचार करना असम्भव है। प्रेमचन्द का जन्म गांव में हुआ था, और वे काफी उम्र तक गांव में ही रहे। उनके पिता अजायबराय एक बहुत साधारण व्यक्ति थे, और गरीबी इतनी थी कि मुश्किल से गुजर होती थी। उनकी गरीबी का वर्णन उनके मुंह से ही सुन लिया जाय—

'अंधरा के पुल का चमरौधा जूता मैंने बहुत दिन तक पहिना है। जब तक मेरे पिताजी जीवित रहे, तब तक उन्होंने मेरे लिए बारह आने से ज्यादा का जूता कभी नहीं खरीदा और न चार आने गज से ज्यादा का कपड़ा मेरे लिए खरीदा गया।'

उन्होंने अपनी गरीबी के बहुत से उदाहरण लिखे हैं, जिनमें एक घटना यह है कि खाने-पीने की आफत के कारण उन्होंने अपने गरम कोट को दो रुपये में बेच दिया था। दूसरी घटना यह है कि एक बार उनके पिता के एक मित्र उनसे मिलने आये। उन्होंने देखा कि वे बहुत दुबले हैं, इस पर उन्होंने यों ही कह दिया—तू दुबला क्यों है? क्या तुझे दूध घी नहीं मिलता?

सचमुच उन्हें दूध घी नहीं मिलता था।

एक घटना और ली जाय। उनकी शादी के लिए जो तैयारी हुई थी, वह उनकी गरीबी को प्रकट कर देती है। शादी के लिए पांच रुपये का गुड़ खरीदा गया था। इसके अतिरिक्त शादी के लिए जो मंडप बनना था, उसके लिए उन्होंने स्वयं बांस काटे। मंडप को छाने के लिए बाँसों की आवश्यकता थी।

इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि प्रेमचन्द का हृदय गरीबों और किसानों के लिए हमेशा रोया करता था। उनके उपन्यासों में हम यह देखते हैं कि जहां वे ग्राम-जीवन या किसान-जीवन का वर्णन करते हैं, वहींपर वे सबसे अधिक शक्ति का परिचय देते हैं। इसका कारण यह है कि जिस जीवन को उन्होंने स्वयं जिया था, जिस जीवन की समस्याओं से वे अच्छी तरह परिचित थे, उसी को वे अच्छी तरह चित्रित कर सकते थे। यदि उनके उपन्यासों की सूची को ध्यान से देखा जाय, तो यह ज्ञात होगा कि एक आध पुस्तक के अतिरिक्त बाकी सभी पुस्तकों में उन्होंने ग्राम्य जीवन का ही चित्र चित्रित किया है। *प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, कर्मभूमि, गोदान* ग्राम-जीवन सम्बन्धी पुस्तकें हैं और इन्हीं में से दो याने गोदान और रंगभूमि उनकी सर्वश्रेष्ठ कृतियां हैं।

प्रेमचन्द केवल गांव में पैदा हुए और पले ऐसी बात नहीं, बल्कि जब वे अच्छे उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्ध हो गये, तब भी वे बराबर अपने गांव में जाते थे, और जैसे हुक्का ताजा किया जाता है, वैसे वे गांव में रह कर अपने तजर्बे को ताजा कर लेते थे। उनकी पत्नी श्रीमती शिवरानी देवी ने उनकी ग्रामयात्रा के सम्बन्ध में लम्बे संस्मरण लिखे हैं, उसमें से कुछ पंक्तियां यों हैं—

'जब गांव के काश्तकार इकट्ठा होते तो वे उनसे बातें करते, झगड़ा निबटाते और बच्चों से खेलते भी जाते थे। कोई नये कायदे कानून बनते तो काश्तकारों को समझाते। उन सबों के साथ तो वे बिल्कुल काश्तकार हो जाते थे।'

इसी प्रकार घुल-मिल जाने के कारण ही वे ग्राम-जीवन के इतने सफल चित्रकार बन सके। हमने अपनी *'कथाकार प्रेमचन्द'* नामक सुबृहत् पुस्तक में प्रेमचन्द के सब उपन्यासों का ब्यौरेवार विवेचन किया है। हम केवल 'गोदान' उपन्यास के सम्बन्ध में ही इस अवसर पर कुछ कह कर आगे बढ़ जायेंगे।

'गोदान' का नायक होरी एक मामूली किसान है। चार पांच बीघे जमीन जोतता है। पुस्तक के द्वितीय पृष्ठ में ही प्रेमचन्द किसान जीवन की सबसे बड़ी परेशानी को स्पष्ट कर देते है। 'चाहे कितनी ही कतर ब्यौंत करो, कितना पेट तन काटो, चाहे एक-एक कौड़ी को दांत से पकड़ो, मगर लगान बेबाक होना मुश्किल है।'

होरी में मामूली किसान के सब दोष-गुण दिखाये गये हैं। वह समय-समय पर एक व्यर्थ आशा के वशवर्ती होकर अपने जमींदार रायसाहब के यहां सलाम बजाने चला जाता है। होरी के मन में एक ही उच्चाकांक्षा थी कि दरवाजे पर एक गाय बँध जाय। इसमें भी वह एक साधारण भारतीय किसान, बल्कि सभी देशों के किसानों की

मनोवृत्ति को अभिव्यक्त करता है। 'गऊ से ही तो द्वार की शोभा है। सवेरे सवेरे गऊ के दर्शन हो जायँ तो क्या कहना। न जाने कब यह साध पूरी होगी।'

होरी कोई दूध का धुला नहीं है। वह चन्द रुपयों के लिए अपने भाई को धोखा देने के लिए तैयार हो जाता है, पर वह अपने शोषकों से कहीं अच्छा है। जिसको उसने धोखा दिया था, उसी भाई पर जब एक विपत्ति आती है, तो वह जान देकर उसकी रक्षा के लिए तैयार हो जाता है। होरी अपने छोटे मोटे झूठ, ठकुरसुहाती, खुशामदीपन के बावजूद हमारे सामने एक ऐसे व्यक्ति के रूप में आता है, जो 'गोदान' के रायसाहब, मिस्टर मेहता आदि से कहीं अच्छा है।

होरी भारतीय किसान वर्ग का प्रतीक है, एक तो यों ही तरंगों से उसे लड़ना पड़ता है, तिस पर सर्वत्र न मालूम कितने बड़े-बड़े जहाज, मगरमच्छ और न मालूम क्या-क्या विपदाएँ इस सागर में हैं। इन विपत्तियों के बीच से होकर वह अपनी छोटी-सी डोंगी खेता हुआ चलता है। हर समय उसके डूबने का भय रहता है। न मालूम कब किस से टक्कर लग जावे, और डोंगी की भवलीला समाप्त हो जाय। इसलिए 'गोदान' एक व्यक्ति के, और चूंकि यह व्यक्ति भारत के बृहत्तम वर्ग का है, इसलिए सारे किसान-वर्ग के जीवन-संग्राम का इतिहास है। किस प्रकार होरी इतनी विपत्तियों और इतने शत्रुओं के बीच से होता हुआ चलता है, इसी की महाकाव्यमय कहानी 'गोदान' में कही गई है। होरी को हमने भारतीय किसान-वर्ग का प्रतिनिधिपात्र या प्रतीक कहा है, किन्तु यह स्मरण रहे कि होरी के पास चार पांच बीघे जमीन है, इसलिए वह उन लाखों खेतिहर मजदूरों से खुशहाल है, जिनके पास कोई जमीन नहीं है, और जिनको दूसरों की जमीन पर मजदूरी करते हुए जीवन के दिन काट देने पड़ते हैं। चार पांच बीघे जमीन के तथा हल-बैल का मालिक होते हुए भी होरी पर जैसी-जैसी मुसीबतें आती हैं, इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि उन किसानों की क्या हालत होगी जिनके पास जमीन नहीं है। अवश्य होरी स्वयं खेतिहर मजदूर होने पर मजबूर हो गया है, यह भी इस उपन्यास में दिखा दिया गया है। इस प्रकार हम यह भी देखते हैं कि किस तरह मामूली किसान बराबर सर्वहारा वर्ग में गिरते चले जा रहे हैं।

दुःख है कि प्रेमचन्द भारत की स्वतंत्रता देख नहीं जा सके और यह नही देख पाये कि जमींदारी प्रथा के उच्छेद आदि उपायों से किसानों की समस्या के आंशिक समाधान करने की चेष्टा की जा रही है। 'गोदान' अब भी किसान सम्बन्धी साहित्य के रूप में अद्वितीय है।

'गोदान' में प्रेमचन्द सम्पूर्ण रूप से अपने पहले के संस्कारों से मुक्त होकर एक शुद्ध वस्तुवादी कलाकार के रूप में दृष्टिगोचर होते है। गोदान में ग्राम-समाज का जो चित्र है, वह कवित्वपूर्ण नहीं है, बल्कि अत्यन्त वस्तुवादी है। दातादीन, पटेश्वरी, झिंगुरी-सिंह, अनोखेराम ये ग्राम्य समाज के स्तम्भ हैं, किन्तु कितने सड़े गले स्तम्भ हैं। इब्सन ने 'समाज के स्तम्भ' नामक नाटक लिखा है,उसे वस्तुवादी होने के नाते बहुत सराहा गया

है, किन्तु ग्राम-समाज का जो चित्र प्रेमचन्द गोदान में हमें देते हैं, वह उससे कुछ कम प्रशंसनीय नहीं है। शरत् बाबू ने अपने 'पल्ली समाज' में ग्राम्य जीवन के इस पहलू को सफलता के साथ चित्रित किया है। गोदान में यह स्पष्ट हो जाता है कि गांववालों की मुसीबत यदि जमींदार और उनके कारिन्दों के कारण है, तो साथ ही उनके जीवन को नरक बनाने में पुलिस का बड़ा भारी हाथ है।

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी उपन्यास बहुत आगे बढ़ गया है, पर जहां तक ग्राम और ग्रामीणों की समस्याओं का सम्बन्ध है, बाद के किसी भी उपन्यासकार ने इन बातों पर न तो उस विस्तार से लिखा, और न वह दृष्टिकोण ही लिया। जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, वृन्दावनलाल वर्मा आदि कई उपन्यासकार हिन्दी में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं, पर इनमें से केवल *वृंदावनलाल वर्मा* ने ग्राम-जीवन को उसी प्यार से अपनाया जिस प्यार से प्रेमचन्द ने अपनाया था। यद्यपि उनके प्यार में कमी नहीं है, फिर भी वे उस आंख से ग्रामीणों के जीवन को नहीं देखते, जिस आंख से प्रेमचन्द देखते थे। शोषक और शोषित सम्बन्ध के कारण ग्राम-जीवन हेय और गन्दा बना हुआ है, वहा के लोगों को न पेट भर रोटी मिलती है, और न संस्कृति के कोई साधन प्राप्त है। हमारे कुछ लेखक ग्राम-जीवन की ओर झुके हैं, जैसे यशपाल ने कांगड़ा के जीवन का जहां-तहां वर्णन किया है, पर देहात की ओर यह यात्रा केवल नये वातावरण में रोमांस की खोज के कारण है, न कि ग्रामवासियों की समस्याओं के समाधान के लिए है। हां, यों चित्रण करते समय वृन्दावन-लाल तथा यशपाल की कृतियों में कुछ समस्याएँ आ गई हैं, यह और बात है। बिहार में राजा राधिकारमण ने ग्राम-जीवन पर बहुत कुछ लिखा है, पर पांच रुपये के गुड़ से शादी करने वाले तथा फीस जमा न कर सकने के कारण वर्षों तक बी० ए० की डिग्री प्राप्त करने में असमर्थ प्रेमचन्द के दृष्टिकोण और राजा साहब के दृष्टिकोण में बड़ा फर्क है।

ग्राम-जीवन पर उपन्यास लिखने की परम्परा को बिहार के ही एक लेखक श्री *नागार्जुन* ने 'बलचनमा' नामक उपन्यास लिख कर आगे बढ़ाया है। ग्रामीणों के साथ सहानुभूति में उनकी समस्याओं के सम्बन्ध में पैनी दृष्टि में साथ ही कलामय चित्रण में वे प्रेमचन्द से कहीं-कहीं सचमुच आगे बढ़ गये हैं, ऐसा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस उपन्यास में दरभंगा जिले का चित्र है, और वह १९३७ तक समाप्त हो जाता है। लेखक खड़ीबोली में वहीं के शब्दों को यत्रतत्र लाकर एक ऐसा स्थानीय रंग पैदा करते हैं, जो न केवल गुदगुदी उत्पन्न करता है, बल्कि गांव के जीवन का एक सजीव चित्र उपस्थित कर देता है। सामन्तवाद को इनऐक्शन दिखाने के साथ ही साथ कांग्रेस ने किस प्रकार इसको तोड़ने में तथा उसे बचाने में काम किया है, इस द्वन्द्व-वादी चित्र को लेखक ने व्याख्यानों से नहीं, बल्कि अपनी कहानी से स्पष्ट किया है। पुस्तक को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि इसके कई भाग निकलेंगे। यह दुःख की बात है कि आर्थिक कठिनाइयों के कारण बिहार के इस परम प्रतिभावान् लेखक को

अपनी कलाकृतियां तैयार करने के लिए समय नहीं मिल रहा है, और ऐसे कामों में समय व्यतीत करना पड़ रहा है, जो शायद उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं है, और साहित्य की दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता। स्मरण रहे कि यहां हम नागार्जुन के विचारों के लिए नहीं, बल्कि उनकी कला के लिए उनकी सराहना कर रहे हैं। साहित्य में विचार बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है, पर यदि विचार कला के ज़रिये से आ पाते हैं, तभी वह साहित्य सार्थक होता है, नहीं तो वह दो कौड़ी का है। हम यह आशा करते हैं कि नागार्जुन मिथिला के ग्रामजीवन पर हमें और सुन्दर कृतियां प्रदान करेंगे।

अब हम कविता के क्षेत्र मे पदार्पण करते हैं, तो वहां हमें यह देख कर आश्चर्य होता है कि यद्यपि आधुनिक कवियों में से बहुतेरे गांव में पैदा हुए, फिर भी उनमें से बहुत कम लोगों ने किसानों पर कविताएँ लिखी। श्री *महावीरप्रसाद द्विवेदी* ने बलीवर्द नाम से एक कविता में हमारी कृषि-पद्धति के केन्द्रस्थल बैल पर यह कविता लिखी थी—

तुम्हीं अन्नदाता भारत के सचमुच बैल महाराज
बिना तुम्हारे हो जाते हम दाना दाना को मुंहताज।

उसी युग के *केशवप्रसाद मिश्र* ने किसान की पीड़ा के सम्बन्ध में लिखा—

जो करता था पेट काट कर सरकारी कर दान,
रहता था प्रस्तुत करने को अभ्यागत का मान।
नहीं हुआ था जिसे धैर्यवश कभी दुःख का भान,
आज वही भूखों मरता है मातादीन किसान।

श्री *मैथिलीशरण गुप्त* ने 'भारत-भारती' में कृषि और कृषक पर कुछ छन्द लिखे। कृषकों में फैले हुए आलस्य का दोष वे उनके शोषण पर मढ़ते हैं—

करते नहीं कर्षक परिश्रम और वे कैसे करें
कर वृद्धि जब है साथ तब वे क्यों वृथा श्रम कर मरें।

वे आगे लिखते हैं—

बरसा रहा है रवि अनल भूतल तवा सा जल रहा,
है चल रहा सन सन पवन तन से पसीना ढल रहा।
देखो कृषक शोणित सुखा कर हल तथापि चला रहे,
किस लोभ से इस आंच में वे निज शरीर जला रहे।
मध्यान्ह है, उनकी स्त्रियां ले रोटियां पहुंची वहीं,
हैं रोटियां रूखी खबर है, शाक की हमको नहीं।
संतोष से खाकर उन्हें वे काम में फिर लग गये,
भर पेट भोजन पा गये तो भाग्य मानो जग गये।

मैथिलीशरण जी ने 'किसान' नाम से एक लघु काव्य भी लिखा है। श्री केशवप्रसाद मिश्र ने फरवरी १९१५ की सरस्वती में लिखा था—

एक दरिद्र कृषक है जिसने किया खेत में दिन भर काम,
किन्तु पेट भर रोटी मिलना, उसको है जय सीताराम ।

गिरिधर शर्मा किसान को कर्मयोगी रूप में देखते हुए 'कृषक कीर्तिगान' कविता में लिखते हैं—

है गीता का गूढ़ ज्ञान,
इस पर तू चलता सुजान ।
गिरिधर जो जन हैं महान,
करते तेरा कीर्तिगान ।

सनेही जी ने रवीन्द्र के एक प्रसिद्ध गीत का अनुवाद किया, जिसकी प्रथम दो पंक्तियां यों हैं—

आंखें खोल देख तू सम्मुख तेरा पूज्य वहां न,
वह है वहां जोतता धरणी जहां गरीब किसान । इत्यादि

पर किसानों के सम्बन्ध में उन दिनों सबसे अच्छा मैथिलीशरण जी ने ही लिखा—

पहला ही ऋण नहीं चुका है, रहटी बीज खवाई का,
कैसे चुके लगा है झगड़ा सब के साथ सवाई का ।
खेती में क्या सार रहा अब कर देवर को बचता है,
कड़े ब्याज के बड़े पेट में सभी फलों में पचता है ।
जमींदार ने कहा कि सुन लो कहते हैं हम साफ—
अब की बार फसल फिर बिगड़े या लगान हो माफ
पर हम जिम्मेदार नहीं हैं छोड़ेंगे न छदाम,

हम आगे कृषक सम्बन्धी कुछ कविताएँ उद्धृत करते हैं । श्री *सुमित्रानन्दन पन्त* ने १९३९ के लगभग लिखा—

कृषक

युग युग का वह भारवाह, आकटि नत मस्तक,
निखिल सभ्य संसार पीठ का उसके स्फोटक ।
वज्र मूढ़, जड़ भूत, हठी, वृष बांधव कर्षक,
ध्रुव, ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियों का चिर-रक्षक ।
कर-जर्जर, ऋण-ग्रस्त, स्वल्प पैत्रिक स्मृति भू-धन,
निखिल दैन्य, दुर्भाग्य, दुरित, दुख का जो कारण,
वह कुबेर निधि उसे,—स्वेद-सिंचित जिसके कण,
हर्ष शोक की स्मृति के बीते जहां वर्ष क्षण ।
विश्व विवर्तनशील, अपरिवर्तित वह निश्चल,

वही खेत, गृह-द्वार, वही वृष, हँसिया औ' हल।
स्थावर, स्थितियों का शिशु स्थावर स्थाणु कृषीवल,
दीर्घसूत्र अति दुराग्रही साशंक औ' वृषल।
है पुनीत संपत्ति उसे दैवी निधि निश्चित,
संततिवत् गो, वृषभ, गुल्म, तृण, तरु चिर-परिचित।
वह संकीर्ण, समूह-कृपण, स्वाश्रित, पर-पीड़ित,
अति नजस्व-प्रय, शोषित, लुंठित, दलित, क्षुधार्दित।
युग युग से निःसंग स्वीय श्रमबल से जीवित,
विश्व प्रगति अनभिज्ञ, कूप-तम में निज सीमित,
कर्षक का उद्धार पुण्य इच्छा है कल्पित,
सामूहिक कृषि काय-कल्प, अन्यथा कृषक मृत।

यदि देखा जाय तो पंत जी की यह कविता किसी भी अर्थ में न तो मैथिलीशरण जी की कविता से सुन्दर है, और न उनकी समस्याओं की गहराइयों में जाती है। शब्द-जाल अधिक है, और किसानों की समस्याओं के सम्बन्ध मे समझ बहुत थोड़ी। हां, अन्त में यह जो कहा है कि 'कर्षक का उद्धार पुण्य इच्छा है कल्पित, सामूहिक कृषि कायकल्प, अन्यथा कृषक मृत,' इन पंक्तियों में यह बताया गया है कि किसानों का उद्धार सामूहिक खेती से ही होगा। मुझे तो इस कविता में कृषकों के प्रति प्रेम का एक विन्दु भी दिखाई नहीं पड़ता, जैसा कि पहले उद्धृत कविताओं में दिखाई देता है। यह तो एक दिमागी कसरत-सी मालूम पड़ती है। भाषा भी कमरती है।

प्रलयवीणा के कवि डाक्टर सुधीन्द्र की 'किसान' नामक कविता में अधिक ऐतिहासिक गहराई और किसानों के प्रति प्रेम दिखाई पड़ता है, पर इसमें किसान के शोषण को एक रूप देकर उसके पिशाचत्व को उभरने नहीं दिया गया। कविता यों है—

किसान

तुम तपोपूत, तुम देवदूत।
तुम अघातीत, तुम पुण्यप्राण।
विभु वह तुममें अवतरित हुआ
लेकर अपना मानव महान।

करते अपने श्रम-सीकर से
तुम संसृति-हित मधु का विधान
निज रक्ताहुति देकर जगको
तुम करा रहे पीयूष-पान

जग की बर्बरता को तुमने
पहनाया संस्कृति-सुपरिधान

तुम शस्य-सष्टि-धाता किसान ।
तुम आदि-अन्नदाता किसान ।
पट से वितान निस्सीम तान
तुमने इस भव का किया त्राण
जग पर अपनी कर-छाया कर
तुम हुए स्वयम् छाया-समान
शिवि, दे-देकर अपना शरीर
तुम स्वयम् बने हो शीर्ण-क्षीण
जिससे न तुम्हें पहचान सकी
आत्मा जग की सकलुष-मलीन
लेकर आत्मा का अमृत-त्याग,
ले तप-मानवता का पराग,
शीशस्थ आग को बना फूल
खेला तुमने बलिदान-फाग
गोपाल ! तुम्हारे जीवन में
उतरा आकर विभु निर्विकार
जग पूत हुआ तुमसे पुनीत
ओ पुण्य सत्र के सूत्रधार ।
हलधर ! तुमने शिर धरा अहो ।
गुरुतम यह संसृतित्राण-भार
संस्कृति होती क्षुन्मग्न-नग्न
तुम बिना आज धर्मावतार ।

इस कविता में किसान को शस्य-सृष्टि-धाता एवं अन्नदाता, शिवि, गोपाल आदि कह कर किसान की मर्यादा बहुत अधिक बढ़ा दी गई है, पर उसकी वर्तमान गिरी हुई अवस्था से उसका किसी प्रकार परित्राण हो सकता है या होना चाहिए, इसका कहीं जरा-सा भी संकेत इस कविता में नहीं है। तपोपूत, देवदूत, अघातीत, पुण्यप्राण कहने से किसान की काल्पनिक मर्यादा में भले ही वृद्धि हो, पर इससे कुछ जाता आता नहीं है। इस दृष्टि से देखने पर सुमित्रानन्दन पन्त की 'कृषक' कविता अच्छी थी, क्योंकि उसमें अत्यन्त सूत्ररूप में ही सही सामूहिक कृषि कायाकल्प से किसान के उद्धार की बात कही गई थी ।

'ग्राम्या' (१९४०) में चल कर सुमित्रानन्दन पन्त ने 'कवि किसान' नाम से एक कविता लिखी है, जिसमें कवि की तुलना किसान से करते हुए उससे नवमानवता का स्वर्णशस्य उगाने के लिए कहा गया है। यद्यपि सच पूछा जाय तो यह कविता कवि पर है न कि किसान पर, फिर भी इसमें किसान के प्रति जो सम्मान की भावना है, उसके

कारण वह कविता इस प्रसंग में उद्धृत करने योग्य है —

कवि किसान

जोतो हे कवि, निज प्रतिभा के
फल से निष्ठुर मानव अंतर,
चिर-जीर्ण विगत की खाद डाल,
जन-भूमि बनाओ सम सुंदर।

बोओ, फिर जन मन में बोओ,
तुम ज्योति पंख नव बीज अमर,
जग जीवन के अंकुर हँस हँस
भू को हरीतिमा से दें भर।

पृथ्वी से खोद निराओ, कवि,
मिथ्या विश्वासों के तृण खर,
सींचो अमृतोपम वाणी की
धारा से मन, भव हो उर्वर।

नव मानवता का स्वर्ण-शस्य-
सौन्दर्य लवाओ जन-सुखकर,
तुम जग गृहिणी, जीवन किसान,
जन-हित भंडार भरो निर्भर।

श्री *गोपालसिंह नेपाली* ने 'जल रहा है गांव' शीर्षक से एक कविता लिखी है, जो बहुत ही सुन्दर है। यद्यपि इसमें किसान के उद्धार का न तो कोई संकेत है और न इसमें भविष्य का कोई इंगित है, फिर भी इसमें किसान की समस्या बड़े ही कवित्व-मय रूप से सामने आ जाती है। इस कविता में उदी उदी, गैल, धरम, दुन्द, उथला उथला आदि शब्दों के कारण जो वातावरण बनता है, वह पंत जी की 'कृषक' कविता में बिल्कुल बन नहीं पाता। पंत की 'कृषक' कविता की भाषा बिल्कुल संस्कृतमूलक है, और उसमें में गांव की सोंधी-सोंधी महक बिल्कुल आ नहीं पाती। पर 'जल रहा है गांव' कविता में यह बात नहीं है। वह कविता यों है—

जल रहा है गाँव

झुरमुटों के पास में यह धुआं उठा है जो
जल रहा है गांव
जल रहा है गांव
उदी-उदी झोपड़ी, सूनी-सूनी गैल
बाजरे के खेत में जुत रहे थे बैल

रोटियों के वास्ते पिल रहे किसान
खड़ी फसल की याद में खिल रहे किसान
पल कराल मेघ बन
लाल-लाल मेघ बन
चैत के आकाश में यह धुआँ उठा है जो
जल रहा है गांव
जल रहा है गांव

२

यह किसी किसान की नहीं चिलम की आग
नहीं किसी फकीर की धरम-करम की आग
ये कहीं से आग की आई चिनगारियां
धधक रही है झोपड़ी, सुलग रही हैं क्यारियां
आज दुन्द बांधकर
बस्तियां बरबाद कर
पश्चिमी बतास में यह धुआं उठा है जो
जल रहा है गांव
जल रहा है गांव

३

उथला-उथला हो गया है गांव का कुआं
सारा पानी पी गया है आग का धुआं
ठोकरों के सामने लुढ़क रहे हैं ढोल
कोयला औ' राख में जिन्दगी का मोल
आंखें लाल-लाल कर
आंधियों की ताल पर
शान्ति के निवास में यह धुआं उठा है जो
जल रहा है गांव
जल रहा है गांव

न जाने इस कविता को पढ़ कर रंगभूमि का वह अन्तिम प्रसंग क्यों याद आ जाता है, जिसमें पांडेपुर गांव के धू-धू करके जलने का वर्णन है।

नरेन्द्र ने पंत के ही ढंग पर 'कवि किसान' नाम से एक कविता लिखी है। कविता का नाम भी वही है पर मुख्य विचार एक होने पर भी कुछ अर्थों में यह कविता यथेष्ट मौलिकता लिये हुए है, पर कविता को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि यह बिना किसी अनुप्रेरणा के लिखी गई है। वह कविता यों है

कवि किसान

हम किसान हैं।
मनोभूमि में ज्योतिबीज बोने वाले हम;
कवि किसान हैं।
हम किसान हैं।

योद्धा को तलवार,
श्रमिक को मिलती छैनी
कृषकों को हल, कवि को
मिली लेखनी पैनी।
कहीं शस्ययुत क्षेत्र,
कहीं उद्ग्रीव गान हैं।
हम किसान हैं।

पंगु न्याय, बिन शक्ति;
वस्तु बिन विश्व अविकसित।
पतित अहल्या भूमि,
गीत के बिना रिक्त चित
जोतेंगे भव-तिमिर
ज्योति-जिह्वा समान हैं।
हम किसान हैं।

इस कविता से कहीं अधिक सहानुभूति उस कविता में पाई जाती है, जो 'मिट्टी और फूल' शीर्षक से १९४२ में प्रकाशित हुई थी। 'मिट्टी और फूल' नामक कविता किसान पर नहीं है, क्योंकि सारी कविता मिट्टी की जबानी कहलाई गई है, फिर भी यह प्रासंगिक है और मिट्टी के प्रेम से ओत-प्रोत है, जो कृषक-जीवन की आत्मा है। वह कविता यों है—

मिट्टी और फूल

वह कहती है, 'हैं तृण-तरु-प्राणी
जितने, मेरे बेटा-बेटी।'
ऊपर नीला आकाश और
नीचे सोना-मांटी लेटी।

'मैं सब कुछ सहती रहती हूँ,
हो धूप-ताप वर्षा-पाला,

पर मेरे भीतर छिपी हुई
बिन बुझी एक भीषण ज्वाला।

मैं मिट्टी हूँ, मैं सब कुछ
सहती रहती हूँ चुपचाप पड़ी,
हिम-आतप में गल और सूख
पर नहीं आज तक गली-सड़ी।

मैं मिट्टी हूँ, मेरे भीतर
सोना-रूपा नौरतन भरे।
मैं सूखी हूँ पर मुझ से ही
फल-फूल और बन-बाग़ हरे।

मैं पांवों के नीचे, मैं ही हूँ
पर पर्वत पर की चोटी।
मेरी छाती पर शत पर्वत,
मैं मिट्टी हूँ सब से छोटी।

मैं मिट्टी हूँ, अंधी मिट्टी,
पर मुकुल-फूल मेरी आँखें।
मैं मिट्टी हूँ—जड़ मिट्टी हूँ,
पर पत्रों में मेरी पाखें।
मैं मिट्टी हूँ—मैं वर्णहीन,
पर निकले मुझसे वर्ण सकल
मेरे रस से प्रसून रंजित—
रंजित नव अंकुर, पल्लव-दल।

मैं गंधहीन, मुझसे करते
फल फूल मूल पर गंध ग्रहण;
जल वायु व्योम जो गंध रहित—
करते वे किसकी गंध वहन ?

मैं शव की शैया, मुझसे ही
उगते हैं नव जीवन-अंकुर,
नभ में कैसे खेती करता
सब जीवों में जो जीव चतुर ?

आती है मेरे पास खगी
दाने दाने की चोंच खोल,

तिन दबा चटुल उड़ जाती वह
मेरे पेड़ों पर जो अबोल।

मुझ से बनते हैं महल और
ये खड़ी मुझी पर मीनारें,
मैं करवट लेती–ढह जाते हैं
दुर्ग, चीन की दीवारें।

हाँ, बुद्धिजीव, आदर्शमुग्ध
मानव भी मेरी ही कृति है,
पैग़म्बर और सिकन्दर का
मुझसे अथ है, मुझमें इति है।

मेरे कन-कन पर उडुगन भी
वारा करते हिमकन-मोती,
जिनकी सतरंगी गोदी में
सिर धर सूरजकिरणें सोतीं।

मैं मर्त्यलोक की मिट्टी हूं,
मैं सूर्यलोक का एक अंश;
आती हैं जिस घर से किरणें
है मेरा भी तो वही वंश।

(२)

इतने में आया हंस वसन्त,
मिट्टी को चूमा–खिला फूल।
थल का बुलबुला फूल जैसे
हंसता समीर में भूल भूल।

जिस मिट्टी से जीवन पाया,
वह उस मिट्टी को गया भूल,
थल का बुलबुला फूल जैसे
हंसता समीर में भूल भूल।

देखा जो तारों को, सोचा–
'मैं भी उड़ जाऊँ बहुत दूर,
है जहाँ जल रहा नीलम के
मन्दिर में वह कर्पूर चूर।'

तितली को देखा और कहा—
'मुझ को दे दो दो चटुल पंख!'
मौना आई तो उससे भी
उड़ने को मांगे चटुल पंख।

फिर आ निकली बन की चिड़िया
तिनके चुगने, चुग्गा लेने,
'ले चलो मुझे भी उड़ा कहीं'—
यों फूल लगा उससे कहने।

चिड़िया की चोंच वसन्ती थी,
था फूल गुलाबी रंगभरा,
बस पल में दीखा चिड़िया के
मुंह में वह डंठल हरा-हरा।

ऊपर था नीला आसमान,
दीखी नीचे सोना धरती,
थल का बुलबुला फूल, टूटा।
पर मिट्टी इसमें क्या करती?

आ गिरा धरा पर फूल, मिला
मिट्टी में, छिन में हुआ धूल।
जिस मिट्टी से जीवन पाया,
था उस मिट्टी को गया भूल।

मिट्टी कहती—'मैं सब कुछ
सहती रहती हूं चुपचाप पड़ी,
हिम-आतप में गल और सूख
पर नहीं आज तक गली-सड़ी!'

कवि *मिलिन्द* ने 'धरती का गीत' नाम से एक बहुत अच्छी कविता लिखी है। कविता की दृष्टि से यह कविता उसी श्रेणी में आती है, जिसमें गोपालसिंह नेपाली की कविता रखी गई, याने इसमें वातावरण का सृजन बहुत सुन्दर रूप से हुआ है। साथ ही धरती के प्रति अपरिमित बल्कि अपरिमेय प्रेम दृष्टिगोचर होता है। कविता यों है--

धरती का गीत

केवल सहृदय सुन पाते हैं
धरती के अन्तर की पुकार।

जिसके प्राणों में पलता है
ज्वालागिरि का उत्ताप प्रखर
पर, जग को देती रहती है
जो शीतल सरिता, सर, निर्झर;
उठती है जिसके कण-कण से
क्षण-क्षण जीवन-रस की फुहार।
केवल सहृदय सुन पाते हैं
धरती के अन्तर की पुकार।

संस्कृति का प्रहरी तपोनिष्ठ
हिमगिरि विकास जिस रजकण का,
वह लघु कण है वात्सल्यपात्र
शिशु, मानो, जिसके आंगन का;
मातृत्व—प्रेरणा नारी की
जिसकी अनंत है स्नेहधार।
केवल सुहृदय सुन पाते हैं
धरती के अन्तर की पुकार।

उत्सर्ग सिखाया नारी को,
है प्रेम पुरुष को सिखलाया;
उनके जीवनपथ पर जिसने
संचित श्रीसौरभ बिखराया;
दे दिया खुले हाथों अपना
नंदनवन करने को विहार।
केवल सहृदय सुन पाते हैं
धरती के अन्तर की पुकार।

जिसकी पुकार है शान्ति, क्षमा,
करुणा, मानवता, ममता की,
जिसकी पुकार है त्याग, न्याय,
शुचिता, उदारता, समता की,
उस पृथ्वी का स्वर सुनने को
अनुभूति चाहिए निर्विकार।
केवल सहृदय सुन पाते हैं
धरती के अन्तर की पुकार।

आकाश शून्य है, सूर्य आग,
विस्तारमात्र, खारा सागर;
पर, चित्रविचित्र और गतिमय
पृथ्वी सुन्दरता की आकर।
है मौन गीत इसका, इसके
कण-कण में है अक्षय दुलार।
केवल सहृदय सुन पाते हैं
धरती के अन्तर की पुकार

वज्राहत, भूकम्पान्दोलित
होकर भी अविचल रहती है;
पहुँचाती क्षति न किसी को भी,
सबसे प्रहार यह सहती है।
तप करती है; रस देती है,
है सृजनशक्ति इसकी अपार।
केवल सहृदय सुन पाते हैं
धरती के अन्तर की पुकार।

जिस दिन इसने आरम्भ किया
इस जग पर स्नेह लुटाना है,
उस दिन से केवल देना ही
इस तपस्विनी ने जाना है।
प्रतिदान प्रेम का इसने कब
किससे है मांगा कर पसार?
केवल सहृदय सुन पाते हैं
धरती के अन्तर की पुकार।

जो केवल लेता रहता है
जो अस्थिर स्वार्थी और मुखर
जो बिना साधना मिलता है
मानव को जीवन के पथ पर,
आदर्श नहीं वह वसुधा का,
वह इसके उसका नहीं प्यार।
केवल सहृदय सुन पाते हैं
धरती के अन्तर की पुकार।

इस प्रसंग में श्री *चिरंजीत* की कविता 'शस्य-श्यामला भूख उगाती' बहुत ही उल्लेखनीय है, इस कविता में इस बात पर विशेष जोर दिया गया है कि यद्यपि किसान दूसरों के लिए फसल उत्पन्न करता है, पर वह अपने लिए भूख ही उगाता है। इस दृष्टि से देखते हुए कवि खड़ी लहलहाती फसल को कंकालों की फसल के रूप में देखते हैं--

शस्य-श्यामला भूख उगाती

शस्य-श्यामला भूख उगाती।
इस घटना पर अचरज कैसा,
शोषण-बीजों का फल ऐसा
नित्य फसल यह उगती ही थी, आज खेत में नहीं समाती।
शस्य-श्यामला भूख उगाती।
प्रलय-घनों ने की सींचाई,
समर-घाम ने बालि पकाई,
मनचाही लहलह खेती लख कुटिल आँख छुप-छुप मुस्काती।
शस्य-श्यामला भूख उगाती।
यदि यह उगती अन्य धरा पर,
वज्र-तड़ित बनता हर पंजर,
पर, इस धरती पर मृत-जीवित लाशों की खेती लहराती।
शस्य-श्यामला भूख उगाती।
कंकालों की फसल खड़ी है,
काल-बणिक की दृष्टि गड़ी है
रे किसान! ऋण तुरत चुका दे, मूल रकम तो बढ़ती जाती।
शस्य-श्यामला भूख उगाती।

अन्त में हम कविवर *दिनकर* की एक प्रासंगिक कविता उद्धृत करते हैं। यों तो उन्होंने विभिन्न प्रसंगों में किसानों पर बहुत कुछ लिखा है किन्तु उनकी किसान सम्बन्धी एक कविता है जिसमें किसानों के प्रति कवि के हृदय में कितनी सहानुभूति है, यह दृष्टिगोचर हो सकती है--

सूखी रोटी खायेगा जब कृषक खेत में धर कर हल
तब दूंगी मैं तृप्ति उसे बन कर लोटे का गंगाजल।
उसके तन का दिव्य स्वेदकण बन कर गिरती जाऊँगी
और खेत में उन्हीं कणों से मैं मोती उपजाऊँगी।
ऋणशोधन के लिए दूध-घी बेंच-बेंच धन जोड़ेंगे
बूँद-बूँद बेचेंगे, अपने लिए नहीं कुछ छोड़ेंगे।

शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलायेगी
मैं फाड़ूंगी हृदय, लाज से आँख नहीं रो पायेगी।
इतने पर भी धनपतियों की उन पर होगी मार।
तब मैं बरसूँगी बन बेबस के आँसू सुकुमार ॥

फटेगा भू का हृदय कठोर
चलो कवि! वनफूलों की ओर। (वनफूलों की ओर)

एक कविता यों है—

बैलों के ये बन्धु वर्ष भर क्या जानें, कैसे जीते हैं,
ज़बां बन्द, बहते न अश्रु, ग़म खा, शायद, आँसू पीते हैं।
पर, शिशु का क्या हाल, सीख पाया न अभी जो आँसू पीना,
चूस-चूस सूखा स्तन माँ का सो जाता रो-बिलग नगीना।
विवश देखती माँ, अंचल से नन्हीं जान तड़प उड़ जाती,
अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र की छाती।
क़ब्र-क़ब्र में अबुध बालकों की भूखी हड्डी रोती है,
दूध-दूध की कदम-कदम पर सारी रात सदा होती है।
'दूध! दूध' ओ वत्स! मन्दिरों में बहरे पाषाण यहां हैं,
'दूध! दूध!' तारे, बोलो, इन बच्चों के भगवान् कहाँ हैं?
वे भी यहीं, दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते हैं,
ये बच्चे भी यहीं, क़ब्र में 'दूध! दूध!' जो चिल्लाते हैं।
बेक़सूर नन्हें देवों का शाप विश्व पर पड़ा हिमालय।
हिला चाहता मूल सृष्टि का, देख रहा क्या खड़ा हिमालय?
हटो व्योम के मेघ पन्थ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
'दूध! दूध!' ओ वत्स! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं। (हाहाकार)

एक टुकड़ा यह भी बड़े मार्के का है—

श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती के लज्जा-बसन बेच जब ब्याज चुकाये जाते हैं,
मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं।
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमंत्रण। (विपथगा)

इस लेख में हमने किसान सम्बन्धी कुछ ही साहित्य का उल्लेख किया है। यह दावा नहीं किया जा सकता कि सबका उल्लेख कर ही दिया गया, पर सभी ढंग का कुछ प्रतिनिधित्व आ गया, इसमें संदेह नहीं।

अवनीन्द्र और कला की बंगाल शैली

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म उसी ठाकुर परिवार में हुआ, जिसने भारत को कई विभूतियाँ प्रदान कीं। वे ठाकुर परिवार के जोडासांको भवन में ७ अगस्त १८७१ को उत्पन्न हुए। उस साल उसी दिन जन्माष्टमी भी पड़ी थी।

ठाकुर परिवार भारत के कला-जीवन में विशेष महत्व रखता है। उनके पिता का नाम गुणेन्द्रनाथ ठाकुर था। उनमें कला के लिए बड़ी अभिरुचि थी। उनके दादा गिरीन्द्रनाथ ठाकुर अच्छे कलाकार थे। पाश्चात्य ढंग पर लैंडस्केप चित्रण करने में उन्होंने अच्छी ख्याति पाई थी। अवनीन्द्रनाथ के सबसे बड़े भाई गणेन्द्रनाथ ठाकुर भी एक ऊँचे दर्जे के कलाकार थे, और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि सारा परिवार ही कला, साहित्य और संगीत में दिलचस्पी लेता था। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर उनके चाचा लगते थे। ऐसी परिस्थिति में उनका एक कलाकार होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर तो ऐसे थे कि जो भी व्यक्ति उनके पास आता था, वे हर प्रकार से उसका साथ देते थे। फिर भला वे अपने प्रतिभाशाली भतीजे को प्रोत्साहन क्यों न देते? उन्होंने अवनीन्द्रनाथ को बराबर प्रोत्साहन दिया, उनकी कृतियों की इस दृष्टि से आलोचना की कि उनमें सुधार हो, साथ ही उन्होंने उसे बहुत सुन्दर दिशा दी। यूँ तो जैसा कि बताया जा चुका अवनीन्द्रनाथ के दादा भी एक कलाकार के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके थे, पर अवनीन्द्रनाथ की विशेषता इस बात में है कि उन्होंने उस समय प्रचलित पाश्चात्य धारा को नहीं अपनाया। उन्होंने उससे बहुत कुछ सीखा पर वे उसी धारा में बह नहीं गये, जैसा कि उस युग में अन्य सभी कलाकर बह रहे थे। उन्होंने अपने लिए एक दिशा ढूंढ़ निकाली। उन्होंने प्राचीन भारतीय कला का एक तरह से फिर से आविष्कार किया, और पाश्चात्य से सीखे हुए तरीकों पर उस थाती को फिर से जनता के सामने स्थापित किया।

कला-जगत् में वे कितने महान् थे, और ऐतिहासिक रूप से उनके दान की क्या महत्ता है इसे समझाने के लिए बहुत अधिक लिखने की आवश्यकता है, पर इतना तो सभी को जान लेना चाहिए कि अवनीन्द्र वह व्यक्ति हैं, जिन्होंने भारत की प्राचीन कला के साथ भारत की नई कला का सम्बन्ध स्थापित किया। वे अपने समय के या अपने से पहले के दूसरे कलाकारों की तरह पाश्चात्य के जूठन से संतुष्ट नहीं हुए। यह ठीक ही है कि किसी एक जाति के लिए यह आवश्यक है कि उसकी एक निजी कला हो, एक निजी साहित्य हो तथा निजी संगीत हो। जब तक ये बातें नहीं होतीं, तब तक कोई चाहे तो उस जाति के अस्तित्व में अविश्वास कर सकता है। अवनीन्द्र ने अपने ढंग से भारत की प्राचीन कला पर आधारित एक कला देने की चेष्टा की। वे ऐसा करने में सफल रहे, यह इस बात से प्रमाणित है कि वे जिन छात्रों को सिखा कर चले गये, उन्हीं में से भारत के एक से एक कला-शिक्षक निकले।

अवनीन्द्र की परिस्थितियाँ बहुत अच्छी थी, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु आज कला-प्रेमी को बहुत अधिक सुविधाएँ मिली हुई है। पहले जितना ज्ञान एक विद्वान् को होता था, आज स्कूल के मामूली छात्रों को उतना ज्ञान प्राप्त है, और—यदि वह चाहे तो वे सब सुविधाएँ भी प्राप्त हो सकती है। अवनीन्द्र ने स्वयं ही लिखा है कि उन्होंने पहले-पहल जब चित्र बनाना शुरू किया, तो उन्हें बार-बार असफलता हुई। वे लिखते हैं—

"इसीलिये तो मैं इन लोगों से कहता हूँ कि सीखना क्या है ? कुछ नहीं, बस बार-बार यही मालूम होगा कि कुछ भी नहीं हुआ। मैं उसी दुःख की बात कह रहा हूँ। सीखना कोई मामूली बात थोड़े ही है। कितना कष्ट करके मैंने तस्वीर बनाना सीखा है, यह क्या बताया जाय। तुम लोगों की तरह नहीं कि मजे में कमरे में बैठे हुए हैं। कुछ घंटे बैठे, कुछ किया और मास्टर साहब आकर भूल सुधार गये।"

अवनीन्द्र बचपन से ही कलाकार बनने के लिए चेष्टा कर रहे थे। उनके कई नज़दीकी भाई आदि कला की शिक्षा पा रहे थे। उनके एक भाई को घड़ी मरम्मत और हाथी के दाँत पर चित्रकारी का शौक था। एक दिल्लीवाला उन्हें हाथी के दाँत की चित्रकारी सिखाता था। कभी-कभी अवनीन्द्र उस कमरे में पहुँच जाते थे और उनमें भी इच्छा हो जाती थी कि वे भी कलाकार बनें। हिन्दू मेला में जाकर उन्होंने जो दिल्ली का बनाया हुआ मिनयेचर देखा था, वह भी उन्हें बहुत पसन्द आया था।

उन्होंने इधर-उधर कई चित्र बनाये। इन चित्रों से वे यह समझ गये कि अभी सीखने की आवश्यकता है। पर उन दिनों वे सीखते तो किस से सीखते। कला की प्राचीन परिपाटी लुप्त-सी हो चुकी थी। भारतीय कला का तो कोई नाम भी न जानता था। यह तय हुआ कि अवनीन्द्र पाश्चात्य कला की शिक्षा प्राप्त करें। उन्होंने माँ से पूछा, तो माँ बोली—**"कोई काम तो कर नहीं रहे हो, स्कूल भी छोड़ दिया है, सीखो, अच्छा तो है। किसी काम में लगे रहोगे यह तो अच्छा ही है।"**

उन दिनों आर्ट स्कूल में सिन्यरगिलार्डी नामक एक इटालियन कलाकार उपाध्यक्ष थे। उन्हीं से वे निजी तौर पर शिक्षा प्राप्त करने लगे। यह तय हुआ कि एक-एक सबक के लिये २० रुपये दिये जायेंगे। सिन्यरगिलार्डी अपने ही घर पर सबक देते थे। वे बड़े प्रेम से शिक्षा देते थे। उन्ही के पास उन्होंने पेड़, पेड़ की डाल पत्ता आदि बनाना सब सीखा। वहीं पेस्टल का काम भी सीखा। तेल रंग का काम प्रतिकृति या पोरट्रेट बनाने का काम वही समाप्त हुआ।

अवनीन्द्र लिखते हैं—"**चित्र बनाने का श्रीगणेश तो उसी इटालियन गुरु के निकट हुआ। पर कुछ दिन बीतने पर ऐसा मालूम हुआ कि विद्यारम्भ तो हुआ, पर विद्या आगे नहीं बढ़ रही है। बंधे हुए सरगम की तरह ट्रेस-सा करके धीरे-धीरे चित्र बनाना, यह अधिक दिन नहीं चला। पहले पेड़, पत्ता बनाने में फिर भी कुछ आनन्द मिलता था, पर आर्ट स्कूल की रीति से कूची चलाना और रंग मिलाना यह अब पसन्द नहीं आया। ६ महीनों के अन्दर ही स्टूडियो की सारी विद्या समाप्त करके वहां से विदाई ली।**"

इन्हीं दिनों रवीन्द्रनाथ ने चित्रांगदा लिखी तो उन्होंने अवनीन्द्रनाथ पर यह जोर डाला कि वे उसके चित्र बनावें। इसके अनुसार उन्होंने चित्र बनाये, इस प्रकार से उनका ध्यान भारतीय विषयों की ओर गया। इसके साथ ही साथ वे प्रतिकृति बनाने में भी बहुत आगे निकल गये। जिसको भी पाते थे, उसे पकड़ कर उसकी प्रतिकृति बनाते थे।

उन्हीं दिनों उस युग के सुप्रसिद्ध कलाकार रविवर्मा ठाकुर परिवार के भवन में आये। उस समय रविवर्मा बहुत विख्यात थे, और अवनीन्द्र एक तरुण कलाकार थे। जिस समय रविवर्मा ठाकुर भवन में आये, उस समय अवनीन्द्र घर पर नही थे। घरवालों ने रविवर्मा को अवनीन्द्र का स्टूडियो दिखलाया, जिसमें उनके बनाये चित्र रखे हुए थे। रविवर्मा उनके चित्र देख कर बहुत खुश हुए। उन्होंने यह कहा कि चित्रकार के रूप में अवनीन्द्र का भविष्य उज्ज्वल है। सम्भव है कि रविवर्मा ने ऐसा केवल प्रोत्साहन के लिए कहा होगा। उन्हें क्या पता था कि अवनीन्द्र का भविष्य कितना उज्ज्वल है, नहीं तो वे उनसे मिले बिना घर से नहीं जाते।

अब अवनीन्द्र पर यह धुन सवार हुई कि वे ऑयल पेंटिंग सीखेंगे। उन्होंने सी. एल. पामर नाम के एक अंग्रेज आर्टिस्ट को अपना गुरु बनाया। अब मॉडल रख कर चित्र-विद्या की शिक्षा होने लगी। एक गोरा मॉडल के रूप में बुलाया गया। उसने आते ही शरीर के ऊपरी हिस्से में जितने कपड़े थे सब खोल डाले। इसके बाद वह पैंट भी खोलने लगा। तब अवनीन्द्र ने चिल्ला कर कहा—हाँ, हाँ, हाँ क्या करते हो? पैंट खोलने की कोई ज़रूरत नहीं है।

पर वह नहीं माना, उसने कहा—मैं ज़रूर पैंट खोलूंगा नहीं तो तुम लोग हमें कम पैसे दोगे।

पामर साहब से अवनीन्द्र ने कहा—साहब इन्हें समझाइये। मैं रुपये उतने ही दूंगा। यह कहीं पैंट न खोल डाले। इसका खुला हुआ शरीर ही यथेष्ट है।

पामर साहब ने अन्त तक उसे समझाया, और किसी तरह उसके पैंट खोलने से छुट्टी हुई।

इसी प्रकार से एक बार एक मेम मॉडल बन कर आई। अवनीन्द्र ने उसका चित्र बनाया। वह चित्र उस मेम साहब को इतना पसन्द आया कि वह चित्र ही मांग बैठी। उसे समझाया गया कि तुम तो रुपया लेकर काम करने आई हो, तुम्हें चित्र से क्या मतलब ? पर वह बोली—नहीं, मुझे रुपये नहीं चाहियें। मुझे यह तसवीर दे दो, नहीं तो मैं यहाँ से हिलूंगी नहीं।

फिर पामर साहब को बीच में डाला गया। पामर साहब ने देखा कि यह ऐसे नहीं मानेगी, तब उन्होंने उसे धमकाया। जहाँ डाँट पड़ी तहाँ वह चुपचाप भाग गई। यह चित्र बहुत सुन्दर बना था।

यहाँ भी उनकी शिक्षा जल्दी समाप्त हो गई। एक दिन पामर साहब ने एक मॉडल को सामने रख कर कहा—इसे तुम दो घण्टे के अन्दर कमर तक अपने चित्र में उतार लो।

उन्होंने ऐसा ही किया, और साहब बहुत खुश होकर बोले—तुमने बड़ा अच्छा काम किया। बहुत सुन्दर आया है।

अवनीन्द्र ने कहा—यह तो हुआ, अब यह बताइये कि आगे क्या करूँ ?

तब साहब ने कहा—मुझे जो कुछ आता था, मैंने तुम्हें सिखा दिया, अब तुम शरीर-विज्ञान सीखो।

इसलिए वे शरीर-विज्ञान सीखने गये। शरीर-विज्ञान सीखने में मुर्दों से वास्ता पड़ता है। पामर साहब ने उन्हें एक मुर्दे का सिर दिया कि इसका चित्र बनाओ। उसे देखते ही उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि कोई रोग का बीज उनकी तरफ हवा में आ रहा है। उन्होंने पामर साहब से कहा कि उन्हें ऐसा अनुभव हो रहा है। पर साहब बोले—नो यू मस्ट डू इट (नहीं तुम्हें यह अवश्य करना पड़ेगा।)

पर उनकी तबीयत घिनघिनाने लगी। जब किसी तरह वे इसका चित्र बना चुके, तब एक सौ छ. डिग्री बुखार था।

कुछ समय के लिए चित्र बनाने का कार्य ही समाप्त हो गया। इसके बाद वे मैरग्रेन नामक एक नार्वे वासी से फ्रेंच भाषा पढ़ने लगे, पर उनका मन तो चित्रकारी में लगा हुआ था, बेचारे ग्रेन साहब तो फ्रेंच पढ़ाते थे, और वे बैठे-बैठे उनका चित्र बनाया करते थे। उनका जी फ्रेंच पढ़ने में न लगा, और उन्होंने फ्रेंच पढ़ना छोड़ दिया। ये महाशय नार्वे से राजा राममोहन राय का नाम सुन कर भारतवर्ष पधारे थे। वे यहीं पर मर भी गये। बाद को अवनीन्द्र ने अपनी फ्रेंच पढ़ने की कापियों से उनका चित्र बनाया।

नार्वे में उनके नाम पर एक अजायबघर खुला, तो उनके चित्र की आवश्यकता हुई। रवीन्द्रनाथ ने अवनीन्द्र को बतलाया कि इस कारण से चित्र की आवश्यकता है, तब उन्होंने श्री हेमरग्रेन का वह चित्र निकाला और उसे नार्वे भेज दिया।

अब उन्हें वाटर कलर या पानी के रंग की तसवीर बनाने की धुन सवार हुई। वे कलाकार के सब साधन लेकर मुंगेर पहुँचे, और वहाँ घूम-घूम कर तरह-तरह के चित्र बनाये। इसी प्रकार वे बहुत से चित्र बनाते गये, पर उनकी तबीयत नही भरी। बात यह है कि अभी तक उन्होंने उस गुर का आविष्कार न किया था जिस कारण उनका चित्त लालायित था। ऐसे समय में एक घटना हुई जिससे उनका सारा दृष्टिकोण ही बदल गया।

उनके बहनोई ने उन्हें ईरानी चित्रों का एक संग्रह उपहार के रूप में भेजा। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी इसी समय उन्हें रविवर्मा की कुछ तसवीरों के फोटो दिये। उन दिनों, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, रविवर्मा भारतीय चित्रकारों में सब से प्रसिद्ध थे। इन चित्रों को पाकर उनकी आँखें खुल गईं।

उनके मन में यह विचार आया कि पाश्चात्य चित्रकला के अतिरिक्त भी चित्र हो सकते हैं। अब विषय के लिये उनके सामने प्रश्न आये। ऐसे समय में उनके चाचा कवीन्द्र रवीन्द्र फिर सामने आये और उन्होंने उन्हें यह सुझाया कि वैष्णव पदावली पर अर्थात् पुरानी वैष्णव कविता पर क्यों न चित्र बनाये जायँ। यह बात उन्हें महा पसन्द आई। उन्होंने पहले-पहल चंडीदास की एक कविता पर एक चित्र बनाया। यद्यपि भारतीय पद्धति में यह पहला चित्र था, फिर भी उन्होंने आश्चर्य के साथ देखा कि इसमें राधा का जो चित्र बना था, वह साड़ी पहनी हुई मेम साहब का चित्र था। इससे उन्हें बड़ी निराशा हुई, पर वे जल्दी ही इस निराशा पर विजय प्राप्त कर गये।

अब उन्हें देशी पद्धति से चित्र बनाने की साधना करनी पड़ी। हाथ तो सधा हुआ था ही। वे जल्दी ही सीख गये। राजेन्द्र मलिक के मकान में पवन नाम का एक मिस्त्री फ्रेम बनाने का काम करता था, उससे उन्होंने शिक्षा ली। इसी प्रकार और भी खोज चलने लगी। वे इस पद्धति को जल्दी ही सीख गये, और अब तो वह धडा-धड़ चित्र बनाने लगे। कृष्ण-चरित्र बुद्ध-चरित्र आदि लेकर वह चित्र बनाने लगे। उनकी ख्याति सारे देश में फैल गई। वे १९०० में कलकत्ता के आर्ट स्कूल के वाइस प्रिंसिपल लग गये। इसके बाद का इतिहास एक-सा ही है। अब तो वे अवनीन्द्र वह अवनीन्द्र हो चुके थे जिन्हें भारत की कला को प्रतिष्ठित करना था। वे बहुत अच्छे संगीतज्ञ भी थे। कुछ लोगों का कहना है कि संगीत में पारंगत होने के कारण ही वे यह समझ गये थे कि असली रस क्या है। उन्होंने चीन तथा जापान की प्राचीन कलाओं का भी अध्ययन किया।

१९०८ में वे प्राच्य कला के भारतीय समाज के संस्थापकों में हो गये। इसमें बहुत से भारत-प्रेमी योरोपियन विद्वान् भी थे। १९०७ से प्रतिवर्ष उनके चित्रों

की प्रदर्शिनी भारत में होती रही। १९१४ में पेरिस के ग्राँ पाले में उनके चित्रों की एक प्रदर्शिनी हुई जिसके कारण उनका यश भारत के बाहर भी फैल गया। ब्रसल्स और लंडन में भी उनके चित्रों की प्रदर्शिनी हुई।

शिक्षक के रूप में वे बहुत सफल रहे। उनके शिष्यों में नन्दलाल बोस, के. एन. मजूमदार, असितकुमार हलदार और डी० पी० राय चौधुरी बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। यदि वे केवल एक कलाकार होते, तो उनकी ख्याति इतनी नहीं फैलती, जितनी कि इस बात से फैली कि उन्होंने बहुत से बड़े कलाकारों को उत्पन्न किया। उनके चित्रों में बुद्ध और सुजाता, निर्वासित यक्ष, दारा का सिर, कजली नृत्य, अन्तिम यात्रा, ग्रीक की रानी, शाहजहान का स्वप्न आदि प्रसिद्ध है।

५ दिसम्बर १९५१ को उनका स्वर्गवास हुआ। उन्होंने अपने दीर्घ जीवन में जो कुछ भी किया उससे भारत का सिर ऊँचा हुआ। उनके कार्य को आगे बढ़ाने का भार उसके बाद आनेवालों पर है।

संक्षेप में अब बता दिया जाय कि भारतीय कला-जगत् में अवनीन्द्र का स्थान क्या है। श्री नेहरू ने 'भारत का आविष्कार' नाम से एक ग्रन्थ लिखा है। उनका मतलब शायद पाश्चात्य जगत के सम्मुख भारत के आविष्कार से था, क्योंकि उनकी पुस्तक भारत के बाहर के जगत् को सम्बोधित करके लिखी गई है। जो भी हो, नेहरू किसी भी अर्थ में भारत के आविष्कारक नहीं माने जा सकते। उनके सम्बन्ध में अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि पाश्चात्य जगत् के सामने उन्होंने भारत को रखा, पर यह भी काम उनसे पहले हो चुका था।

जिन लोगों ने सचमुच भारत का आविष्कार किया है, भारत के पुराने स्व को खोजकर उसे नव प्रतिष्ठा देने की चेष्टा की है उसकी सूखी हड्डियों में प्राण-प्रतिष्ठा की है उनमें अवनीन्द्र का नाम प्रमुख है। उन्होंने कलामय भारत का आविष्कार किया, अपनी पुरानी थाती को सामने रखा और उस पर नव निर्माण कार्य करने का प्रयास किया।

जिस समय हमारे श्वेतांग शासकों की ओर से यह कहा जा रहा था कि हम में कुछ भी नहीं है, हमें पाश्चात्य जगत् के सामने साष्टांग लेट जाना चाहिये; जब इस प्रकार से हमारी आत्मा का हनन हो रहा था, उस समय जिन लोगों ने हमारे भूत-काल के गौरव को लाकर हमारे सामने रखा, उन्होंने एक बहुत बड़ा प्रगतिशील कदम उठाया। दलित तथा पराधीन जातियों में प्रायः प्रगति का सूत्रपात पुनरुज्जीवनवाद के रूप में हुआ, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

कोई जाति अपनी शासक जाति के विरुद्ध सफलता के साथ तभी खड़ी हो सकती है, जब कि वह यह अनुभव करे कि वह भी कुछ है। इस भावना को उत्पन्न करने में पुनरुज्जीवनवादी विचारों ने (जिनमें अक्सर अतिरंजन भी होता था) बहुत बड़ा प्रारम्भिक कार्य किया। धर्म तथा विचारधारा के क्षेत्र में राजा राममोहन,

महर्षि दयानन्द तथा स्वामी विवेकानन्द आदि ने जो काम किये, साहित्य और कला के क्षेत्र में इसी काम को बंगाल में ठाकुर परिवार ने किया।

अवनीन्द्र कवीन्द्र रवीन्द्र के भतीजे थे। कला के क्षेत्र में नवजीवन के प्रवर्तन करने का श्रेय अवनीन्द्र को ही प्राप्त हुआ। इस दृष्टि मे उनका नाम भारतीय इतिहास में अमर रहेगा। रहा यह कि अवनीन्द्र ने जो मार्ग दिखलाया और जो बाद को चल कर बंगाल स्कूल के नाम से मशहूर हुआ, वही सर्वकाल के लिए भारतीय कला के भविष्य मार्ग को नियंत्रित करेगा। मैं इस बात को नहीं मानता। इस पर कुछ और कहने के पहले यह स्पष्ट कर दिया जाय कि बंगाल स्कूल का अर्थ बंगाली कलाकारों से नही है। बंगाल-स्कूल तो अब एक शैली का नाम है, जिसके प्रतिपादकों मे बंगाल से बाहर के सैकड़ों कलाकार हैं। इसी प्रकार आधुनिक-स्कूल में जो बहुत कुछ 'एकोल द पैरी' याने पैरिस-स्कूल से प्रभावित है बहुत मे बंगाली हैं, जैसे शैलोज मुखर्जी इत्यादि। मैंने इतना कहना इसलिये आवश्यक समझा कि कहीं कोई साधारण पाठक यह न समझ ले कि यह प्रान्तीय आधार पर कलाकारों की एक लड़ाई है।

मैं यह समझता हूँ कि बंगाल स्कूल ने अपने समय में बहुत बड़ा कार्य किया, हमारे लुप्त बल्कि दलित आत्म-सम्मान को पुनःस्थापित करने में इस स्कूल ने बड़ा भारी कार्य किया, इसके अन्तर्गत लोगों ने कुछ बहुत अच्छे प्रयोग भी किये, जिनमें कई बड़े सफल भी रहे। स्वयं अवनीन्द्र ने ही 'बुद्ध और सुजाता', 'कच और देवयानी' आदि कितने ही सुन्दर चित्र बनाये।

पर इस कारण यह कहना कि भारतीय कला केवल इसी दायरे में कोल्हू के बैल की तरह घूमेगी, वह बाहर के प्रभावों को अपने पास फटकने नहीं देगी, यह बिलकुल गलत है। जैसे आज कोई यह कहे कि भारत केवल वर्णाश्रम के विचारों तक ही अपने दृष्टिकोण को सीमित रखेगा, और समाज रचना के नये सिद्धान्तों को नहीं अपनायेगा, तो वह जैसे हास्यास्पद होगा, उसी प्रकार से बंगाल-स्कूल से आगे न जाने का सिद्धान्त बहुत गलत होगा। मैं ए. एम. रामन ऐसे लोगों को बहुत ही भ्रान्त और गुमराह समझूंगा जो नये युग की नई वाणी के आवेश में यह कहते हुए पाये जाते हैं कि ऐतिहासिक रूप से भी बंगाल-स्कूल ने कुछ नही किया। ऐसे लोगों के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि इन्होंने इतिहास को गलत ढंग से पढ़ा है। यह कहना दूसरी बात है कि अमुक का युग ढल गया, पर यह कहना कोई अर्थ नहीं रखेगा कि जिन शक्तियों ने इतिहास में बड़ा काम किया उन्हें बिल्कुल अस्वीकार ही कर दिया जाय।

अवनीन्द्र का स्थान तो एक दृष्टि से और भी ऊँचा है। वे केवल एक कलाकार ही नहीं थे, साथ ही वे कलाकारों के गुरु भी थे। कितने ही कलाकार उनसे शिक्षा प्राप्त कर आचार्य हो गये।

उन्होंने लिखा है—"चित्र बनाना सिखाने में कितने दिन लगते हैं? अधिक दिन

नहीं केवल छः महीने। मैंने जो शिक्षा दी, वह इतने ही अर्से में समाप्त हो गई और मैंने कलाकार बना दिये। इससे अधिक समय तो नहीं लगना चाहिए। जिन्हें कुछ होना जाना होता है, वे इसी अर्से में सीख जाते हैं, और जिन्हें इस बीच में कुछ होता नहीं है उन्हें चाहिये कि वे घर लौट जायें। हाँ, यह मैं मानता हूँ कि अण्डे से बच्चे के निकलने में बँधा हुआ समय लगता है। इसके बाद तो उड़ जाओ। और यदि बत्तख के बच्चे हो, तो पानी में तैरने लगो। चित्र तो बना रहे हो तुम इसमें मास्टर साहब क्या करेंगे! तुमने पेड़ की डाल को जिस रूप में देखा है उस रूप में चित्रित करो। तुम मास्टर साहब की तरह डाल क्यों बनाओगे? तरकारी में यदि नमक अधिक पड़ गया तो उसे फेंक कर फिर से खाना पकाओ, खीर में शक्कर कम है तो शक्कर डालो। चित्र में भी गलतियाँ होती हैं, उमें मिटा कर नया चित्र बनाओ। बार-बार एक ही विषय को लेकर चित्र बनाओ। मैं तो ऐसा ही करता। चित्र में इधर-उधर सुधार कर देना या बना देना यह कैसी शिक्षा है? जरूरत हो तो थोड़ा नमक या चीनी और डालो पर पेड़ की डाल ऐसी होगी, और टांग ऐसी ही होगी, इस प्रकार की शिक्षा देने में मैं विश्वास नही करता। मैंने नन्दलाल आदि को ऐसे नहीं सिखाया है।"

इससे यह स्पष्ट है कि अवनीन्द्र अनुकरण के विरुद्ध थे, और अनुभूति पर जोर देते थे। फिर भी इस समय बंगाल-स्कूल मे अनुकरण का बोलबाला है, इसमें न तो इसके प्रवर्तन का दोष है, और न इसीमें कोई अन्तर्निहित नुक्स है। इसका कारण यह है कि एक ओर तो इस शैली की सम्भावनाएँ समाप्तप्राय हैं और दूसरा यह कि अब यह ऐसे लोगों के हाथों में आकर मुख्यतः अटका है, जिन्हें अवनीन्द्र की भाषा में घर लौट जाना चाहिये था।

अवनीन्द्र की कलासाधना में हम इसी बात को प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं कि प्रतिभा म अपरिमित मात्रा में कष्ट सहन करने की सामर्थ्य है। उन्हीं की भाषा में पहले असफलता ही आई। उनके बड़े भाई सेन्टजेवियर मे चित्रांकन विद्या सीखते थे और चित्रों के लिये उन्हें पुरस्कार भी मिला था। घर में कई और लोगों का झुकाव भी कला की ओर था। एक साहब हाथी के दाँत पर चित्रकारी सीखते थे। वे स्वयं भी रंग और कूची लेकर कुछ न कुछ किया करते थे, पर कोई निरन्तर अभ्यास नहीं चल रहा था। संस्कृत कालेज में एक साहब ने उन्हें लक्ष्मी, सरस्वती का चित्र बनाना सिखाया था।

जब बड़े हो गये, विवाह हो गया, एक लड़की के बाप हो गये तब उन्हें 'स्वप्न-प्रयाण' नामक कविता के चित्रण की धुन सवार हुई। इसमे जैसे उनके मन-मन्दिर की चाभी खुल गई। और भी दो एक चित्र बनाये और वे प्रकाशित हुए।

अब उनकी ही भाषा में सुनिये। मेरी भी इच्छा हुई कि मैं चित्र विद्या सीखूं। उन दिनों यूरोपीय कला के अतिरिक्त कोई गति नहीं थी। कोई भारतीय कला का

नाम भी नहीं जानता था। गिलार्डि आर्ट स्कूल के उपाध्यक्ष एक इटालियन कलाकार थे।

उन्होंने उन्हीं से पेड़, पेड़ की डाल और पत्तों का चित्र बनाना सीखा। पैंलस्टेल का काम भी सीखा। तैलचित्र भी सीखा, पोर्ट्रेट बनाना भी सीखा।

कुछ दिन बीते तो मालूम हुआ कि प्रारम्भिक शिक्षा के बाद विद्या आगे नहीं बढ़ रही है। तेल और रंग का काम शुरू किया, तो देखा कि इटालियन शैली पर आगे नहीं बढ़ सकते। बने हुए सरगम की तरह केवल अनुकरण से चित्र बनाना अच्छा नहीं लगा। पहले पेड़ पत्ते बनाने में कुछ आनन्द मिलता था। यह आनन्द अब जाता रहा। ६ महीने में स्टुडियो की सारी शिक्षा समाप्त कर सटक गया।

इसके बाद उन्होंने अपने घर में स्टुडियो बनाया और उसमें रवीन्द्रनाथ की प्रेरणा से कला-साधना चलने लगी।

प्राचीन युग से इनको प्रेरणा मिली और उनकी दृष्टि भारत के प्राचीन चित्रों, मूर्तियों आदि की तरफ गई। रवीन्द्र ने उन्हें वैष्णव-पदावली पर चित्र बनाने की प्रेरणा दी। पर पहला चित्र जो 'शुक्लाभिसार' के नाम से बना। उसमें जो राधा बनी वह साड़ी पहनी हुई मेम साहब की तरह बनी। इस पर उन्हें निराशा हुई और वे भारतीय चित्रकला की टैकनीक सीखने की ओर झुके। यहीं से अवनीन्द्र ने उस भारत का आविष्कार किया जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। भारत को कला के मानचित्र पर रखवाने का श्रेय बहुत कुछ उन्हीं को है।

अवनीन्द्र बाल-साहित्य के बड़े ऊँचे दर्जे के लेखक थे। उन्होंने "खीर की गुड़िया" और "राज कहानी" नाम से दो बाल-साहित्य की पुस्तकें लिखी हैं, जो बंगला साहित्य में अमर हैं। पहली पुस्तक का तो फ्रैंच में भी अनुवाद हो चुका है। बुढ़ापे में वे बच्चों के लिये खिलौने भी बनाते थे।

भारतीय संस्कृति और आदिम जातियों का भविष्य

भारतवर्ष में लगभग ढाई करोड़ व्यक्ति ऐसे हैं जिनको आदिम जातियों में गिना जाता है। इनमें से कई जातियां बहुत छोटी हैं, पर लगभग चालीस जातियां ऐसी हैं, जिनकी जनसंख्या एक लाख से ऊपर है। उत्तर और दक्षिण में कई जातियां ऐसी हैं, जिनकी संख्या पांच लाख से ऊपर है। गोंड, संथाल और भीलों की संख्या क्रमशः ३२, ३७ और २२½ लाख है। इस प्रकार इन तीन जातियों की जनसंख्या सब मिला कर आदिम जातियों की कुल संख्या की एक तिहाई हो जाती है। ओरांव जाति की जनसंख्या १९¼ लाख है। इसी प्रकार और भी कई जातियां हैं जिनकी जनसंख्या दो लाख के लगभग है।

हमारी साधारण पाठ्य पुस्तकों में इन जातियों के सम्बन्ध में करीब-करीब कुछ नहीं रहता, और बहुत सम्भव है कि ये ही लोग भारत के आदिम अधिवासी हों। इतना तो सुनिश्चित है कि वे आर्यों के पहले से भारत में हैं। केवल यही नहीं, आज के हम भारतीयों की सभ्यता, संस्कृति, यहां तक कि धर्म-विश्वासों में आर्येतर लोगों का बहुत बड़ा दान है। इस लेख में हम इस पहलू पर कुछ अधिक नहीं कहेंगे, हमारा केवल वक्तव्य इतना ही है कि उनकी तरफ हमारी वर्तमान उदासीनता अवांछनीय है। डाक्टर अम्बेदकर ने ठीक ही लिखा है कि पद्धति में बहुत बड़ी जनता सभ्यता के बीच रह कर भी बर्बरता की हालत में पड़ी हुई हैं तथा एक तिहाई लोग अस्पृश्य हैं, उस सभ्यता को एक कलुष ही कहा जा सकता है।

यह नहीं कि इन लोगों को कथित रूप से सभ्य बनाने की चेष्टा नहीं हुई। ईसाई मिशनरियों से लेकर आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी सभी लोग इन्हें सभ्य बनाने के लिए आगे बढ़े,और उन्होंने यह चेष्टा की कि अपना-अपना धर्म,अपनी भाषा तथा अपना संगीत आदि इन पर लादें। कुछ हद तक ये लोग सफल रहे, और मिशनरी तो बहुत अधिक

सफल रहे; क्योंकि ब्रिटिश युग में उन्हें राज्य की ओर से आर्थिक तथा नैतिक सहायता मिलती रही।

ये प्रचारक इस सम्बन्ध में निर्भ्रान्त थे कि वे इन लोगों को जो रोशनी पहुँचा रहे हैं, वह सचमुच रोशनी है। मिशनरियों और सम्प्रदाय-विशेष के उपदेशकों के लिए इस प्रकार की धारणा आश्चर्यजनक नहीं थी; क्योंकि इन बेचारों को तो इसी प्रकार की शिक्षा ही मिली है, पर जो लोग वैज्ञानिक रूप से आदिम जातियों की समस्याओं पर विचार करते हैं, उनके लिए इस प्रकार का पक्षपात अवांछनीय तथा अक्षम्य है।

श्री भगवानदास केला ने 'हमारी आदिम जातियां' नाम से एक पुस्तक लिखी है। उसमें वे इसी प्रकार की मनोवृत्ति का परिचय देते हैं। पहले तो वे किसी तरह यह प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं कि आसपास के हिन्दू प्रभाव से प्रभावित आदिम जातियां वास्तव में पिछड़े हुए हिन्दू ही हैं। इसके बाद वे आदिम जातियों पर हिन्दू बनने का सुप्रभाव बताने के लिए आगे बढ़ते हैं। वे यह दिखलाते हैं कि "आदिम जातियों सम्बन्धी अध्ययन से स्पष्ट है कि इन जातियों के जो आदमी हिन्दू हो गये हैं, वे धर्म का पालन न्यूनाधिक इस प्रकार करते हैं जैसे हिन्दुओं की नीची जातियां करती हैं, अन्तर यह है कि आदिम जातियों ने बहुत से त्योहारों के मनाने में शराब के सेवन का त्याग नही किया है जैसे कि हिन्दुओं की कई नीची जातियों ने कर दिया है।"

इन बातों के बताने के बाद केला जी यह बताते है कि आदिम जातियों ने कुछ हिन्दू विश्वासों तथा त्योहारों को अपनाया है। हिन्दुओं के सम्पर्क से उनमें शिक्षा के लिए प्रेम उत्पन्न हुआ है, यह भी बताया गया है, पर यह स्पष्ट नही किया गया कि हिन्दुओं के सम्पर्क में ही शिक्षा के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ है, या ऐसा ईसाइयों के सम्पर्क में भी समान रूप से हुआ है अथवा हो सकता है। दावा किया गया है कि उनमें हिन्दुओं के सम्पर्क से शराब का प्रचार कम हुआ है।

इन सब बातों को बताने के बाद यह उपसंहार निकाला गया है कि आदिम जातियों की उन्नति हुई है, और ऐसा हिन्दू बनने के कारण हुआ है। विद्वान् लेखक इस बात से अपरिचित नहीं है कि हिन्दुओं के सम्पर्क से उन्हें कुछ असुविधाएँ भी हुई हैं, पर इन असुविधाओं को वे मालगुजारी और कानून की अंग्रेजी पद्धति पर थोप कर निश्चिन्त हो जाते हैं। साफ़-साफ़ यह क्यों नहीं कहते कि हिन्दुओं तथा अन्य सभ्य लोगों ने उन्हें शोषण करने की चेष्टा की है, और उसमें सफल होने के कारण उनकी दुर्दशा बढ़ी है। इस प्रसंग में यह भी बता दिया जाय कि केला जी फिर भी हिन्दू धर्म को एक प्रगतिशील शक्ति मानते हैं। कैसे? यह समझ में नहीं आता। अन्य प्रसंग में लिपि के प्रश्न पर लिखते हुए वे आदिम जातियों में रोमन लिपि का विरोध करते हैं, और यह चाहते हैं कि आदिम जातियों को प्रान्तीय लिपि के अतिरिक्त देवनागरी लिपि सिखाई जाय।

मैं यहाँ पर इस विषय पर कोई फ़तवा देने नहीं जा रहा हूँ कि आदिम

जातियों के लिए कौन-सा धर्म अच्छा है, ईसाई धर्म या हिन्दू धर्म; कौन सी लिपि अच्छी है देवनागरी लिपि या रोमन लिपि; मैं तो केवल इस मनोवृत्ति का विरोध कर रहा हूं कि अपना धर्म, लिपि या भाषा के प्रचार को आदिम जाति के सुधार का कार्य समझा जाए। आदिम जातियों के सुधार के लिये धर्म, लिपि-विशेष या भाषा-विशेष की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी कि इस बात की आवश्यकता है कि आर्थिक रूप से उन्हें उन्नत किया जाय।

आदिम जातियों की सबसे बड़ी समस्या है ग़रीबी। इसे दूर करने के लिये ज़ो कुछ भी किया जाय, उसे महत्व देना चाहिए। अपने बोंगा को पूजने के बजाय शिव, काली, दुर्गा, ईसा, मूसा को पूजने से कोई विशेष फर्क आयेगा ऐसा तो नहीं मालूम होता। जहाँ तक लिपि का सम्बन्ध है, जिन जातियों ने मिशनरियों के प्रभाव में आकर रोमन लिपि को अपनाया है, उनमें अर्थात् उनके पढ़े-लिखे लोगों में रोमन लिपि के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया है, इसलिये उनमें प्रान्तीय या देवनागरी लिपि के प्रचार को लेकर काम करने जाना कहाँ तक उचित होगा, यह समझ में नहीं आता। इन आदिम जातियों को भारत में ही रहना है, इसलिए भारतीय लिपि तथा भाषा सीखना, विशेषकर प्रान्तीय और राष्ट्रीय भाषा को सीखना उनके लिए वांछनीय और शायद कल्याणकारी भी हो, पर इन्हें लादने का या पहले से प्रचलित लिपि को घटा कर दूसरी लिपि का प्रचलन किसी प्रकार अच्छी बात नहीं कही जा सकती। यदि आदिम जातियों के नेता प्रचलित लिपि को बदलना चाहें तो वह दूसरी बात है। पर हम बाहरी लोग किसी धर्म, भाषा या लिपि के मिशनरी बन कर उनमें जायें और यह समझें कि हम बहुत सुन्दर कार्य कर रहे है, मेरी समझ में नहीं आता।

तो क्या आदिम जातियों को जैसे का तैसा छोड़ दिया जाय? ऐसे भी कुछ लोग है, जो यह कहते है कि आदिम जातियों को बिल्कुल अलग छोड़ दिया जाय, और उन्हें कतई छेड़ा न जाय। कुछ नृतत्व शास्त्रियों के विचार इसी ढंग पर हैं। उनका कहना है कि अब दुनियां में बहुत थोड़े लोग आदिम समाज की अवस्था में रह गये हैं। इसलिए अध्ययन आदि के लिए इन्हें ज्यों का त्यों रहने दिया जाये।

ढाई करोड़ के विराट मानव समाज को विज्ञान के लिए ही सही आदिम समाज की अवस्था में छोड़ देने का सुझाव स्वार्थपरतामूलक है। ढाई करोड़ मनुष्यों को चिड़ियाघर के रूप में पाल रखने का विचार सर्वथा घृण्य है। मैं यह मानता हूँ कि नृतत्व के अध्ययन की दृष्टि से आदिम जाति के लोग, उनके धर्मविश्वास, रीति-रिवाज बहुत ही सुन्दर मसाले या उपकरण है, पर अध्ययन कितना भी आवश्यक हो, इतने बड़े मानव समाज को उसके नाम पर मनुष्यता की साधारण आवश्यकताओं से वंचित रखना निष्ठुरता की पराकाष्ठा है। यदि वैज्ञानिकगण इस उपकरण को इतना मूल्यवान् समझते हैं (जैसा कि निस्संदेह वह है) तो वे जल्दी से जल्दी कैमरा, ग्रामोफोन आदि के सहारे फिल्म आदि लेकर इस उपकरण को सुरक्षित कर लें। डाक्टरी के अध्ययन के

लिए नासूर पाला तो नहीं जा सकता।

फिर प्रश्न यह है कि यथार्थरू प में क्या ये जातियां आदिम समाज की हालत में रह सकती हैं ? जब कि उनके चारों तरफ हमारी समाज-पद्धति के जाल बिछे हुए हैं, तो क्या उनमें आदिम समाज की अवस्थाएँ रह सकती हैं ? सूद पर रुपया देनेवाले, जमींदार, जंगल-कानून, पुलिस आदि कितने ही बाहरी उपकरण बराबर उनमें पहुँच रहे हैं। इनके अतिरिक्त हमारे धार्मिक, सामाजिक विचार भी उन तक पहुँच चुके हैं। इन प्रभावों से उनका प्राचीन जीवन बहुत कुछ विध्वस्त हो चुका है। श्री एलविन की भाषा में आदिम जातियों में स्नायु का अभाव हो चुका है। वे विश्लेषण करके यह भी बताने का प्रयत्न करते हैं कि इस स्नायु के अभाव के पीछे कौनसी बातें हैं। इनमें वे भूमि का अभाव, जंगल की स्वतंत्रता तथा आनुष्ठानिक शिकार का अन्त, घर में शराब चुकाने की प्रथा का दमन, कानून के साथ संघर्ष के कारण स्नायविक और नैतिक थकावट, उद्देश्यहीन शिक्षापद्धति, आम ग़रीबी, कबायली धंधों का अन्त, सृजनात्मक वृत्ति की व्यर्थता में पर्यवसित होना तथा कबायली धर्म पर बाहरी संस्पर्श के परिणाम को गिनाते हैं।

कहना न होगा कि इनमें से कई ऐसे हैं, जिन्हें हटाया नहीं जा सकता। इस लिए यह तो आशा करना व्यर्थ है कि ये आदिम जातियां आदिम समाज को प्रतिफलित करती रहेंगी। यही आश्चर्य की बात है कि इतनी शताब्दियों तक वे बहुत कुछ आदिम अवस्था में कैसे बनी रह सकीं। एक तरफ तो यह इन आदिम जातियों की महान् जीवनी शक्ति का परिचायक है, दूसरी तरफ यह इर्द-गिर्द की सभ्य जातियों की सहिष्णुता या निश्चेष्टता का (जो भी कह लीजिए, शायद दोनों बातें रही हों) परिचायक हो। पर अब उनकी प्रतिरोध शक्ति घट रही है, साथ ही इर्द-गिर्द के प्रभावों की छिन्न-भिन्न करने की शक्ति बढ़ती जा रही है। अब इन को ज्यों का त्यों रहने देने के दो अर्थ होंगे, एक तो यह कि जिस अध्ययन-सुविधा के लिए इन्हें चिड़ियाघर के रूप में बचा रखने की बात हो रही है, यह सिद्ध नहीं होगी क्योंकि इनकी संस्कृति बुरी तरह वर्णसंकर होती जा रही है, दूसरा अर्थ यह होगा कि सभ्यता की सुविधाओं से तो इन्हें हम वंचित रखने में समर्थ हो सकते हैं, पर सभ्यता की असुविधाओं से हम उन्हें बचा नहीं सकते, सच तो यह है कि वे इन असुविधाओं में गोते खाते हुए दिखाई पड़ रहे हैं।

इसीलिए किसी भी दृष्टि से देखा जाय, इन्हें ज्यों का त्यों रखने का विचार गलत है। इसलिए अब यह प्रश्न उठता है कि फिर इनमें किस प्रकार कार्य किया जाय। सब से पहले तो इनकी आर्थिक अवस्था को सुधारना पड़ेगा। इनमें घरेलू धंधों का वैज्ञानिक रूप से प्रवर्त्तन वहीं तक उपयोगी सिद्ध होगा, जहाँ तक कि ये धंधे उनके वर्तमान धंधों या धंधों के अभाव से अधिक अर्थकारी सिद्ध होंगे। इस सम्बन्ध में मैं समझता हूँ कि सोवियत रूस ने उज़बेक, किर्गिज़ आदि जातियों में जिस प्रकार कार्य

किया है, उसी का हमें अनुकरण करना चाहिए। इन जातियों को रूस ने किस प्रकार थोड़े ही वर्षों के अन्दर सभ्यता की अगली कतार में ला दिया है, यह मानव जाति के इतिहास में एक अत्यन्त आश्चर्यजनक बात है, पर इसमें कहीं जादू या मंत्र नहीं है, याने है तो यह है कि उन्नत रूसी जाति के साधनों से इन पिछड़ी हुई जातियों को तुरन्त सभ्यता के मध्य भाग में ला दिया।

हम पहले ही इंगित कर चुके है कि कुछ न करने से कुछ करना भला है, अर्थात् वैज्ञानिक रूप से मधुमक्खी पालन आदि धंधों के प्रवर्त्तन से उन्हें कुछ फ़ायदा अवश्य होगा, पर पूर्ण लाभ तो तभी होगा जब उन्हें मशीन द्वारा उत्पादन पद्धति के अन्दर ला दिया जायगा, और साथ ही साथ उन्हें आर्थिक शोषण से बचा कर रखा जायगा। यह तो सभी मानते हैं कि इर्द-गिर्द के सभ्य लोग आदिम जातियों का शोषण करते रहते हैं। सभ्यता फैलानेवाले लोग हमेशा ऐसा करते आये हैं। कहना न होगा कि इस दाम पर सभ्यता से बचा कर उनकी उत्पादन शक्ति बढ़ानी होगी। मैंने यह बताया है कि केवल कुटीर-शिल्पों के प्रवर्त्तन तथा प्रचलन से उनकी समस्याओं का समाधान नहीं होने का।

जहां तक भाषा का सम्बन्ध है, मैं समझता हूं, इस सम्बन्ध में भी हम रूस से सीख सकते हैं। प्रत्येक जाति की भाषा उसके लिए पवित्र है, और किसी भी बहाने पर उसे उसकी मातृभाषा से वंचित कर उस पर प्रान्तीय भाषा या राष्ट्रभाषा लादना अनुचित होगा। मातृभाषा के बाद ही प्रान्तीय या राष्ट्रीय और विश्वभाषा के हक आते हैं। यदि कोई भाषा ऐसी है, जिसमें अभी लिपि का प्रयोग प्रवर्तित नहीं हुआ है, तो उसके लिए लिपि तजवीज़ करनी चाहिए। जो लिपि उस भाषा के बोलने वालों को पसन्द आये, उसी लिपि का प्रवर्त्तन किया जाय। इस सम्ब्रन्ध में उस जाति की पसन्द ही सबसे बड़ा तत्व समझा जाय। दुःख है कि इन दिशाओं में ढंग पर कोई काम नहीं हुआ है। सब लोग अपना-अपना फंदा लेकर आदिम जातियों में काम करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

कुछ लोगों का यह जो विचार है कि लिपि देकर छोटी-छोटी भाषाओं को मजबूत बनाना नहीं चाहिए, उनके बोलने वालों को आस-पास की बड़ी भाशाओं में खप जाना चाहिए, मुझे बिल्कुल भ्रान्त ज्ञात होता है। इस दृष्टि को अपनाने पर तो भारत में दो ही चार भाषाएं रह जायगी। एक करोड़ बोलने वालों की भाषाओं को ही क्यों जीवित रखा जाय? दुनियां में ही इतनी भाषाओं की आवश्यकता क्या है? सब लोग अँग्रेजी को ही क्यों न अपनावें, जो बोलने वालों की संख्या, साहित्य, दुनियां भर में प्रचार आदि दृष्टियों से सबसे ऊँची ठहरेगी।

जो लोग आदिम जातियों के कल्याण की बात करते हैं, उन्हें सबसे पहले उनकी भाषाओं की रक्षा की ओर अग्रसर होना पड़ेगा। यह तो एक तथ्य है कि बड़ी भाषाओं के सामने आदिवासियों की भाषाएँ बराबर पीछे हटती चली जा रही हैं। अब तो उनकी पीठ दीवार से लग चुकी है, इस कारण सांस्कृतिक क्षेत्र में इनकी सबसे बड़ी सेवा इनकी

भाषाओं की रक्षा की ओर कदम उठाना होगा।

अवश्य ही बहुत छोटी भाषाओं के बोलने वालों को हिन्दी, बंगला, मराठी आदि आस-पास की भाषाओं को कुछ नहीं तो ज्ञान-विज्ञान के लिए सीखना पड़ेगा। हम भी तो अंग्रेजी सीखते ही हैं, और उसी के सहारे दुनिया के ज्ञान-विज्ञान से परिचय प्राप्त करते हैं। राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का प्रचार वांछनीय है, पर जैसा कि मैं बता चुका, मातृभाषा के बाद ही अन्य भाषाओं की बातें आती हैं।

अब आदिम जातियों की संस्कृतियों के अन्य भागों के संरक्षण की बात आती है। यह बात साफ़ कर दी जाय कि सभ्य जाति हो या आदिम जाति हो, किसी भी संस्कृति के उन हिस्सों को बचाने का प्रश्न नहीं उठता, जिनके बूते पर मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण होता है, जैसे नर-बलि या नरमुंडमाला एकत्र करना कभी भी सहन नहीं किया जा सकता। यदि देश में मद्य-निषेध प्रवर्तित किया गया है, तो आदिम जातियों को भी इसमें शरीक होना पड़ेगा। हाँ, यदि इस मामले में किसी वर्ग के साथ विशेष व्यवहार किया जा रहा है तो सबसे पहले आदिम जातियों के साथ विशेष व्यवहार करना पड़ेगा।

आदिम जातियों के लोक-गीत, नृत्य तथा निर्दोष अनुष्ठानों की रक्षा करनी पड़ेगी और हो सके तो उसकी अन्तर्गत वस्तु का नवीकरण कर उन्हें युगोपयोगी व्यंजना देनी पड़ेगी। स्थानीय अथवा उपजातीय संस्कृतियों को मैं अखिलभारतीय विश्व संस्कृति में बाधक नहीं मानता। उनमें जो उपादान बाधक हैं, उन्हें तो दूर करना पड़ेगा, पर सैकड़ों निर्दोष उपादान होंगे, जिनसे अखिलभारतीय संस्कृति में विचित्रता आयेगी।

आधुनिक बंगला कविता

आधुनिक शब्द परिभाषा के अन्दर मुश्किल से आता है, क्योंकि सौ वर्ष पहिले जो आधुनिक कहला सकता था, वह आज आधुनिक नहीं कहला सकता। इसीलिये आधुनिक बंगला कविता के सम्बन्ध में हमें पहिले से परिभाषा कर के तब आगे बढ़ना उचित होगा। कवीन्द्र *रवीन्द्र* को हम आसानी से आधुनिक बंगला कविता के बाहर छोड़ सकते हैं, इससे यह फतवा नहीं दिया जा रहा है कि वे प्राचीन या प्रस्तरीभूत हो चुके हैं। सच तो यह है कि उन्होंने अपने अन्तिम दिनों में जिस प्रकार की कविताएँ लिखीं, उनमें से कई अति आधुनिक कवियों के लिये एक प्रारम्भ बिन्दु के रूप में बन गईं, और उनकी आधुनिकता किसी भी प्रकार संदिग्ध नहीं है। भाषा, शैली, छन्द या यों कह लीजिये छन्द का अभाव, टैकनीक, विषय-वस्तु या जिस भी दृष्टि से देखा जाय, वे आधुनिकता याने आजकल जिसे आधुनिकता कहते हैं, उससे दूर नहीं है।

फिर भी कवीन्द्र रवीन्द्र को इसलिये इस आलोचना से छोड़ देना उचित होगा कि यदि उनकी बात छिड़ जायगी, तो औरों की बात रह जायगी। बंगला कविता के लिये वे इतनी बड़ी विभूति थे, जिसका मूल्यांकन अभी बाकी है। इतना ही कह देना यथेष्ट होगा कि जो लोग आपात दृष्टि से बंगला कविता के क्षेत्र में उनके विरुद्ध झंडा बुलन्द करके आगे बढ़े हैं, वे अभी अनजान में एक हद तक उनके अनुकरणकारी और उनसे प्रभावित माने गये हैं। कितना बड़ा भी विद्रोही कवि हो, वह उनकी भाषा की जादूगरी, भावों की सूक्ष्मता और अन्तर्निहित मानववाद से मुक्त नहीं हो सका है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने बंगला कविता को जो कुछ दिया, उसका एक बहुत बड़ा अंश अंग्रेजी और हिन्दी अनुवादों से भारतीयों और विश्वासियों के सम्मुख आ चुका है, पर उनकी कविता में कुछ ऐसी बात है, जो अनुवादों में नहीं आ सकी है। उदाहरणस्वरूप कविता के ज़रिये से दिये हुए संगीत सम्बन्धी उनके दान को लीजिये। अपने संगीत के सम्बन्ध में उनका कहना था कि बंगाल मेरी कविता को भूल सकता है, पर हमारे गीत को

नहीं भुला सकता। उन्होंने अपनी कविता में इस संगीत के सम्बन्ध में कहा था––

मन दिये जार नागाल नाहि पाइ
गान दिये सेइ चरण छुये जाइ।

याने मन से जिसे मैं नहीं पहुँच पाता, मैं गीत से उसके चरण छू-छू लेता हूँ।

रवीन्द्रनाथ पर न कहने का इरादा होते हुए भी उस सम्बन्ध में बहुत कुछ कह डाला गया। इसलिये जल्दी से कूद कर दूसरा प्रसंग शुरू किया जाता है। यद्यपि हमने उन्हें छोड़ दिया, पर उनके एक तरह के समसामयिक विद्रोही कवि *काजी नज़रुल* इस्लाम को छोड़ना उचित न होगा। यह कुछ हद तक युक्तियुक्त नहीं मालूम देगा, क्योंकि यद्यपि कवि नज़रुल अभी तक जीवित हैं, पर उनका साहित्यिक जीवन करीब करीब रवीन्द्रनाथ की मृत्यु के साथ-साथ समाप्त हो गया। इसका कारण यह है कि गत दस बारह साल से उनका मस्तिष्क विकृत है, और उनके सम्बन्ध में अन्तिम ख़बर यह है कि वे पागलखाने में हैं। नज़रुल इतने बड़े कवि थे कि कवीन्द्र रवीन्द्र-युग में भी उनकी तूती बोलती थी, और उनकी वाणी रवीन्द्र के मेघमन्द्रस्वर से पृथक् और स्पष्ट सुनाई पड़ती थी। आज जब कि बंगाल विभाजित हो गया है, उनकी कविता को एक नई व्यंजना प्राप्त हुई है। वे आज दोनों बंगालों में सम्मानित हैं, केवल यही नहीं, वे बंगला भाषा की एकता सौर अविभाज्यता के भी प्रतीक हैं। हमारे वर्तमान प्रसंग में उनके उल्लेख किये जाने का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि १९१४–१८ के महायुद्ध के बाद वे जब बंगला साहित्य के क्षेत्र में आये, तो उनके हाथों में उस युग की आधुनिकता की अग्निवीणा थी। वे साहित्य के गगन में एक धूम-केतु की तरह प्राचीन के विनाश की वाणी को लेकर उद्भूत हुए। जो नवीन आने वाला था, उसकी रूप-रेखा उनके निकट अभी स्पष्ट नहीं थी। विद्रोह तो था, पर विद्रोह के सफल होने के बाद के निर्माण का नक्शा स्पष्ट नहीं था। यह हालत केवल उनकी कविता की नहीं थी, राजनीति में भी स्वराज्य शब्द की अभी परिभाषा नहीं हुई थी। उन्होंने उस युग में न केवल राजनैतिक विद्रोह का नारा दिया था, बल्कि भगवान् के विरुद्ध भी विद्रोह खड़ा किया था। उन्होंने अग्नि-वीणा में पहले तो कहा कि––

आमि दुर्वार
आमि भेंगे कोरि सब चुरमार
आमि अनियम उच्छृंखल
आमि दले जाई जतो बन्धन
जतो नियम कानून-शृंखल।

मैं दुर्वार हूँ, मुझे कोई रोक नहीं सकता, मैं सबको तोड़ ताड़ कर चकनाचूर कर देता हूँ। उन्होंने कहा कि मैं अनियम हूँ, उच्छृंखल हूँ तथा जितने भी बन्धन, नियम, कानून तथा शृंखला हैं, मैं उन्हें पैरों तले रोंद कर आगे बढ़ जाता हूँ, फिर

उन्होंने कहा--

आमि धृष्ट
आमि दांत दिया छिड़ि विश्व मायेर आँचल।
आमि विद्रोही भृगु
आमि भगवान बुके एँके दिबो पद चिन्ह
आमि सृष्टि सूदन
शोक-ताप-हाना खेयाली विधिर
वक्ष कोरिबो छिन्न।
मैं ढीठ हूँ ढीठ,
मैं विश्वमाता के आँचल को दाँतों से फाड़ डालता हूँ।
मैं विद्रोही भृगु हूँ, मैं भगवान् के सीने पर चरण-चिन्ह बना दूँगा।
मैं सष्टि-सूदन हूँ,
मैं शोक-ताप के प्रति उदासीन विधाता के
सीने को फाड़ डालूंगा।

यह एक ऐसी वाणी थी, और इस रूप में कही गई थी, जो कवीन्द्र रवीन्द्र के लिये अस्वाभाविक होती। यह नहीं कहा जा रहा है कि कवीन्द्र ने विद्रोह की कविताएँ नहीं लिखीं, पर उनकी इस प्रकार की रचना का स्तर ही दूसरा होता। कहीं इसी स्तर के स्पष्टीकरण में हम फँस कर न रह जायँ, इसलिये हम फिर नज़रुल पर आ जाते हैं। अधिक ब्योरे में न जाकर नज़रुल पर इतना और कह देना आवश्यक है कि यद्यपि उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में एक विद्रोही कवि के रूप में प्रवेश किया फिर भी प्रेम, विरह आदि विषयों में बहुत से गीत लिखे, जो बंगला साहित्य की अमर सम्पदाएँ हैं। प्रेम सम्बन्धी उनकी कविताओं के अनुवाद में बहुत कुछ नाश हो जाता है, क्योंकि इस विषय की उनकी कविताएँ अत्यन्त अधिक गीतधर्मी हैं, और भाषा में ही उनकी प्रधान खूबी है। अरबी, फारसी, उर्दू के साथ-साथ बंगला के वैष्णव कवियों से उन्होंने बहुत कुछ लिया, फिर भी नज़रुल नज़रुल ही हैं। यद्यपि उनकी प्रेम कविताएं अनुवाद में बहुत कुछ खो देंगी, फिर भी एक कविता का भावार्थ यों है--

प्रदीप निभाये दाओ उठिया छे चांद।
बाहुर डोर आछे, मालाय कि साध?
फुल आनिओ न भवने
केशेर सुवास तव घनाक मने
हृदयेर लागि मोर हृदय कादे
चन्दन लागे विस्वाद।
खोलो गण्ठन, फैले दाओ आभरण
हाते राखो हात, तोलो आ त नयन।

बाहिरे बोहुक बातास
वक्षे लागुक मौर तब धन श्वास,
चम्पार डाले बसे मोदेर देखे
कुहु आर पापियाय कोरुक विवाद ।

बत्ती बुझा दो, क्योंकि चांद निकल आया। माला की क्या जरूरत, जबकि बाहु का बन्धन है। कमरे में फूल न लाओ, अपने केशों की गन्ध को ही मन में हिलोरें लेने दो, यहाँ तो हृदय हृदय के लिये रो रहा है, इसलिये चन्दन में कोई रस नहीं मिलता। घूंघट के पट खोल दो, गहने दूर फेंको, हाथ पर हाथ रखो, झुकी हुई आँखों को ऊपर उठाओ। बाहर तो हवा चले, और मेरे सीने पर तुम्हारी जल्दी-जल्दी ली हुई सांस आकर वार करे। चम्पा की डाल पर बैठ कर हम लोगों को देख कर कोयल और पपीहा आपस में झगड़ें।

इसी प्रकार वे एक अन्य गीत में इसके लिये अपनी प्रेमिका से माफी मांग रहे हैं कि यदि गलती से प्रेम कर लिया, तो उसके लिये माफी दी जाय। असहाय मन में प्रेम करने की इच्छा भला क्यों जगी। वे कहते हैं—

भूल कोरे यदि भलोबेसे फेलि
क्षमियो से अपराध
असहाय मने कैनो जेगेछिलो
भीलो बासिबार साध।
कतोजन आसे तव फुलवन
मलय भ्रमर चाँदेर किरण
तेमति अमिओ आसि अकारण
अपरूप उन्माद

याने

तुम्हारे उद्यान में न मालूम कितने आते जाते हैं,
मलयवायु, भौंरे, चाँद की किरणें,
उसी प्रकार मैं भी अकारण आया हूँ
एक अद्भुत पागल
तुम्हारे हृदय रूपी शून्य में सैकड़ों रवि, शशि, तारा जल रहे हैं।
उन्हीं के बीच में एक धूमकेतु की तरह
भटक कर आया था।

इस समय भी बंगला के साहित्य-क्षेत्र में बहुत से ऐसे कवि हैं, जो कवीन्द्र रवीन्द्र के युग में ही विख्यात हो चुके थे। ऐसे कवियों में कालिदास राय, कुमुद मल्लिक, यतीन्द्र बागची आदि कई सुपरिचित कवि हैं। उनकी कविताएँ बराबर प्रकाशित होती रहीं, पर वे कभी विशेष चमक नहीं पाये। यह फिर भी एक द्रष्टव्य

बात है कि यद्यपि ये कवि बहुत कुछ क्लासिक इस अर्थ में हो गये थे कि ये उन्हीं घिसे पिटे हुये रास्तों पर चलते थे फिर भी गत कुछ वर्षों में इन पर आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों का इतना जबर्दस्त प्रभाव पड़ा कि वे नये युग के नये विषयों को अनभ्यस्त दृष्टिकोण से देखने पर मजबूर हुए। उदाहरणस्वरूप श्री *कालिदास राय* ने खंडित बंग पर कविता लिखते हुए अफसोस किया कि, हे बंगमाता अब तुम सुजला, सुफला, शस्यश्यामला नहीं रहीं, ऋषि वंकिमचन्द्र ने जिसे मातृभूमि करके अभिनन्दित किया था, अब तुम वह नहीं रहीं। आगे चल कर कालिदास राय यह कहते हैं—हाय तुम्हारे भाग्य में यह भी लिखा था कि अब तुम सीताराम राय, चांद प्रताप की माता नहीं रही।

यहां यह बता दिया जाय कि बंगाल के बहुत से बड़े-बड़े व्यक्ति पूर्वी बंगाल में पैदा हुए, उल्लिखित सीताराम राय आदि इसी प्रकार के व्यक्तित्वों में हैं। कालिदास राय इस कविता में इस बात पर भी अफसोस करते हैं कि जिस पद्मा के कारण कवीन्द्र रवीन्द्र कवि हुए, वह पद्मा नदी अब तुम्हारी नहीं रही। कालिदास राय इस प्रकार अपनी क्लासिक बल्कि गतानुगतिक ऊंचाई से उतर कर जनता के विषय को अपनाने पर भी उसमें मंज नहीं पाते, और उसकी ऊपरी सतह को छूकर रह जाते हैं।

इसी प्रकार *यतीन्द्र बागची* कभी रवीन्द्रनाथ की परम्परा के प्रमुख कवि समझे जाते हैं। यहां यह बता दिया जाय कि कोई भी कारण हो, रवीन्द्रनाथ की विशुद्ध परम्परा में कोई कवि विशेष सफल नहीं हुआ। यह बताया गया है कि इसका कारण यह था कि रवीन्द्रनाथ ने जिन विषयों को छुआ, उन्हें उन्होंने स्वयं इतना दुह लिया कि उनमें कोई गुंजाइश ही नहीं बची, और उनमें कुछ करना नही रह गया। फिर भी यतीन्द्र बागची ऐसे कुछ कवियों ने एक हद तक सफलता प्राप्त की, और उन्होंने रवीन्द्र की टैकनीक को इतनी अच्छी तरह अपनाया कि विशेषज्ञ के लिये भी उनकी रचनाओं को गुरु की रचनाओं से अलग करके पहिचानना कठिन हो गया। यतीन्द्र बागची बराबर इसी ढर्रे पर चले, पर अब नये युग की पुकार पर सुभाष बाबू ऐसे विषयों पर कविता लिखने के लिये अनुप्रेरित हुए।

वे "सुभाष उद्देशे" नामक कविता में उस समय की बात लिखते हैं, जिन दिनों यह विवाद शुरू हुआ था कि सुभाष जीवित हैं या नहीं। वे अपनी कविता में कहते हैं कि कोई कहता है कि वे अभी जीवित हैं, और किसी समय प्रकट होकर देश के सारे दुःखों को पलक मारते ही दूर कर देंगे, कोई कहता है कि वे तो शहीद हो गये। आगे कवि कहते हैं—

यहीं हैं हम साढ़े सोलह आने, यही हमारा देश
बातों से ही जीते हैं बातों से ही मरते हैं
बातें ही बातें हैं सारी
देशप्रेम का यही है स्वरूप, यही है रूप,
सुभाष की व्यथा इससे अधिक नहीं
बातों तक ही सीमित हैं हमारी परेशानियां

इस प्रकार पुराने ढर्रे के एक अन्य कवि श्री कुमुदरंजन मल्लिक हैं। मैं एक बात यहां

पर साफ कर दूं कि कवीन्द्र के व्यक्तित्व के कारण उनके समसामयिक बहुत से कवि अपनी प्राप्य मर्यादा या सम्मान प्राप्त न कर सके। यदि रवीन्द्रनाथ बंगला में पैदा न होते तो कुमुदरंजन मल्लिक, कालिदास राय, यतीन्द्र बागची आदि कितने ही कवि बहुत अधिक सम्मानित होते, और बंगाल के बाहर उनका नाम सुनाई पड़ता। यहां तो मैंने श्री द्विजेन्द्र-लाल राय उर्फ डी. एल. राय का उल्लेख ही नहीं किया जो बहुतों के अनुसार रवीन्द्रनाथ के अभाव में बंगाल के सब से बड़े कवि माने जाते। उनके नाटकों के कारण वे हिंदी जगत् में सुपरिचित हैं। यहां पर श्री सत्येन्द्र दत्त का भी उल्लेख नहीं किया गया, जो अरबी, फारसी, अंग्रेजी, चीनी, जापानी कविताओं का बंगला कविता में अनुवाद के क्षेत्र में इतना काम कर चुके हैं कि वे उसी के लिये अमर हो गये। इसके अतिरिक्त उनका मौलिक कार्य भी है। बंगला कविता का क्षेत्र यथेष्ट विशाल हो चुका है, इस कारण इस प्रसंग के लिये रवीन्द्रोत्तर कविता को ही चुनना पड़ा है, और उसमें भी हम कुछ नमूनों को ही पेश कर सकते हैं।

हाँ, तो कुमुदरंजन मल्लिक अपने हक पर एक अच्छे कवि माने गये हैं। वे भी इस नये युग में कमर पर घड़ा रख कर चलनेवाली ग्रामवधू की ओर से दृष्टि हटा कर दूसरी बातों पर लिखने लगे हैं, फिर भी उनका इस तरह मोड़ बदलना बहुत आंशिक है।

इसके बाद हम उन कवियों पर आते हैं, जो सचमुच ही नये हैं। ये नये कवि अपने को रवीन्द्रनाथ के विद्रोही घोषित करके सामने आये हैं, पर प्रश्न तो यह है कि क्या वे सम्पूर्ण रूप से रवीन्द्र-प्रभाव से मुक्त हो सके हैं? इसका उत्तर हाँ और ना दोनों में देना पड़ेगा। ये कवि रवीन्द्रनाथ के दर्शन, जीवन के प्रति दृष्टिकोण से अक्सर सम्पूर्ण रूप से मुक्त हो चुके हैं, इनका आवेदन बहुत कुछ जनवादी है, फिर भी वे रवीन्द्र की जादूभरी भाषा और शैली से सम्पूर्णरूप से मुक्त नहीं हो सके। इस भूमिका के बाद अति आधुनिक कवियों के सम्बन्ध में कुछ बताया जाता है। यहां यह चेतावनी दे दी जाय कि इस संक्षिप्त आलोचना में बहुत से महत्वपूर्ण कवि छूट जायेंगे, पर जहां तक हो सकेगा सब धाराओं के प्रति न्याय करने की चेष्टा की जायगी।

रवीन्द्रोत्तर युग पर आते हुए स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि क्या रवीन्द्रनाथ के जीवनकाल के अन्तिम दिनों के तथा रवीन्द्रोत्तर युग के कवि कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रभाव से मुक्त हो चुके हैं। इस का उत्तर एक वाक्य में देना सम्भव नहीं है। हमने पहले ही बताया कि जिस समय कवीन्द्र रवीन्द्र बंगला के साहित्याकाश में पूरी प्रतिभा के साथ चमक रहे थे, और ऐसा वे अन्त तक चमके, उस समय भी अच्छे-अच्छे कवि अपने लिये स्वतन्त्र दिशाओं में क्षेत्र का निर्माण कर रहे थे। ऐसा न समझा जाय कि इस प्रभाव-मुक्ति का आन्दोलन सम्पूर्ण रूप से सज्ञानकृत था, या उसमें और कोई प्रभाव काम कर रहा था। चाहे रवीन्द्र-नाथ के जीवनकाल में हो या उनकी मृत्यु के बाद हो, किसी भी बंगला कवि के सम्बन्ध में यह कहना सम्भव नहीं है कि वह सम्पूर्ण रूप से रवीन्द्रनाथ के प्रभाव से मुक्त हो गया है। यहां तक कि जिन लोगों ने इस बात को सज्ञानरूप से समझ लिया कि किसी भी हालत म कविता की नदी को उस जमीन पर बहाना नहीं है, जिस पर रवीन्द्रनाथ ने बहाया, वे भी

उनके दर्शन से सम्पूर्ण रूप से मुक्त रहते हुए भी उनकी जादूभरी भाषा और शैली से पूर्ण मुक्ति नहीं प्राप्त कर सके। ऐसा कहना महा अज्ञान होगा कि कोई भी बंगला-लेखक या कवि सम्पूर्ण रूप से रवीन्द्र-प्रभाव से मुक्त हो गया।

फिर भी इस बात को भी उतनी ही दृढ़ता के साथ मानना पड़ेगा कि बराबर उनसे मुक्ति का प्रयास हुआ, और अति आधुनिक कवियों के क्षेत्र में यह मानना ही पड़ेगा कि वे केवल परोक्ष रूप से ही रवीन्द्र-प्रभाव से प्रभावित माने जा सकते हैं।

मैंने पहले ही बता दिया कि अति आधुनिक कवियों के सम्बन्ध में कुछ ब्यौरेवार तरीके से बताना सम्भव नही है। *जीवनानन्द दास* को अति आधुनिक कवि कहा जा सकता है। उनके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उनकी कविता कुछ धुंधली होती है। क्या यह धुंधलापन आधुनिकता का कोई अनिवार्य गुण है? नहीं, ऐसा तो नहीं मालूम होता क्योंकि कई अति आधुनिक कवि ऐसे हैं जिनकी बातें बहुत अच्छी तरह समझ में आती है, पर जीवनानन्द की भाषा बड़ी प्रखर और तेजस्वी ज्ञात होने पर भी, ऐसा मालूम होता है कि कवि जो कुछ कह रहा है उसकी सारी बात हमारे पल्ले नही पड़ रही है। ऐसा ज्ञात होता है कि जब हम धुँधलापन से ऊबने से लगते है, तब दो एक पंक्तियां ऐसी आ जाती हैं जो हमारी समझ में आ जाती है, पर फिर वही बात होती है। श्री बुद्धदेव वसु का कहना है कि जीवनानन्द इतने जिद्दी तरीके से अपने आप में समाये हुए हैं कि वे परम्परा के स्वदेश को त्याग कर एक ऐसे किन्नरों क देश को अपनाते है जिसमें वे ही वे हैं। उनकी दुनिया उलझी हुई छायाओं तथा टेढ़े-मेढ़े जलों, चूहा, उल्लू, चमगादड़, चाँदनी छिटके हुए जंगलों में फुदकते हुए हिरणों, प्रभात तथा अन्धकार, बर्फ की तरह ठण्डी मत्स्य कन्याओं और महान् मीठे समुद्र की दुनिया है। जीवनानन्द प्रकृति को किस रूप में लेते हैं, इस सम्बन्ध में श्री बुद्धदेव वसु कहते हैं—एक अर्थ में सभी कवि प्रकृति के कवि होते हैं, पर जीवनानन्द एक विशेष अर्थ में ही ऐसे हैं, वे प्रकृति में, भौतिक प्रकृति में और उसके कुछ विशेष पहलुओं मे डूबे हुए हैं। वे प्रकृति-पूजक हैं पर किसी भी अर्थ में अफलातूनवादी या वेदान्ती नहीं हैं। बल्कि वे प्राक्सभ्यता के युग के एक ऐसे व्यक्ति हैं, जो प्रकृति की वस्तुओं से इन्द्रियों की सतह पर प्रेम रखते हैं और ऐसा वे पूर्णता के चिह्न प्रतीक वह नमूने के रूप में नहीं करते, बल्कि वे उनसे जो वे हैं, उसी होने के लिए प्रेम करते हैं। वे केवल देखने से सन्तुष्ट न रहकर प्रकृति को स्पर्श और गन्ध की उलझी हुई जंगली वृत्तियों के जरिये से प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। उन्हें चिड़ियों के परों की गन्ध से तथा जिस पानी में चावल अभी धोया गया है उससे प्रेम है, और वे चाहते है कि वे किसी महान् श्यामल तृणमाता के गहरे मीठे गर्भ से घास के रूप में उत्पन्न होते। उन्हें अब यहां तक कि किंभूतकिमाकार वस्तु से प्रेम है, पर वे जिस वातावरण को उत्पन्न करते हैं वह कोई अपार्थिव बात नहीं है, और न उससे किसी प्रकार भय उत्पन्न होता है। फिर भी श्री वसु यह मानते हैं कि वे बंगला कविता के लिये बहुत महत्वपूर्ण इसलिये हैं कि उन्होंने बंगाल की जनता को एक नये सुर बल्कि स्वरलहरी का अभ्यस्त कर दिया है। वे शायद अपनी कविता में पढ़े लिखे पर अपनी नाव अपने आप खेने में असमर्थ,

बहुत से आदर्शों की हवा में कभी इधर बहते हुए कभी उधर बहते हुए बंगाली मध्यवित्त वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्होंने अक्सर प्रेम सम्बन्धी कविताएँ भी लिखी हैं। एक कविता का टुकड़ा यों है—

जनान्तिके

तोमाके देखार मत चोख नेइ—तबु
गभीर विस्मये आमि टेर पाइ—तुमि
आजो एइ पृथिवीते रये गेछ,
कोथाओ सान्त्वना नेइ पृथिवीते आज,
बहुदिन थेके शान्ति नेइ।
नीड़ नेइ
पाखिर मतन कोनो हृदयेर तरे।
पाखि नेइ।
मानुषेर हृदयके न जागाले ताके
मोर, पाखि, अथवा वसन्तकाल बोले
आज तार मानवके कि करे चेनाते पारे केउ।
चारिदिके अगणन मेशिन ओ मेशिनेर देवतार काछे
निजेके स्वाधीन बोले मने करे निते गिये तवु
मानुष एखनओ विशृङ्खल।
दिनेर आलोर दिके ताकालेइ देखा जाय लोक
केवलि आहत हये मृत हये स्तब्ध हय
ए छाड़ा निर्मल कोनो जननीति नेइ
ये मानुष-से जेइ देश टिके थाके सेइ
व्यक्ति हय-राज्य गढ़े-साम्राज्येर मत कोनो भूमा
चाय। व्यक्तिर दाविते ताइ साम्राज्य केवलि भेंगे गिये
तारइ पिपासाय
गड़े ओठे
ए छाड़ा अमल कोनो राजनीति पेते हले तबे
उज्ज्वल समयस्रोते चले जेते हय।
सेइ स्रोत आजो एइ शताब्दीर तरे नय।
सकलेर तरे नय।
पंगपालेर मत मानुषेरा चरे
झरे पड़े।

यानें——

तुमको देखने के लायक आंख नहीं है फिर भी
अत्यन्त गहरे विस्मय से मुझे ज्ञात होता है कि तुम
आज भी इस पृथ्वी पर रह गये हो ।
आज पृथ्वी में कहीं भी सान्त्वना नहीं है,
बहुत दिनों से शान्ति है नदारद
नीड़ नहीं है चिड़िया की तरह किसी हृदय के लिये
चिड़िया नहीं है ।
मनुष्य के हृदय को न जगाने पर उसे
सवेरा, चिड़िया या वसन्तकाल कहकर
आज उसके मानव को कैसे कौन परिचित करवा सकता है ।
चारों तरफ
अनगिनत मशीन और मशीनों के देवताओं के निकट
अपने को स्वतन्त्र करके
समझने पर भी
मनुष्य है अब भी विश्रृंखल ।
दिन की रोशनी की तरफ ताकने
पर ही देखा जाता है कि लोग
बराबर आहत होकर मृत होकर स्तब्ध हो जाते हैं,
इसके अलावा नहीं है निर्मल कोई जननीति ।
जो मनुष्य और जो वश टिक जाते है,
वे ही क्रमशः व्यक्ति बनते हैं और राज्य बन जाते हैं, साम्राज्य की तरह
किसी भूमा को
चाहते हैं ।
इसीलिये व्यक्ति के दावे के कारण साम्राज्य टूटकर
फिर उसी की पिपासा से
निर्मित हो जाते हैं ।
इसके अलावा कोई निर्मल राजनीति पाना हो तो
उज्ज्वल समय स्रोत में चला जाना पड़ता है ।
वह स्रोत आज भी इस शताब्दी के लिये नहीं है,
सब के लिये नहीं है ।
टिड्डीदल की तरह मनुष्य चरते हैं,
फिर झर पड़ते हैं ।

यह स्पष्ट है कि इस कविता में जैसा कि बताया जाचका है बडी-बड़ी भावनाएँ झांकी-

सी लेते रहने पर भी किसी स्थान पर सुगठित होकर स्पष्टता के साथ आगे नहीं आ पातीं। इसमें पहले वे चारों तरफ फैली हुई विश्रृंखलता का इंगित करते हैं, कुछ मशीन और मशीन के देवताओं के विषय में इस प्रकार की बात कहते हैं कि मनुष्य अपने को स्वतन्त्र समझने पर भी वह अब भी विश्रृंखल है। फिर वे कहते हैं कि कोई निर्मल जननीति नहीं है, जो मनुष्य और जो देश टिक जाते हैं, वे ही क्रमशः व्यक्ति बनते हैं और राज्य बन जाते हैं, फिर कहते हैं कि व्यक्ति के दावे के कारण साम्राज्य टूट कर फिर उसी की पिपासा से निर्मित हो जाते हैं। अब यह कहा जाय कि कुछ भी समझ में नहीं आता; तो ऐसी बात नहीं, पर क्या समझ में आता है, इसे कहना टेढ़ी खीर है। आनन्द का विषय है कि बंगाल के अति आधुनिक कवियों ने इस ढर्रे को बहुत कम अपनाया है।

अब हम इस युग के दूसरे कवि *सुभाष मुखोपाध्याय* को लेते है जो खुल कर यह कहते हैं कि वे किसान और मजदूरों के कवि हैं। उनकी कविता की वक्तव्य वस्तु जीवनानन्द दास की तरह अस्पष्ट नहीं है,पर इसी को बहुत से लोगों ने दोष बताया है। सुप्रसिद्ध आलोचक श्री बुद्धदेव वसु का यह कहना है कि सुभाष तो कविताओं में व्याख्यान से देते दृष्टिगोचर होते हैं, और वे कविता के क्षेत्र से उतर कर भर्त्सनाएँ देने, तरह-तरह के मुंह बनाने और संदेश देने में पड़ गये हैं। उनकी एक छोटी-सी कविता इस प्रकार है —

केजाय ?
आमरा ।
आमरा गाँयेर
आमरा शहरेर
हाड़काली मानुष ।
चलेछि मिछिले ।
हाते कि ?
निशान ।
कोथाय जाओ ?
दमन राजार
दरबारे
थामो ।
ना ।
वाधा दिलेओ—
ना ।
संगीन बिंधलेओ
ना ।
रास्ता दाओ ।
आमादेर जेतेइ हबे

.मेछिले।

यान--

कौन जा रहा है ?
हम।
हम गांव के हैं,
हम शहर के हैं
काली हड्डी वाले मनुष्य।
हम जलूस में चल रहे हैं।
हाथ में क्या है ?
झण्डा।
कहां जा रहे हो ?
दमन राजा के दरबार में।
रुको।
नहीं।
बाधा देने पर भी .....।
नहीं।
संगीन से छिदने पर भी .....।
नहीं।
रास्ता छोड़ दो।
हम लोगों को जाना ही है
जलूस में।

ऊपर जो कविता दी गई है, वह साम्यवादियों के बंगला दैनिक "स्वाधीनता" में छपी थी, इसलिये स्वाभाविक रूप से उसमें प्रचार का हिस्सा अधिक है। पर यह न समझा जाय कि सुभाष मुखोपाध्याय की सभी कविताएँ ऐसी हैं। सुभाष अपने पूर्ववर्ती दशक के कवि प्रेमेन्द्र मित्र से बहुत कुछ मिलते हैं, पर जैसा कि कहा गया है प्रेमेन्द्र मित्र ने भी यद्यपि अपना जीवन यह कह कर शुरू किया कि वे कुलियों और दलितों के कवि हैं, फिर भी बाद को वे उससे हट गये, या कम से कम वही उनका एकमात्र रूप नहीं रहा, पर सुभाष ने जो बाना पहन लिया, वे उसी को निभाते रहे।

सुभाष मुखोपाध्याय न केवल अपनी धारा के एक विशिष्ट कवि हुए, बल्कि वे एक हद तक *समरसेन* के साथ इस धारा के अग्रणी माने गये। सुप्रसिद्ध आलोचक अबूसईद अयूब ने अपनी आधुनिक बंगला कविता सम्बन्धी पुस्तक में यह कहा था कि समरसेन और सुभाष मुखोपाध्याय में प्रचुर सम्भावनाएँ हैं पर बाद को दूसरे समालोचकों ने उनमें उन सम्भावनाओं को फलते फूलते नहीं देखा। यहां पर चलते हुए यह बता दिया जाय कि

समरसेन उन कवियों में से हैं जिन्होंने केवल गद्य काव्य के ढंग की चीजें लिखी हैं। उनकी कविताएँ गद्य काव्य के रूप में होने पर भी गीतधर्मी हैं, कम से कम यही आभास मिलता है। श्री बुद्धदेव वसु का यह विचार ह कि उनकी कविताएँ एक ऐसी बाला की तरह हैं जो हिलने डुलने में बल खाती है, साथ ही बड़ी चुस्त हैं। पहले सुभाष राजनीति से सम्बद्ध नहीं थे, पर बाद को वे राजनैतिक कविताएँ लिखने लगे।

सुभाष के सम्बन्ध में बल्कि यह भी कहा गया कि जिन लोगों ने साम्यवादी ढंग की कविताएँ लिखीं, वे भी सुभाष मुखोपाध्याय द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर नहीं चले। जहां सुभाष मुखोपाध्याय में प्रचलित समाज-व्यवस्था के सम्बन्ध में सन्देह और व्यंग का वातावरण है, और जहां उनकी कविता में केवल कोड़े लगाने की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है, वहां इसी प्रकार के दूसरे कवियों में वर्तमान को बदल डालने के लिये अधिक से अधिक आग्रह के साथ जीवन के प्रति गहरी श्रद्धा और मनुष्य के प्रति प्रेम की भावना अधिक है। यह कहा जा सकता है कि बंगला कविता ने निपट राजनैतिक मार्ग को छोड़कर जीवन की सभी समस्याओं को, जिसमें राजनीति भी आ जाती है, एक ऊंची सतह पर अपना कर अपने लिये अच्छा ही किया। श्री अबूसईद अयूब ने यह जो लिखा था कि आधुनिक बंगला कविता से रोमान्टिक भावधारा लुप्त होती जा रही है, वह बात सत्य प्रमाणित नहीं हुई। सच्ची बात यह है कि रोमान्टिकता ने एक क्रान्तिकारी दिशा अपनाई या यों कह लीजिये कि क्रान्तिकारी भावनाओं ने रोमान्टिकता का बाना पहन लिया, जिससे शायद दोनों को फायदा हुआ।

फिर भी कहीं ऊपर सुभाष मुखोपाध्याय की जो कविता दी गई है उससे यह भावना किसी के मन में न बैठ जाय कि प्रगतिवादी कवियों ने केवल प्रचार कार्य को ही अपनाया। यह सही है कि राजनीति प्रगतिशील कवियों की एक प्रधान उपजीव्य रही, यह तो स्वाभाविक था, क्योंकि आज सभी क्षेत्रों की अन्तिम लड़ाइयां राजनीति में लड़ी जाती हैं, और उसमें जैसा निर्णय होता है, उसीके अनुसार कला, साहित्य, संगीत सबका भाग्य निर्णय एक बड़ी हद तक होता है। *विमलचन्द्र घोष* ऐसे अन्यथा शक्तिशाली कवि की "बाजपाखी" या बाज़ पक्षी नामक कविता के कुछ अंश का अनुवाद पेश करेंगे। इसमें प्रचार कार्य है, अमेरिका के विरुद्ध विद्वेष है, शायद इस कारण कुछ लोगों को यह पसन्द न आवे, पर साथ ही साथ यह मानना पड़ेगा कि इसमें कविता के उपादान भी हैं। मैं केवल थोड़े से अंश का ही अनुवाद दूंगा।

अब्राहम लिंकन के हृदपिण्ड को चोंच में दबाकर
विश्व लोभी बाज़ उड़ता है।
वह धूसर पीला मृत्युदूत है,
उसके गिद्ध ऐसे टेढ़े नाखुनों में गणतन्त्र खून के आंसू रो रहा है।
मूर्त अमंगल कुटिल बर्बर पक्षी उड़ता है
निर्मोघाती दम्भासुर, सभ्यता का यम
शिशु रक्त से सिक्त ओठों को लेकर

यह बाज़ कोरिया में उड़ता है
मंचूरिया फ़ारमोसा में—
पड़ती है उसकी अशुभ पीली छाया
वह घृणित बाज़ यह जानता है
कि पतन तो हो कर रहेगा इत्यादि ।

इस प्रकार से यह कविता चलती जाती है । यह न समझा जाय कि इसके कवि श्री विमलचन्द्र घोष ने केवल इसी प्रकार की कविताएँ लिखी हैं । सावित्री नाम से उनका एक काव्य प्रकाशित हुआ है, जिसमें वे तिलोत्तमा नामक सर्ग में यों लिखते हैं—

सहस्र काजेर फाके स्मरणेर निभृत मुकुरे
बराबर काँपे सेइ मुख
देवदैत्यविजयिनी सेइ तन्वी-तनुर ऋजुता
दुटि चोखे विद्य तेर उज्ज्वल भ्रमर
मने पड़े कुन्तल-नागिनी ।
विमर्ष वासनालोके प्रहरी यौवन,
मेघाच्छन्न काव्यलोक,
दुर्गम स्वप्नेर दुर्गे हे आमार-वन्दिनी नायिका,
अतनु तोमाय आजो करे परिक्रमा ।
दीप ज्वेले सारारात स्मृतिर शिखाय
विह्वल आत्माय
प्रेमेर कविता लिखि
तिल तिल शोणितेर स्वाप्निक-अक्षरे ।
अयि तिलोत्तमा,
आजो तुमि अपलक हृदयेर अस्फुट भाषणे ।

याने—

सहस्र कर्मों के बीच में स्मृति के एकांत दर्पण में
बार-बार वह मुख लरजता रहता है
देव-दैत्य-विजयिनी उस तन्वी की ऋजुता,
दोनों आंखों में बिजली का उज्ज्वल भौंरा,
उसकी कुन्तल-नागिनी याद पड़ती है ।
वासना के दुखी लोक में यौवन पहरेदार है,
काव्य लोक मेघाच्छन्न है ।
हे मेरी बन्दिनी नायिका दुर्गम स्वप्न के दुर्ग में
अतनु तुम को आज भी वह परिक्रमा कर रहा है ।

सारी रात स्मृति की शिखा से दीप जलाकर
विह्वल आत्मा में
प्रेम की कविता लिखता हूँ,
तिल तिल करके शोणित के स्वाप्निक अक्षरों में।
अयि तिलोत्तमा,
आज भी तुम हृदय के अस्फुट भाषण में अपलक हो।

श्री विमल घोष की दोनों कविताओं की विषय-वस्तु की तुलना करने पर यह ज्ञात होगा कि हमने यह क्यों कहा कि यद्यपि बाज पक्षी वाली कविता एक विशेष उद्देश्य को लेकर लिखी गई, फिर भी उसमें कविता की छाप निस्संदेह है।

अब मैं एक ऐसे कवि पर आता हूं जो बहुत थोड़े साल तक ही जीवित रहे, पर बंगला साहित्य पर अपनी छाप छोड़ गये। उनकी कवित्व-शक्ति उतनी ही निसंदिग्ध है जितनी कि उनकी प्रगतिशीलता। वे किसी बात को लट्ठमार तरीके से कहने के आदी नहीं, पर इसके कारण उनकी वक्तव्य-वस्तु न तो किसी दूसरे के मुकाबले में कम स्पष्ट है और न उसमें कोई गोलमोल बातें ही हैं। वे ऊंची सतह से अपने रावण या कंस पर हमला करते हैं, पर इसके लिए उनका आक्रमण न तो व्यर्थ जाता है, और न उसकी प्रखरता में ही कोई कमी आती है। स्वयं सुभाष मुखोपाध्याय ने *सुकान्त भट्टाचार्य* की कविताओं के प्रथम संग्रह की भूमिका लिखते हुए यह स्वीकार किया था "सुकान्त नये युग के सार्थक कवि हैं। साधारण मनुष्य के साथ ऐसी एकात्मकता, सरल बात को सीधे-सीधे कह सकने की दुःसाहसी सामर्थ्य सुकान्त के समसामयिक और किसी कवि में दृष्टिगोचर हुई या नहीं इसमें सन्देह है। उम्र में सबसे छोटे होने पर भी सुकान्त कवित्वशक्ति में अग्रगण्यों में से एक थे। स्कूल में छात्र रहते समय सारे देश मे इतनी विराट ख्याति बंगला के किसी और कवि को नसीब नही हुई। उसी उम्र में सुकान्त की एक से अधिक कविता का अनुवाद विदेश में हुआ और उसकी कविता पर आलोचना भी हुई। जो लोग सुकान्त की कविता पढ़ेंगे वे इस बात को स्वीकार करने के लिए मजबूर होंगे कि सुकान्त की कविता न केवल विराट सम्भावनाओं के इंगित स्वरूप है, बल्कि उसमें महान् परिणति की स्पष्ट ध्वनि है। इसीलिये उनकी 'छाड़पत्र' नामक कविता को बंगला साहित्य में स्थायी आसन प्राप्त हो गया। कविता के विचित्र कला-कौशल में, छन्द की आश्चर्य-दक्षता में, शब्द-निर्वाचन की अशेष निपुणता में इस किशोर कवि ने राजनैतिक विरोधियों को भी अभिभूत कर दिया, पर ऊपरी तामझाम के मोह में सुकान्त कवि बँधे भी नहीं।"

छाड़पत्र

ये शिशु भूमिष्ठ होलो आज रात्रे
तार मुखे खबर पेलुम :

से पेयेछे छाड़पत्र एक,
नतुन विश्वेर द्वारे ताइ व्यक्त करे अधिकार
जन्ममात्र सुतीव्र चित्कारे।
खर्वदेह निःसहाय, तबु तार मुष्टिबद्ध हात
उत्तोलित, उद्भासित
की एक दुर्बोध्य प्रतिज्ञाय।
से भाषा बोझे ना केउ,
केउ हासे, केउ करे मृदु तिरस्कार।
आमि किन्तु मने मने बुझेछि से भाषा
पेयेछि नतुन चिठि आसन्न युगेर—
परिचय-पत्र पढ़ि भूमिष्ठ शिशुर
अस्पष्ट कुयाशाभरा चोखे।
एसेछे नतुन शिशु, ताके छेड़े दिते हबे स्थान :
जीर्ण पृथिवीते व्यर्थ, मृत आर ध्वंसस्तूप-पिठे
चले जेते हबे आमादेर।
चले याबो – तबु आज यतक्षण देहे आछे प्राण
प्राणपणे पृथिवीर सराबो जंजाल,
ए विश्वके ए शिशुर वासयोग्य करे याबो आमि—
नवजातकेर काछे ए आमार दृढ़ अंगीकार।
अवशेषे सब काज सेरे
आमार देहेर रक्ते नतुन शिशुके
करे याबो आशीर्वाद,
तारपर हबो इतिहास॥

याने—

आज रात में जो बच्चा भूमिष्ठ हुआ,
उसके मुंह से यह खबर मिली कि
उसे एक पासपोर्ट मिला,
इस कारण नये विश्व के द्वार में वह सुतीव्र कोलाहल से
अपने अधिकार को जन्म पाते ही जताता है।
नन्हा सा शरीर है, फिर भी मुट्ठी बंधी हुई है,
उत्तोलित और उद्भासित है
एक दुर्बोध्य प्रतिज्ञा में।
उस भाषा को कोई नहीं समझता,
कोई हंसता है, कोई मृदु तिरस्कार करता है।

पर मैंने मन ही मन उस भाषा को समझ लिया है,
मैंने आसन्न युग की नई चिट्ठी पा ली है।
मैंने भूमिष्ठ शिशु की अस्पष्ट कोहराभरी आंखों में
उसका परिचय पत्र पढ़ लिया है।
नया शिशु आया है, उसके लिये स्थान छोड़ देना पड़ेगा।
इस जीर्ण पृथ्वी पर से व्यर्थ, मृत और खंडहरों को पीठ पर बांध कर
हमें चल देना पड़ेगा
तो चला जाऊंगा, पर जब तक देह में प्राण हैं,
भरसक पृथ्वी के कूड़े को दूर करूंगा,
इस नवजात शिशु के निकट यह है मेरी दृढ़ प्रतिज्ञा कि
इस विश्व को हम इस शिशु के रहने लायक बना जायेंगे।
अन्त में सब काम समाप्त कर
अपनी देह के रक्त से नये
शिशु को आशीर्वाद दे जाऊंगा,
इसके बाद इतिहास हो जाऊंगा।

आधुनिक कवियों में *विष्णु* दे भी महत्वपूर्ण हैं। उन पर एजरा पाउन्ड और टी० एस० इलियट का प्रभाव पड़ा है। विष्णु दे के सम्बन्ध में श्री अमलेन्दुदास गुप्ता का यह कहना है कि उनके प्रयोग बहुत साहसपूर्ण हुए हैं और उनका शिल्प ऊँचे दर्जे का है। पर उनके प्रारम्भिक प्रयासों में शायद गहरी अभिज्ञता की कमी थी, और इसके फलस्वरूप शिल्पगत उच्चता के बावजूद उनमें हृदय हिलाने की शक्ति अक्सर नहीं आती। यत्रतत्र असंदिग्ध सौन्दर्य के टुकड़े, सूक्ष्म शहरी व्यंग की पंक्तियां तथा अनिश्चित भावनात्मक शक्ति है, पर कुल मिला कर इन कविताओं से यह छाप उत्पन्न नहीं होती कि उनके पीछे एक संगठित चेतना है, कई हालतों में तो ऐसा मालूम होता है कि उनकी एकमात्र बड़ाई इस बात में है कि शिल्प की दृष्टि से वे बहुत काफी आगे बढ़ी हुई हैं। उनकी सफल कविताओं में भी सब ऐसा पाया जाता है मानो उनकी विचार-प्रवृत्तियों में जानबूझ कर कड़ियों को क्रम से नहीं रखा गया है। अवश्य ही दास गुप्त यह भी मानते हैं कि कवि ने जनता के सामाजिक तथा राजनैतिक शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई है। विष्णु दे को कुल मिला कर एक प्रगतिशील कवि माना जाता है।

एक अन्य कवि श्री *अमिय चक्रवर्ती* का सम्बन्ध श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर से बहुत अधिक था, फिर भी वे केवल अनुकरणकारी नहीं रहे हैं। अमिय चक्रवर्ती ने सारी दुनिया का बार-बार पर्यटन किया है। इस बात की छाप उनकी कविता पर पड़ी है। एक मजे की बात यह है कि रवीन्द्रनाथ ने अपनी भ्रमण कहानियों के अतिरिक्त अपने भ्रमण का जिक्र बहुत कम किया है, कविता में तो वे कभी बंगाल के बाहर

के वातावरण में शायद ही जाते हों, पर श्री चक्रवर्ती की बात और है। उन्होंने बराबर बाहर से अनुप्रेरणा ली है और उनकी कविताओं में हमें अजीब देशों, चेहरों तथा भाषाओं से साबका पड़ता है। यदि अन्तर्गत वस्तु की दृष्टि से देखा जाय तो रवीन्द्र-नाथ की कविता में विश्ववासी के लिये सर्वत्र आवेदन होते हुए भी उनका पहिनावा भारतीय और बंगाली है, पर श्री चक्रवर्ती एक बंगाली मन रखते हुए भी उनके मन के लेन्स का मुह बहुत अधिक बंगाल के बाहर के लोगों, दृश्यों आदि की ओर निबद्ध है। इस अर्थ में वे रवीन्द्रनाथ से दूसरे ढंग से विश्व आवेदन रखते हैं।

श्री सुधीन्द्रदत्त भी एक प्रमुख कवि माने जा सकते हैं। रवीन्द्रनाथ के जीवन-काल में ही वे विख्यात हो चले थे, और रवीन्द्रनाथ ने उनकी प्रशंसा में कुछ लिखा भी था। सुधीन्द्र कवीन्द्र से बहुत कुछ लेते हैं, फिर भी उनकी प्रकृति बिल्कुल उन्हीं की अपनी है। सुधीन्द्र ने बराबर इस बात को माना कि वे रवीन्द्र-साहित्य के ऋणी हैं और जैसा कि कवीन्द्र ने उनकी प्रशस्ति करते हुए कहा था—उनका यह साहस शक्ति से उत्पन्न है। जिसमें शक्ति होती है वही बिना किसी प्रकार के लगाव छिपाव के अपने ऋण को मान लेता है। सुधीन्द्र कुछ अधिक उम्र में काव्य-क्षेत्र में आये और यह कहा जा सकता है कि इससे उनको कोई हानि नहीं हुई क्योंकि यौवन के साथ जिस जोश का सम्बन्ध बताया जाता है, उनकी रचनाओं में उस जोश की कोई कमी नहीं थी। फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि सुधीन्द्र की कविताएँ गत दशक की उतनी नहीं हैं जितनी कि पहले दशकों से उनका सम्बन्ध है।

इधर कुछ और भी शक्तिशाली कवि हुए हैं, जिनकी कविताओं के एकाध नमूने को देख कर के ही हमें सन्तोष करना पड़ेगा। नये कवियों में पलायनवादी किस्म की कविताएँ लिखने का भी रिवाज है, जैसे लीजिए *अरुणकुमार सरकार* की 'नींद' नामक कविता, जिसमें वे रूखे वर्तमान से अपने को त्रस्त दिखलाते हुए ही उसे बदलने का कोई प्रयास न कर निद्रा की गोद में आश्रय लेने में ही अपने पुरुषार्थ की इतिश्री समझते है। वे कहते हैं—

सारा दिन अनात्मीय रूखे वातावरण में बीत गया,
हे रात्रि मेरी विनती सुनो, मित्र हो जाओ, आँखें लाल पीली न करो।
मुझे सिर्फ नींद दो, मुझे उस अज्ञात लोक में ले जाओ
जहां स्मृति की लाश शुरू से आखिर तक अंधकार से घिरी हुई मोटी चादर मेंपड़ी है ढकी
नहीं, नहीं है, कुछ नहीं है, नहीं, यह देह मन कुछ नहीं है,
रोजमर्रे की भौंहें चढ़ाना, निरानन्द कुत्ते की पुकार,
और दूर आकांक्षा की टेढ़ी रेखा एक अप्रतिभ नदी
यदि मुझे ऐसी नींद मिले जिसमें मैं डूब जाऊं ....।
हे रात्रि मेरी विनती सुनो।

दया करो जो शरणागत हैं, सिर नवा रहा है उसकी देह को उठा कर पकड़ो।

श्री अरुणकुमार एक अन्य कविता में अपने जीवन-दर्शन को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

कोनोई आनन्द नेइ अघ्रहायणे,
कलकातार सन्ध्याय धोंयाय धूसर मने,
केवल सान्त्वना एइ तुमि आछ, आर मृत्यु आछे
रात्रिर अस्पष्ट घ्राणे प्रत्याशाय रक्त ताइ नाचे

इस अगहन में नहीं कोई आनन्द है
कलकत्ते की सन्ध्या में धुएँ से धूसर मन में।
जो सान्त्वना है तो इतनी है कि तुम हो और मृत्यु है,
इस लिये रात्रि की अस्पष्ट गन्ध में रक्त उठता है नाच आशा से।

यहां यह देखने योग्य है कि कवि ने जीवन में केवल दो ही चीजों को महत्व-पूर्ण पाया है, एक तो प्रेमिका को और दूसरा मृत्यु को। बाकी सारी दुनिया उसके लिये कोई अर्थ नहीं रखती क्योंकि वह उसमें कोई दिलचस्पी की बात नहीं पाता।

एक कवि *मङ्गलाचरण चट्टोपाध्याय* बंगाल की किसी किशोरी का वर्णन यों करते हैं—

मैं जानता था कि तुम घूंघट वाली रजनीगंधा हो,
लज्जा पाई हुई ललाई हुई संध्या हो,
बिल्कुल ही गांव की लड़की हो, धान माँड़ने वाली पानी लाने वाली,
और सो भी अपने अनजान में रास्ते की तरफ ताककर।

जगन्नाथ चक्रवर्ती की यह कविता कितनी करुण है—

आज भी वही टूटा हुआ बाड़ा, खाली खेत, मिट्टी खिसका हुआ छप्पर, और कितने दिन?
हे ईश्वर, उस तरह बीन बीन कर खाना, बोझ ढोना, दुःख सहना, यह और कितने दिन?
सूना घर हा हा कर रहा है।
खेतों में फसल नहीं, बस्तियां निरानन्द, बन्दरगाह मसान बने हैं
ऐसा मालूम होता है जैसे इस संसार के सारे आंगन में एक निर्दय कब्रिस्तान बिछा हुआ है।
वे कहते हैं कि मन्वन्तर समाप्त हो गया
अकाल समाप्त हो गया,
लडाई ख़तम हो गई।
हा ईश्वर, ऐसा ही हो, ऐसा ही हो।

दोपहर के समय आंगन में बैठकर सूत कातता हूँ,
मन थका हुआ है, सीना जैसे खाली है।
बारबार वही नन्हे मुंह याद आ रहे हैं,
डोमों की वह इतनी सी लड़की जो मांड़ मांग मांग कर मर गई
वंशी का जवान लड़का पत्नी को छोड़कर लड़ाई में गया
फिर लौट कर नहीं आया।
रतन सरदार को किसान आन्दोलन में जेल भेजा गया।
हा ईश्वर तुम्हारी सरकार में यह दमन कब तक होता रहेगा?
आकाश में रूई की तरह सफेद धूप है,
नीचे जहां गायें कभी रहती थीं वहां सूना है,
खेत में धान नहीं है
पैबन्द लगे जीवन का छोर खो रहा है।
हाय
हाय रे माथा,
रोने का सौदा लेकर कब तक चलेगा?
आज चैत्र के अन्त में एक और वैशाख लौटकर आ गया,
पर जुगाली से क्लान्त डरे मरे हुए जीवन का स्वाद कहां लौटा?
पुरानी व्यथा की रात का पौ अभी नहीं फटा, घाव नहीं सूखा।
हाय
हाय रे माथा
आज भी वही टूटा हुआ बाड़ा, सूना खेत और मिट्टी खिसका हुआ छप्पर
है, और कितने दिन?

नरेश गुह एक कविता में अपने हृदय के असन्तोष को यों व्यक्त करते हैं—

आज रात में वर्षा उतरी।
मैं अकेले बिस्तरे पर
आंख में नींद नहीं है।
लेट कर सुनता हूं कि हवा पुकार पुकार कर चली जा रही है।
इस रात में यहां आने को
कितने दिनों से मेरे रक्त में किसी के आने का वादा था।
वह शायद मुझे अमर बनाने के मन्त्र को जानता था।
वह अपार्थिव और अनन्त।
वह मानो मेरे लक्ष्यहीन सब गानों का
तटरेखाहीन मुहाना था। क्या वही मेरे उदास प्राण की
चिरप्रतीक्षा थी?

हाय दुरन्त उत्ताल श्रावण, तुम्हारी शिक्षा ने
यही तो किया।
तो क्या अब की बार पानी ही में नाम लिखकर
चला जाना होगा? तो फिर मैंने क्या पाया? तो मैं क्या हुआ?

एक कविता में वे आगामी युद्ध की आशंका व्यक्त करते है। वे इस बात से सहमे हुए हैं कि यों तो आकाश गहरा नील बना हुआ है, और दिन धान की तरह सुनहले हैं, आम के बौरों की गंध से वायु व्याकुल है इत्यादि, पर कवि को डर है कि न मालूम कब चैत्र के क्षितिज में हिंस्र हिंसा, उन्मत्त क्रोध फट पड़ेगा।

नये युग के प्रसिद्ध कवि *अजीतदत्त* एक अन्योक्ति के रूप में छागल या बकरा नाम की कविता में कहते हैं कि बकरा दाढ़ी के कारण गम्भीर और प्राज्ञ ज्ञात होता है, उसके सींगों को देखकर शंका होती है कि न मालूम कब टक्कर मारे, उसकी दृष्टि उदासीन है, पर घासों पर ध्यान रहता है, जो पाता है उसे बिना विचार के लुकमे बनाता जाता है। इसके आगे कवि कहते हैं कि उसे रुचि से कोई सरोकार नहीं, वह संचय का मूल्य जानता है, उसे फल के रूप में चर्वित चर्वण मिलता है। इसके बाद कवि कहते हैं—

वह तत्ववेत्ता है, दार्शनिक भी है कि हरी घास में विश्वरूप निहारता है
उनका अस्थि-मांस-मेद-मज्जा, चाहे बेटी के रूप में हो या कि कीमे के
सब देश और सब कालों में प्रिय है, चाहे जिस रीति से पके,
धर्म कर्म में, त्यौहारों में, उसकी है स्वतःसिद्ध राष्ट्रीय महिमा।
अपने चमड़े से बने नगाड़े पर अपनी बलि की कीर्ति घोषित करता है,
फिर भी वह कितना सहनशील है, दंडाहत सांवली सूरत!

अब बताइये कि यह बकरा कौन है। कहीं तो मालूम होता है कि यह बकरा उर्दू कविता का नासेहा है या 'वलाका' में उल्लिखित कवीन्द्र रवीन्द्र का 'प्रवीण' है, पर आगे चलकर जब उसके मांस के खाये जाने तथा पसन्द किये जाने की बात कही जाती है, तो मालूम होता है कि यह जनता है, जिसे तरह-तरह के पुरोहित बलि पर चढ़ाते हैं। पर यह भी आधुनिक कविता की एक धारा है, जिस के अंश अपने में बिलकुल स्पष्ट हैं, पर उनमें कोई सूत्र नहीं निकलता।

कहना न होगा कि इस प्रकार से जनता के मन की सब तरह की प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति बराबर कविता में होती रही है, फिर भी चाहे पलायनवादी हो चाहे अध्यात्मवादी हो या महज शब्द-विलासी हो, सभी कवियों की कविताओं से यह ध्वनि किसी न किसी रूप में निकल रही है कि यह जगत् जैसा कि वह है, उसमें सारी सम्भावनाएँ होते हुए भी, इसमें कोई ऐसी बात है जिसे दूर करना जरूरी है। नहीं तो इसमें वह आकर्षण नहीं मालूम देता जो इसमें होना चाहिए। शायद इन कवियों

की वाणी में उस तरह की प्रतिभा की सुरभि प्राप्त नहीं है, जैसी कवीन्द्र रवीन्द्र में थी, फिर भी कुल मिलाकर ये कविताएँ भारत के और बंगाल के नव निर्माण में सहायक होंगी, ऐसी आशा की जा सकती है। साथ ही जैसा कि दिये हुए उदाहरणों से स्पष्ट हो गया होगा इस समय कविता कल्पना के स्वर्ग से वास्तविकता के मर्त्य में उतर आने पर भी उसमें कवित्व शक्ति का या वास्तविक काव्य धर्म का अभाव नहीं रहा है। प्रेम के लिए भी गुंजाइश है और सूक्ष्म कविता के लिए भी।

भारतीय फिल्म और राष्ट्रनिर्माण

भारतवर्ष में इस समय कोई सोलह लाख व्यक्ति नित्य फिलम देखते हैं। यही सोलह लाख व्यक्ति रोज फिलम देखते हैं ऐसी बात नहीं है, बल्कि इनमें से बहुत अधिक संख्या ऐसे लोगों की होती है जो नये होते हैं। इस दृष्टि से यह ठीक ही कहा गया है कि फिलम, समाचार-पत्र और रेडियो दोनों से अधिक महत्व प्राप्त कर चुका है। एक साधारण व्यक्ति समाचार-पत्र के लिए बहुत अधिक हुआ तो नियमित रूप से आध घंटा समय दे सकता है। जिनके पास रेडियो है वे भी इससे अधिक समय नहीं देते होंगे। यहां केवल औसतों की बात हो रही है।

इसके विपरीत फिल्मों को देखते समय एक सिलसिले में कम से कम दो घंटे समय देना पड़ता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि फिल्म भारतीयों के जीवन में बहुत महत्व रखता है। फिलम का वक्तव्य बहुत रंगीन ढंग से सामने आता है। उसमें नृत्य, गीत, नाटक, सौन्दर्य, कला, प्रकृति, विज्ञान सभी का सहारा लेकर अपनी वक्तव्य वस्तु को सामने लाया जाता है, इस कारण जनमत और इसलिए जन-चरित्र बनाने का यह एक शक्तिशाली माध्यम है।

हमें यहां पर टालस्टाय की *'क्रायटसर सौनाटा'* नामक एक पुस्तक की याद आती है। इसमें लेखक ने दिखलाया है कि किस प्रकार संगीत की मोहिनी शक्ति का फायदा उठा-कर एक कुलवधू को पथभ्रष्ट किया जाता है। टालस्टाय इस कथानक को बड़े सुन्दर ढंग से विकसित करते हैं। उनका कथन यह है कि संगीत ऐसे शक्तिशाली माध्यम को इस प्रकार से जिस किसी आवारे के हाथ में छोड़ देना बहुत गलत है।

जब केवल संगीत पर यह बात कही गई है, और जो बात कही गई है वह बिल्कुल अयुक्तिसंगत नहीं है, तो फिल्म पर टालस्टाय की बात कितनी अधिक लागू होगी क्योंकि फिल्म में संगीत के अतिरिक्त सैकड़ों उपादान होते हैं जो जनमत को चाहे जिधर ले जाने की शक्ति रखते हैं।

फिल्म की शक्ति समाचार-पत्रों के मुकाबले में और भी अधिक इस कारण है कि समाचार-पत्र पढ़ने के लिए साक्षरता और कुछ शिक्षा की आवश्यकता होती है, पर फिल्म तो अनपढ़ व्यक्ति भी देख सकता है। हम यह जानते हैं कि हजारों अनपढ़ व्यक्ति नित्य फिल्म देखते हैं। अनपढ़ व्यक्तियों के क्षेत्र में फिल्म और भी खतरनाक इसलिए प्रमाणित हो सकते हैं कि उनमें यह प्रवृत्ति है कि वे चित्रपट पर जो कुछ भी देखते हैं, उसे वेदवाक्य या निर्भ्रान्त समझ सकते हैं।

इस सम्बन्ध में और भी गहराई के साथ विचार करने के पहले हम यह देखें कि भारत में फिल्म की कितनी वेग के साथ उन्नति हुई है। १९२७ में भारत सरकार ने श्री टी० रंगाचारी के सभापतित्व में एक कमेटी इसलिए नियुक्त की थी कि वह फिल्म-व्यवसाय पर खोज करे। उस समय देश में ३४६ स्थायी सिनेमाघर थे। इनमें से केवल ३७ ऐसे थे जो किसी खास मौसम में चलते थे। उस समय भी विदेशों के फिल्म भारत में दिखाये जाते थे। जितना फिल्म भारत में दिखाया जाता था, उसमें से केवल ८वां भाग भारत में तैयार होता था। बाकी विदेशों से आता था।

यद्यपि सरकार की ओर से फिल्म-व्यवसाय को कोई सहायता नहीं दी गई, तो भी अगले कुछ वर्षों में भारतीय फिल्म धंधे की बहुत अधिक उन्नति हुई और १९३१ तक सिनेमाघरों की संख्या ४०० हो गई थी।

इन्हीं दिनों बोलपट का प्रचार हुआ। स्वाभाविक रूप से भारतीय फिल्म व्यवसाय को भी इस सम्बन्ध में आगे बढ़ना पड़ा, और बताया जाता है कि १९३५ तक चित्रपटों को सवाक् बनाने की प्रक्रिया समाप्त हो गई। इसके बाद कोई मूक चित्र बनाया ही नहीं गया।

बोलपट हो जाने के कारण भारतीय फिल्म व्यवसाय को एक प्रकार से संरक्षण-सा मिल गया। पहले तो एक तरह से खुला बाजार था, क्योंकि मूक अभिनय ही प्रदर्शित किया जाता था। अब भाषाओं की दीवार पैदा हो गई, और भारतीय फिल्म-व्यवसाय इस दीवार, बल्कि दीवारों के अन्दर सुरक्षित होकर पनपने लगा। अवश्य अब यह दीवार भी बहुत टूट चुकी है। अब डबिंग प्रक्रिया की बहुत अधिक उन्नति हो चुकी है, और अमेरिका के निर्माता अपने चित्रों को अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में दिखाते रहते हैं।

यह सभी को मालूम है कि "सैम्सन और डैलाइला" नामक चित्र को हिन्दी में डब किया गया है, और वह हिन्दी रूप मे भारतीय सिनेमाघरों में दिखाया जा चुका है। यों तो भारत में भी कई दक्षिण भारतीय चित्रों को आंशिक या पूर्ण रूप से डब कर के हिन्दी मे दिखाया गया है। यह ज्ञात हुआ है कि अमेरिका के निर्माताओं का ध्यान हिन्दी में डब करने की ओर होने के कारण भारतीय फिल्म व्यवसायियों में घबराहट फैल गई है, पर मैं समझता हूँ कि इसमें घबराहट की कोई बात नहीं है। जहां इस प्रक्रिया से उन्हें बाहर की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ेगा, वहां इस प्रक्रिया से वे भारत के सारे बाजार पर छा सकते हैं। भारतीय फिल्म कुछ हद तक अब भी हमारे

पड़ोस के देशों में जाते हैं, डबिंग की प्रक्रिया के विस्तार के साथ दूसरे देशों में और भी अधिक विस्तार संभव होगा। उदाहरणार्थ यदि अरबी में भारतीय चित्र डब होंगे तो वे सारे अरबीभाषी देशों में दिखाये जा सकेंगे। अस्तु।

हम फिर एक बार इतिहास पर लौटते हैं। १९३९ तक सिनेमाघरों की संख्या १५०० हो चुकी थी। द्वितीय महायुद्ध की घोषणा के समय भारत का नम्बर फिल्मों की लम्बाई की दृष्टि से तीसरा था।

महायुद्ध के कारण भारतीय फिल्म-व्यवसाय की बहुत अधिक उन्नति हुई। युद्ध-कालीन कठिनाइयों के बावजूद ४० लाख का फिल्म सम्बन्धी सामान आया। १९४५ तक सिनेमाघरों की संख्या २०९० हो चुकी थी। कच्चा फिल्म कम प्राप्त होने के कारण इन दिनों फिल्म बनाने पर बहुत प्रतिबन्ध लगाये गये। पर युद्ध-समाप्ति के बाद सारे नियंत्रण हटा लिये गये, और १०० नये निर्माता क्षेत्र में उतर पड़े। इसके बाद देश का विभाजन हुआ, और उसके बाद जो घटनाएं हुईं, उनसे भारत के सिनेमा-व्यवसाय पर हानिकर प्रभाव पड़ा। फिर भी फिल्म खोज कमेटी का यह अनुमान है कि इस व्यवसाय में कुछ लोगों का वेतन बहुत अधिक होने पर भी निर्माताओं को प्रतिवर्ष २० करोड़ रुपयों का मुनाफा होता है। असल में मुनाफा इससे कहीं अधिक होगा।

यह सभी मानते हैं कि यद्यपि फिल्म-व्यवसाय की उन्नति हुई है, और इसमें लगे हुए प्रधान लोगों की आमदनी दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती गई है, फिर भी जहां तक फिल्मों की कला और विषय वस्तु का सम्बन्ध है, उनकी बहुत अवनति हुई है। ऐसा कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि फिल्म-व्यवसाय में लगे हुए लोगों का अब एकमात्र लक्ष्य जनता की जेब कतर कर अपनी जेबों को भरना रह गया है। कहना न होगा कि यह बहुत ही भयंकर परिस्थिति है, और इससे जनता को बचाने की आवश्यकता है।

निर्माताओं का यह कहना है कि वे तो उसी चीज को बनाते हैं जिसे जनता चाहती है। उनका कहना है कि जनता ऊंचे दर्जे के फिल्मों को पसन्द नहीं करती है, पर इतिहास से यह बात प्रमाणित नहीं होती। अवश्य इधर "*छोटा भाई*" ऐसे फिल्म को अधिक सफलता न मिलने पर इस प्रकार का सन्देह कुछ ठीक बैठता है, पर इस एक बात से यह अभियोग प्रमाणित नहीं होता। अभी तक पहले के बनाये हुए उच्च कोटि के फिल्म जैसे *देवदास*, *विद्यापति* आदि के लिए बाजार खुला हुआ है, फिर '*दो बीघा ज़मीन*' आदि कुछ उच्च कोटि के फिल्मों को सफलता भी मिली है।

अवश्य यहां एक बात स्पष्ट कह दें कि उच्च कोटि के फिल्मों से मेरा मतलब केवल उल्लिखित प्रकार के फिल्मों से नहीं है। अच्छे फिल्मों से मेरा मतलब क्या है, यह इस लेख के दौरान में स्पष्ट हो जायेगा।

केवल पलायनवादी या कथित मनोरंजक फिल्मों से काम नहीं बनेगा, यह फिल्म खोज कमेटी की तरह अदलीय कमेटी का भी मत है। फिल्म खोज कमेटी का मत है, "निर्माता इस बात की आड़ लेकर अपनी सफाई नहीं दे सकता कि फिल्म मनोरंजक साबित हुआ है

यदि इसके साथ ही वह समाज के लिए निश्चित रूप से हानिकर प्रमाणित हो। समाज के प्रति फिल्म की एक विशेष जिम्मेदारी है जो किसी भी प्रकार प्रेस या रेडियो की जिम्मेदारी से कम नहीं है। हम लोगों के मतानुसार केवल हानि की सम्भावनाओं से युक्त विषयों को बचाने के नकारात्मक तरीके से इस जिम्मेदारी का निर्वाह नहीं हो सकता। इस कर्तव्य को करने के सम्बन्ध में रुख धनात्मक, रचनात्मक और स्वस्थ होना जरूरी है।" स्मरण रहे कि यह मत एक ऐसी कमेटी का है जो किसी भी प्रकार समाजवादी विचार पोषण करने वाली नहीं समझी जा सकती है।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि वर्तमान फिल्मों की उन्नति कैसे हो सकती है? मुझे तो हिन्दी फिल्मों में सबसे कमजोर विन्दु कहानी मालूम होती है। हिन्दी में बहुत-सी अच्छी कहानियां तथा उपन्यास लिखे गये हैं, पर निर्माताओं की ओर से इस सम्बन्ध म जो उदासीनता दृष्टिगोचर होती है, वह सिर से पैर तक पीड़ादायक है। मुझे ऐसा बताया गया है कि कहानी, उपन्यास के लेखकों को पैसा देने से बचने के लिए निर्मातागण स्वयं ऊलजलूल, बे-सिर-पैर, मूर्खतापूर्ण कहानियां गढ़ा करते हैं। कई क्षेत्रों में तो वे विदेशी फिल्मों को चुरा कर भी काम में लाते हैं।

कहानियों की ओर से हमारे निर्माताओं की यह उदासीनता कुछ समझ में नहीं आती। भारत में तो इस बात की खोज नहीं हुई है कि किस हद तक किस उपादान के लिए फिल्म सफल या असफल रहता है, पर इंग्लैण्ड में इस सम्बन्ध में जो खोजें हुई हैं, उनका परिणाम इस प्रकार है:—

कहानी	.....	३७ फी सदी
तारिकाएं	.....	३४ फी सदी
आलोचना	.....	१९ फी सदी
फिल्म का शीर्षक	...	१६ फी सदी
रंगमंच	.....	९ फी सदी
मित्रों की सिफारिश	.....	२ फी सदी
"यह ब्रिटिश है"	.....	१ फी सदी

कुल जोड़ सौ फी सदी से अधिक बैठता है, इसका कारण यह बताया गया है कि बहुत-से लोगों ने एक से अधिक कारण बताये थे। जो भी हो इसमें सन्देह नहीं कि कहानी को सब से अधिक महत्व प्राप्त है। यदि हिन्दी फिल्मों के निर्माता केवल अपनी कहानियों को कुछ उन्नत कर ल, तो इसमें सन्देह नहीं कि फिल्मों का स्तर बौद्धिक रूप से अधिक ऊंचा न उठकर भी हिन्दी फिल्मों में उन्नति हो सकती है।

फिल्म खोज कमेटी ने कहानियों की उन्नति करने के लिए एक केन्द्रीय कहानी ब्यूरो की स्थापना की बात कही है। इसके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यह इस देश की सब भाषाओं में प्रकाशित कहानियों की सूची और संक्षिप्त विवरण तैयार करे। हो सके तो विदेशी भाषाओं की कहानियां भी ली जायँ। इसके साथ ही इसके सामने आई

हुई कहानियों पर भी विचार किया जाय । कहना न होगा कि यह योजना इतनी बड़ी है कि इस प्रकार से सोचना केवल दिमागी ऐयाशी मात्र ज्ञात होती है । साहित्य में प्रतिदिन यह तय होता रहता है कि कौन कहानी लेखक अच्छा है और कौन बुरा, अर्थात् प्रसंग को देखते हुए किस कहानी लेखक में सिनेमा के उपादान अधिक हैं और किस में कम ।

मैं समझता हूं कि केन्द्रीय कहानी ब्यूरो यदि वह बने भी, तो वह अपने कार्यक्रम को इतना बड़ा न रखे जितना कि फिल्म खोज कमेटी ने बताया है । कार्य का दायरा घटाने से काम अधिक सफलता से हो सकेगा । किसी भी हालत में हिन्दी फिल्मों की सड़ी कहानियों से जनता का छुटकारा कराना पड़ेगा । यदि फिल्म सेंसर बोर्ड नकारात्मक रूप से फिल्मों की जांच न कर उनकी कहानी की अच्छी तरह जांच करे तो इसमें फिल्मों के उन्नयन में बड़ी सहायता मिलेगी ।

जैसा कि फिल्म खोज कमेटी ने संकेत किया है, फिल्मों की हर तरह से नैतिक सतह ऊंची करनी पड़ेगी । यह अजीब बात है कि इस कमेटी के सम्मुख जितने भी मनोविज्ञान के विद्वान् पेश हुए, उन सब ने यह कहा कि यदि दर्शक फिल्म में कोई बात अपने विचारों के विरुद्ध पाता है, तो वह उसे ग्रहण नहीं करता । केवल भाड़े के टट्टू ही ऐसी मूर्खतापूर्ण बात कह सकते है । सब अपराध वैज्ञानिक इस संबन्ध में सहमत है कि हालीवुडनुमा फिल्मों का प्रभाव अपराध बढ़ाने की ओर रहता है । जो मनोवैज्ञानिक खोज कमेटी के सामने पेश हुए, उन्होंने कैसे यह बात कह दी कि फिल्मों का प्रभाव चरित्र पर नहीं पड़ता, यह मेरी समझ में नहीं आता । क्या मनुष्य का चरित्र कोई रहस्यवादी वस्तु है जिस पर परिस्थितियों का प्रभाव नहीं पड़ता ? और क्या जिन परिस्थितियों का चरित्र पर प्रभाव पड़ता है उनमें वे घंटे नहीं आते जो मनुष्य सिनेमाघर के अन्दर बिताता है ? मेरा तो विचार यह है कि संगीत,सौन्दर्य आदि से समन्वित होकर फिल्म हमारे सामने आते हैं, इसलिए उनका प्रभाव बहुत ही निविड़ होता है ।

विलायत में तथा अन्य स्थानों में फिल्मों के विरुद्ध शिक्षावादियों की ओर से बराबर आवाज उठाई गई है । इसके उत्तर में फिल्मवालों का यह कहना है कि जिन लोगों का प्रभाव घट रहा है, वे ही इस प्रकार की आवाज उठाते हैं । पर यह बात सत्य नहीं है । वामपक्षियों का प्रभाव दुनिया पर बराबर बढ़ रहा है, पर वे भी चरित्र को गिरानेवाले, पलायनवादी, अर्थहीन फिल्मों का विरोध करते हैं । इसलिए यह कहना कि जिनका प्रभाव घट रहा है वे ही वर्तमान फिल्मों के विरोधी हैं, गलत है । सच तो यह है कि जिन्हें जनता को उल्लू बना कर उसकी जेबों से पैसे खींचने से उदात्ततर कोई भी उद्देश्य नहीं है, वे हिन्दी फिल्मों की वर्तमान प्रगति से बहुत चिन्तित हैं । यह दुःख की बात है कि हिन्दी के एकमात्र सफल नाट्यकार श्री पृथ्वीराज अपने बेटे के अनैतिक प्रभाव में आकर "आवारा" ऐसे केवल पैसा कमाने के उद्देश्य से तैयार किये हुए फिल्म में दृष्टिगोचर हुए । यहां यह बताया जाय कि आवारा का केन्द्रीय विषय बहुत सुन्दर है, वह यह है कि जन्म से कहीं महत्वपूर्ण सामाजिक परिस्थितियाँ है, पर उसे इस तरह रूप दिया गया है कि विषय

उस समय उत्पादन पद्धति इतनी पिछड़ी हुई थी कि एक आदमी जितना काम करता था, उससे उसकी उदरपूर्ति बड़ी कठिनाई से होती थी। सच तो यह है कि एक आदमी अकेला कुछ कर नहीं पाता था। श्रम सामूहिक था इस कारण उसका फलभोग भी सामूहिक रूप से होता था। उस समाज में शोषकों और शोषितों की कोई गुंजाइश नहीं थी, क्योंकि जब कोई अपनी आवश्यकता की भी पूर्ति नहीं कर पाता था, या उस समय के अत्यन्त निम्न मानदण्ड के अनुसार भी मुश्किल से कर पाता था तो उसमें शोषक शोषित को लेकर क्या करता; क्या झख मारता ?

जब उत्पादन-पद्धति में कुछ उन्नति हुई, औजारों में कुछ प्रगति हुई, तभी कुछ लोगों को अन्य लोगों की तुलना में अधिक सुविधाएँ प्राप्त होने लगी। यौथ समाज में स्त्रियों को अधिक महत्व प्राप्त था, पर अब पुरुषों का महत्व अधिक होने लगा। मुख्यतः इन औजारों के आविष्कर्ता तथा प्रयोक्ता पुरुष ही थे, इस कारण जैसा कि मैंने अपनी पुस्तक "*ऐतिहासिक भौतिकवाद*" में लिखा है, अब इतिहास की सबसे बड़ी क्रान्ति हुई। वह क्रान्ति यह थी कि मातृमूलक समाज-व्यवस्था के स्थान पर पितृमूलक समाज-व्यवस्था का प्रवर्तन हुआ।

यौथ सम्पत्ति की प्रथा अब आगे चल नहीं सकी, क्योंकि उसका आधार टूट गया। हम इसके ब्यौरे में नही जायेंगे, पर इतना बता दें कि पहले सारे समाज का एक ही हित था, अब वह एक हितवाली बात नही रही। अब मुख्यतः दो हित, दो वर्ग और दो धारणाएँ उत्पन्न हुई। एक तो शोषकों का हित, उनका वर्ग, उनकी धारणा और दूसरा शोषितों का हित, उनकी धारणा और उनका वर्ग। अवश्य शेषोक्त वर्ग याने शोषित वर्ग की धारणाएँ ही समाज की विचारधारा के रूप में ही रहीं। हमेशा शोषक वर्ग की धारणाएँ ही समाज की विचारधारा के रूप में चलती रहीं, और उसी को आधार बनाकर कानून, शिष्टाचार, सदाचार बनते रहे। हां, शोषक वर्ग के भाड़े के टट्टू ऋषियों, मुनियों, दार्शनिकों, मौलवियों का काम यह रहा कि वे बराबर शोषक वर्ग की विचारधारा को ही निष्पक्ष विचारधारा के रूप में पेश करने की चेष्टा करते रहे। अस्तु।

पर इस प्रकार आदिम समाज के बाद शोषित और शोषक जो दो वर्ग बनें उनमें पूंजीपति और मज़दूर वर्ग नही थे। ये वर्ग बल्कि जमींदार और किसान वर्ग के अधिक निकट थे, पर कई मामलों में उनका आपसी सम्बन्ध गुलाम और गुलाम के मालिक का सम्बन्ध था। जो लोग यह दिखाने की चेष्टा करते है कि मजदूर और पूंजीपति वर्ग चिरन्तन है, वे जहां तक शोषण का उपादान हैं, उसे तो देखते हैं, पर शोषण का रूप क्या है, उसका तरीका क्या है उसे देखे बिना ही अपना मन्तव्य पेश करते है। यदि ये लोग यह कहें कि आदिम समाज के बाद से जितनी भी समाज व्यवस्थाएँ हुई हैं, उनमें शोषण का उपादान था, और वे शोषण पर आधारित थे, तो यह तो माना जा सकता है, पर मज़दूर पूंजीपति की बात और है।

मैं अगले वाक्यों में इसका स्पष्टीकरण करता हूँ। आदिम समाज के बाद जितनी समाज व्यवस्थाएँ हुईं और मानी जाती हैं वे इस प्रकार हैं :–

१-गुलाममूलक समाज। इसमें गुलाम उत्पादक था, और गुलाम का मालिक शोषक था। इस सम्बन्ध में जिस बात को याद रखना चाहिये वह यह है कि यह गुलाममूलक समाज सभी देशों में नहीं रहा। किसी-किसी देश में यह समाज-पद्धति बहुत आर्थिक रूप से ही रही। आदिम समाज से यहां के लोग सीधे-सीधे अगली समाज पद्धति याने सामन्तवादी समाज में पहुंच गये। भूमध्य सागर के तटवर्ती कई देशों में गुलाममूलक समाज-पद्धति रही इसका पूरा प्रमाण मिलता है। पर जैसे भारत में वैदिक काल में और उसके बाद के युगों में बहुत से गुलाम रहने पर भी यह प्रमाण नहीं मिलता कि सारा उत्पादन उन्हीं के द्वारा करवाया जाता था। ऐसा मालूम होता है कि वैदिक युग के बहुत पहले ही भारतीय समाज सामन्तवादी रूप ले चुका था।

गुलाममूलक समाज में गुलाम को कोई भी स्वतन्त्रता नहीं होती थी। जो लोग मज़दूर वर्ग को चिरन्तन करके दिखाने की चेष्टा करते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि गुलाम-मूलक समाज के गुलाम में और पूंजीवादी समाज के मजदूर में बहुत फर्क है, और स्व-तन्त्रता तथा अधिकारों की दृष्टि से मज़दूर गुलामों से कहीं अच्छा है। गुलामों के शरीरों पर उनके सारे समय पर यहां तक कि गुलाम स्त्रियों के शरीरों पर मालिक का निरं-कुश अधिकार होता था। इसके विपरीत मजदूर केवल काम करने के समय और सो भी अपनी श्रमशक्ति की हद तक ही पूंजीपति के अधीन है। रहा यह कि उसकी स्वतन्त्रता कहां तक वास्तविक है और कहां तक कागजी है, यह दूसरा प्रश्न है।

२-गुलाममूलक समाज के बाद अर्द्ध-गुलाम या किसान गुलाम ही समाज का प्रधान उत्पादक बना। सामन्तवादी प्रभु अब फल का उपभोक्ता बना। वैदिक समाज से लेकर अब तक कुछ अपवादों के अतिरिक्त भारत में यही समाज पद्धति चालू रही। केवल सौ सवा सौ वर्षो से आर्थिक रूप से यहां पूंजीवादी समाज का उदय हुआ है हमारे देहातों में यह समाज-पद्धति बहुत जोरों से टूट रही है, पर अभी वह समाप्त नहीं हुई।

यहां यह बता दिया जाय कि किसान के मुकाबले में मजदूर बहुत अधिक स्वतन्त्र है। किसान तो जमीन से बंधा होता है, और इस कारण वह अपने शोषक से बंधा हुआ है। निरन्तर आन्दोलनों के कारण अब किसानों की दुर्गति पहले की तुलना में बहुत कम हो गई है, अब केवल अत्यन्त पिछड़े हुए स्थानों में ही बेगार ली जाती है, उसके वैयक्तिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं होता है, इत्यादि।

३–सामन्तवादी समाज के बाद पूंजीवादी समाज की उत्पत्ति हुई। प्रथम समाज के गर्भ में ही द्वितीय समाज के बीज अन्तर्निहित थे। यह कैसे, इसका विवरण दिया जा रहा है। भारत में तो अभी हम इस सोपान को आंख से देख रहे हैं। कई उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों तथा कहानियों में इस सोपान को विस्तार के साथ दिखाया है।

सामन्तवादी समाज अपनी समृद्धि के युग में एक आत्मयथेष्ट पद्धति थी। भारत के पिछड़े हुए भागों में हम देख सकते हैं कि जमींदार या ताल्लुकेदार बिना कुछ किये मौज उड़ाता रहता है, जबकि किसान जो धन का असली उत्पादक है, किसी तरह जीता भर है। एक तरफ तो खेती में उन्नति न होने से, और दूसरी तरफ जमीन पर बोझ बढ़ जाने से, किसान का शोषण तीव्र होता जाता है। इन बातों के कारण किसानों में जमीन छोड़ कर भाग जाने की प्रवृत्ति तीव्र हो जाती है। इंग्लैंड में सबसे पहले पूंजीपति वर्ग का उदय हुआ, इस कारण पूंजीवाद का उदय तथा मजदूर वर्ग की उत्पत्ति को इंग्लेंड के इतिहास से ही दिखाया जाता है। वहां हम यह देखते है कि किसान शोषण से उकता कर शहरों में भाग रहे हैं। किसानों का इस प्रकार जमीन से उकता कर भाग जाना मजदूर वर्ग की उत्पत्ति की एक प्रधान शर्त है। मजदूर वर्ग इसी किसान वर्ग से उत्पन्न हुआ, यद्यपि उसमें कई विशेषताएँ आ गईं जो किसान वर्ग में नहीं थीं।

इन विशेषताओं की ओर में पहले ही इशारा कर चुका हूं। किसान जमीन से बंधा हुआ है, पर मजदूर देखने में और कुछ हद तक स्वतन्त्र अवश्य है। यह किसी मिल से या कारखाने से बंधा हुआ नही है। वह ठहराव पर काम करता है। उसकी शादी ब्याह तथा अन्य घरेलू मामलों में पूंजीपति कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। इस दृष्टि से देखने पर भी पूंजीवादी पद्धति पहले की सब वर्गमूलक पद्धतियों की तुलना में प्रगतिशील है।

मजदूर वर्ग की उत्पत्ति में दूसरी शर्त यह है कि कल, कारखाने स्थापित हों, याने श्रम की उत्पादकता बढ़े, जिससे कि जमीन छोड़ कर भागे हुए किसान उनमें खप सकें।

यह न समझना चाहिये कि सामन्तवादी समाज में केवल किसान और जमींदार ही थे। इनके साथ-साथ बढ़ई, लोहार आदि कारीगरों के समूह थे, जो उस समाज में आवश्यक तैयार मालों का उत्पादन करते थे। हमारे यहां तो चाणक्य के समय ही इस प्रकार के कारीगरों की बड़ी-बड़ी संस्थाएँ थी। सच तो यह है कि हमारा समाज उसी समय बहुत कुछ समाज-पद्धति के अगले सोपान अर्थात् पूजीवादी समाज में परिणत होने के लिए परिपक्व था। पर ऐसा मालूम होता है कि बहुत सस्ता और यथेष्ट श्रम प्राप्त होने के कारण यन्त्रों की उन्नति नही हो पाई। बात यह है कि यन्त्रों की उन्नति में यह शर्त है कि मजदूर रख कर या तो उस काम को किया ही न जा सके, जिसे यन्त्र से किया जा सकता है, या किया जा सके तो यन्त्र का काम सस्ता पड़े। इस ऐतिहासिक प्रश्न को यहीं पर छोड़ कर हम अपने वर्तमान विषय में लौटते हैं।

यन्त्रों में उन्नति के साथ-साथ मजदूर वर्ग के उदय के लिए यह भी आवश्यक है कि कुछ लोगों के पास यथेष्ट पूंजी एकत्र हो गई हो, जिससे वे कल कारखाने चला सकें। पूंजीपति को यन्त्र खरीदने के लिए, कारखाने की जमीन तथा उसके भवन या भवनों के लिए कच्चा माल, जिससे उत्पादन होता है, उसके दाम के लिए, इंजी-

नियर, मैनेजर तथा मजदूरों के वेतन के लिए प्रचुर धन की आवश्यकता है।

पूंजीवादी वर्ग के उदय के क्लासिकल देश इंग्लैण्ड में लोगों के पास जो पूंजी एकत्र हुई, उसका इतिहास बड़ा मजेदार है। भारत की लूट से ही इंग्लैंड के कुछ लोगों के हाथों में अपार धनराशि एकत्र हुई, और इन लोगों ने इस धन को कल कारखानों को चलाने में लगाया। अवश्य इसके अलावा पूंजीवाद के अभ्युदय के कारण बैंक, ज्वाइंट स्टाक कम्पनियां आदि कई संस्थाएँ उत्पन्न हुईं, जो थोड़े धन को अधिक धन बनाने के कार्य में सहायक सिद्ध हुईं, बैंकों से उधार लेकर नये नये पूंजीपति अपना काम चलाने लगे। इसी प्रकार कई पूंजीपति मिल कर एक कम्पनी बनाने से उनके पास धन की कमी नहीं रही।

बहुत दिनों तक यह हास्यास्पद परिस्थति रही कि उत्पादन का सारा सूत्र तो पूंजीपतियों के हाथों में रहा, और राष्ट्र की बागडोर सामन्तवादी प्रभुओं के हाथ में रही। इससे उत्पादन में बाधा पहुंची। यद्यपि पूंजीवादी वर्ग के अभ्युदय का क्लासिकल देश इंग्लैंड माना जाता है, क्योंकि वहीं सबसे पहले मजदूर वर्ग का उदय हुआ, पर पूजीपति और सामन्तवादी वर्ग के संघर्ष का क्लासिकल देश फ्रांस ही माना जाता है। इंग्लैंड में तो दीर्घ संघर्ष होने नहीं पाया और राज्य की बागडोर पूंजीपतियों के हाथ में आ गई।

पर फ्रांस में यह संघर्ष बहुत तीव्र और दीर्घ रहा। वहां हम इस संघर्ष के कारणस्वरूप जो असंगतियां थीं, उन्हें बहुत स्पष्ट रूप में देख सकते हैं। एक बात को ही लीजिए। कल कारखानों से होने वाले उत्पादन का यह एक मुख्य तकाजा है कि कच्चा माल जल्दी-जल्दी देश के हर कोने से, और आवश्यक हो तो देश के बाहर से आता रहे, और जब वह तैयार माल के रूप में परिणत हो जाये, तब वह तीव्र गति से फैल जाये।

पर पूंजीवादी उत्पादन होने पर भी देश पर सामन्तवादियों का राज्य होने के कारण माल की अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी गति में बाधा पड़ती है। सामन्तवादी राज्य-पद्धति में नाम मात्र रूप से एक केन्द्रीय सरकार होने पर भी प्रत्येक इलाके की सरकार भिन्न थी। उसके कानून तथा व्यवहार भी भिन्न थे। सब सामन्त अपने इलाकों में सर्वेसर्वा थे, और मनमानी करते थे। इस कारण देश के एक कोने से दूसरे कोने तक माल जाने में भी कई बार माल रुकता था, जांच होती थी, और मनमाना कर वसूल होता था।

इस कारण राज्य-शक्ति के साथ पूंजीपतियों का संघर्ष हुआ और पूंजीपतियों ने स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व का नारा देकर सारी जनता को अपने साथ कर लिया और सामन्तवादियों के शासन का अन्त हो गया। फ्रांस में यह घटना १७८९ में हुई।

बहुत से देशों में जैसे हमारे देश में जमींदारी उच्छेद का प्रयास इसी ओर एक कदम है।

मजदूर वर्ग की उत्पत्ति इस प्रकार ऐतिहासिक आर्थिक कारणों से एक विशेष सोपान में होती है। हमारे देश में ब्रिटिश शासन के साथ-साथ जब कल कारखाने खुले, तो मजदूर वर्ग के लिए गुंजाइश उत्पन्न हुई, और जैसा कि मजदूर वर्ग का विशेष अधिकार है, वह संस्थाओं में संगठित होने लगा। इन संस्थाओं के कारण मजदूर वर्ग ने एक के बाद एक विजय प्राप्त की है। फिर भी अभी उसे बहुत कुछ काम करना है। जो भी हो इसमें सन्देह नहीं कि भविष्य उसके हाथ में है।

समाचार-पत्र और लोकतन्त्र

अभी-अभी अमेरिका के न्यूयार्क नगर का "**सन**" नामक दैनिक पत्र बन्द हो गया। जब यह पत्र १८३० में शुरू हुआ था तो इसमें केवल चार काम करने वाले थे, और इसमें बहुत थोड़ी पूंजी लगी हुई थी। पर जिस समय यह पत्र बन्द हुआ है, उस समय इसमें बारह सौ कार्यकर्ता थे, और लाखों की पूंजी लगी हुई थी। फिर भी यह नहीं चल सका और इसे बन्द कर देना पड़ा। यदि भारत में ऐसी बात होती, तो इस पर कोई ध्यान ही नहीं देता, पर अमेरिका में इस पर बड़ी आलोचनाएं हुईं और तरह-तरह के सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक, राजनैतिक प्रश्न उठाये गये हैं।

यह बात तो भारत में भी स्पष्ट हो चुकी है कि किसी समाचार-पत्र को चलाना इस युग में पहले से बिल्कुल भिन्न हो गया है। अब से पचास वर्ष पहले के युग में यह सम्भव था कि एक मामूली कम्पोजीटर चिन्तामणि घोष इण्डियन प्रेस का मालिक हो जाय, तथा दो चार सौ की पूंजी से कोई पत्र चलाया जाय। यदि "**अमृतबाजार पत्रिका**" "**हिन्दू**" आदि पुराने पत्रों का इतिहास देखा जाय तो वे बहुत ही मामूली आरम्भ से उत्पन्न हुए, पर इस समय कोई दैनिक यहां तक कि साप्ताहिक या मासिक भी थोड़ी पूंजी से निकालना सम्भव नहीं है। अवश्य हिन्दी में इस समय कई साप्ताहिक पत्र चल रहे हैं, जिनके पीछे बहुत ही थोड़ी पूंजी है, पर इन पत्रों को कोई महत्व प्राप्त नहीं है, महत्व से मेरा मतलब यहां राष्ट्रीय महत्व से है।

न्यूयार्क के "**सन**" पत्र में चार कार्यकर्ता थे, इनमें से एक तो मालिक ही था और कार्यकर्ता भी। यह व्यक्ति एक छोटा-सा जाब प्रेस का मालिक था। दो कम्पोजीटर थे और चौथा व्यक्ति एक रिपोर्टर था। इन चार मूर्तियों के सहयोग से अखबार चला, और खूब धड़ल्ले से चला। अखबार बेचने वाले भी केवल दो ही थे। फिर भी पहले दिन से ही अखबार सफल रहा। इसका कारण यह था कि पहले की जनता सम्वादों के सम्बन्ध में इतनी सजग नहीं थी, और उसकी मांगें बहुत कम थीं। अपने

वृत्त के बाहर कुछ खबरों को लेना ही बहुत बड़ी बात समझी जाती थी। इसके विरुद्ध आज परिस्थिति यह है कि अखबार पढ़ने वाली जनता न केवल अपने देश की ही खबरें जानना चाहती है, बल्कि वह साथ ही साथ सारे जगत् की खबरों को भी जानना चाहती है। केवल यही नहीं, वह राजनीति के अलावा सब तरह की खबरें भी जानना चाहती है। साथ ही साथ अच्छी तस्वीरें भी हों, चुटकुले हों, फैशन तथा खेल आदि के सम्बन्ध में भी कुछ न कुछ रुचिकर सामग्री हो। इन बातों को कहां तक गिनाया जाय। आज का पाठक समाचार-पत्र से सब कुछ चाहता है, और सो भी ताज़ा से ताज़ा। यदि किसी समाचार-पत्र ने किसी दूसरे समाचार-पत्र से पहले कोई महत्वपूर्ण खबर दे दी, और किसी अखबार के पाठक ने यह देख लिया कि दूसरे अखबार का पढ़ने वाला उससे पहले कोई बात जान गया, तो यह निश्चित है कि वह अपने अखबार को छोड़कर दूसरे के ग्राहक बनने की बात सोचेगा। ऐसी अवस्था में वर्तमान युग के अखबारों के परिचालकों को बहुत सजग रहना पड़ता है। सजगता का अर्थ यहां केवल मानसिक सजगता नहीं है, सजगता का यहां पर अर्थ यह है कि उसके प्रत्येक स्थान पर और प्रत्येक क्षेत्र में अधिक से अधिक सजग सम्वाददाता हों, और वे प्राप्त सम्वाद को जल्दी से जल्दी अपने अखबार को हवाई डाक, तार, टेलीफोन जिस भी तरह सम्भव हो पहुँचावें।

कहना न होगा कि इसके लिए बहुत बड़ी पूंजी की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में अब अखबारों का संचालन कुछ मनचले आदर्शवादियों के हाथ की बात नहीं रही कि एक ट्रेडल और चार मित्र लिये, और अखबार चला दिया। अब तो अखबार चलाना उसी प्रकार से एक व्यवसाय है, जिस प्रकार से कपड़ों की मिल या अन्य कारखानों का संचालन है। यही कारण है कि देखते-देखते हमारी आंखों के सामने पुराने ज़माने के सब अखबार लुप्त या अर्द्धलुप्त हो गये, या पूंजीपतियों के हाथों में बिक गये।

आज सारे भारत में विशेषकर हिन्दी के क्षेत्र में बिड़ला, डालमिया, अग्रवाल आदि का जोर है। इनके एक-एक नही; कई-कई अखबार हैं। यद्यपि विश्वमित्र संचालक अग्रवाल स्वयं उस अर्थ में पूंजीपति नही है, जिस अर्थ में बिड़ला या डालमिया हैं, फिर भी अग्रवाल को कई कारणों से विभिन्न पूंजीपतियों का पृष्ठपोषण प्राप्त है।

इस प्रकार पत्रों के क्षेत्र में पूंजीपतियों की जंजीरें बिछ जाने से पत्रों की अभूतपूर्व उन्नति हुई है, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है? उदाहरणार्थ आज के किसी भी हिन्दी पत्र जैसे "**हिन्दुस्तान**", "**जनसत्ता**", "**नवभारत**", "**भारत**" आदि को उठाकर पहले के जमाने के "**भारतमित्र**" या अन्य किसी पत्र के साथ तुलना की जाय, तो यह ज्ञात होगा कि पत्र-संचालन कला ने इस बीच में कितनी उन्नति की है।

पर इसके साथ इसके लिए जो दाम देना पड़ता है, वह भी द्रष्टव्य है।

पहले जब चार आदमी एक हस्तचालित ट्रेडल के इर्द-गिर्द बैठकर एक अखबार निकालते थे, तो वे जो कुछ लिखते थे, वह स्वाभाविक रूप से जनता के मत को व्यक्त करता था क्योंकि ये लोग चौबीसों घंटे जनता में रहते थे, जनता की भाषा बोलते थे, और जनता की तरह सोचते थे। इसलिए उन समाचार-पत्रों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता था कि वे जनता के मत को प्रतिफलित करते थे, पर क्या इन जंजीरों के अन्तर्भुक्त समाचार-पत्रों में व्यक्त मतवादों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है ? न्यूयार्क के "सन" पत्र के बन्द हो जाने पर जो आलोचना चल पड़ी है, उसमें एक बात जो सबसे ज्यादा पूछी जा रही है वह यह है कि "सन" पत्र से सौ वर्ष पहले मालिक को केवल ४० डालर का फायदा रहता था, जबकि आज के समाचार-पत्रों की जंजीरों के मालिकों को प्रतिदिन ४०,००० डालर मुनाफा रहना बहुत मामूली बात है ।

कहना न होगा कि ऐसी अवस्था में न तो अमेरिका में ही और न भारत में ही, अखबारों को जनता के मत का प्रतिपादक या प्रचारक कहा जा सकता है । सन्देह नही कि हमारे सार्वजनिक जीवन के क्षेत्र में यह एक क्रान्तिकारी परिवर्तन है क्योंकि अब तक परम्परागत रूप से यही समझा जाता था और है कि समाचार-पत्र जनता के मत को व्यक्त करते हैं। अवश्य प्रत्येक किस्म के पत्र में अपनी निष्पक्षता के ढोंग को कायम रखने के लिए यदा कदा सम्पादकीय मत के विरुद्ध भी पत्र छापे जाते है । पर जहां सम्पादकीय में पद्धतिगत रूप से संचालकों का मत व्यक्त किया जाता है, वहां विरुद्ध मत को केवल कही कोने में प्रकाशित किया जाता है। आजकल के जल्दी के जमाने में वहुधा उस तरफ लोगों की दृष्टि ही नहीं जाती।

इस प्रकार एक बहुत बड़ा प्रश्न हमारे सामने आता है । वह यह कि यह तो स्वीकृत है कि जैसे दूध, नल का पानी, टेलीफोन का तार आदि हमारे जीवन के अपरिहार्य अंग हो चुके है, उसी प्रकार से समाचारों का मिलना भी हमारे लिए अत्यावश्यक हो गया है। पर समाचार के साथ-साथ हमारे दिमाग में समाचार-पत्रों के संचालक अपने मतो को ठूंसने की चेष्टा क्यों करते है ? क्या ऐसा करने का उन्हें अधिकार है ? और इससे भी बढ़कर बात यह है कि क्या उन्हें ऐसा करने देना चाहिए ? क्या उन्हें इस प्रकार करने देना लोकतन्त्र के लिए खतरनाक नहीं है ?

इस पर बड़ी-बड़ी आलोचनाएं हुई है। यह तो आज सभी पक्ष मानने के लिए बाध्य हुए है कि आज के समाचार-पत्र जनता के मत को उसी हद तक अभिव्यक्त करते हैं; जिस हद तक वह संचालकों या संचालक वर्ग के मत को प्रतिफलित करता है, बाकी बातों में जनता के मत के नाम से संचालक वर्ग का मत प्रचारित होता है। कहना न होगा कि यह परिस्थिति कुछ अच्छी नहीं है, पर इसे दूर कैसे किया जाय ? यह कहा जा रहा है कि यदि पूजीपतियों को अपने मत व्यक्त करने तथा उनका शान्तिपूर्वक प्रचार करने से रोका जाय, तो यह उचित नहीं होगा क्योंकि जैसे जनता को

अपने मत को व्यक्त करने का अधिकार है, वैसे ही लोकतन्त्र में पूंजीपतियों को भी अपने मत व्यक्त करने तथा उन्हें प्रचारित करने का अधिकार है। पर इस बिन्दु को जितना भी खींचा जाय, पूंजीपतियों को यह अधिकार तो किसी भी तरह नहीं हो सकता कि वे अपने मतों को जनता के मत का जामा पहनाकर सामने रखें, या उसका उस रूप में प्रचार करें। इससे तो लोकतन्त्र के नाम पर लोकतन्त्र का हनन ही होता है।

अमेरिका में इस प्रश्न को यों उठाया गया है। हमारे घरों में गैस, बिजली, टेलीफोन, घर की मरम्मत आदि के सिलसिले में बिजलीवाले, गैसवाले, राज ये सब आते रहते हैं। यदि ये लोग अपनी सेवाएं देते समय हमें राजनीति के सम्बन्ध में उपदेश देना शुरू करें, याने यह बतावें कि हमें किसे वोट देना चाहिए, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में हमें क्या सोचना चाहिए, तो इसे हम कभी बरदाश्त न करेंगे। फिर इस बात को बरदाश्त क्यों करेंगे कि जो खबरें हमें दी जायं, और यह पहले ही बताया जा चुका है कि खबरें हमारे लिए उसी प्रकार की आवश्यकता की वस्तु हो गई हैं, जैसे गैस, बिजली, दूध इत्यादि हैं; उनके साथ-साथ हमारे दिमाग में संचालकों के विचार क्यों ठूंसे जायँ? यह तो एक बहुत उचित प्रश्न हुआ, पर म्याऊँ का ठौर इस बात पर आ जाता है कि संचालकगण फिर अखबार चलायें ही क्यों?

यह तो एक सुपरिचित बात है कि कम से कम भारत में समाचार-पत्र व्यवसाय उतना मुनाफा देने में समर्थ नहीं है जितना कि दूसरे व्यवसाय से मुनाफा रहता है। कई बार तो समाचार-पत्र घाटा सहकर निकाले जाते हैं। घाटा सहकर भी ये पत्र इसी कारण निकाले जाते है कि इस जनयुग में जनता को साथ में लेकर चलना सबका अभिप्राय है। इसी उद्देश्य से पूंजीपतियों की तरफ से अखबारों की बड़ी-बड़ी जंजीरें खरीदी और बनाई जाती हैं। यह इतना खुला खेल है कि इसमें कोई दुराव छिपाव नहीं है। सब लोग यही दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि जो विचार उनके स्वार्थ के लिए अच्छा है, सब लोग उसी विचार का पोषण करें। जहां वोटों से सब बातों का निर्णय होता है, वहां इस प्रकार का प्रचार कार्य एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। और लोग इन उपायों से जनमत को नियन्त्रित करने में समर्थ भी हो जाते हैं। हमारा देश तो बहुत पिछड़ा हुआ है, पर जर्मनी ऐसे आगे बढ़े हुए देश में जहां एक से एक कलाकार और साहित्यकार यहां तक कि साक्षात् कार्ल मार्क्स पैदा हुए थे, वहां हिटलर जनता के वोट के बूते पर शासन-शक्ति पर आरूढ़ हुआ था। इसलिए केवल यह कहकर शुतुरमुर्ग वृत्ति धारण करके ऐसी तसल्ली कर लेने का कोई अर्थ नहीं होता कि अखबारों में सब तरह के मत छपते रहते है, और जनता को अपने स्वार्थ की बात समझाने में और उसके अनुसार वोट आदि देने में दिक्कत नहीं होती।

इन बातों से यह स्पष्ट है कि अखबारों की इन जंजीरों से लोकतन्त्र को बड़ा खतरा हो सकता है। इस खतरे को दूर करने के लिए क्या करना चाहिए

यह एक बड़ा भारी प्रश्न है। जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, इस खतरे से सब लोग परिचित नही हैं। इसीलिए खतरा और भी बड़ा है। केवल अखबारों की इन जंजीरों से ही नही; बल्कि जहां इक्के-दुक्के अखबार भी चल रहे हैं, वे भी कहां तक जन-मत को व्यक्त कर सकते हैं इसमें सन्देह है; क्योंकि छोटे पूंजीपतियों के स्वार्थ भी आधारभूत रूप से अखबार की जंजीर के परिचालकों से भिन्न नहीं हैं।

ऐसी अवस्था में जनता को अधिक से अधिक अन्य प्रकाशनों की ओर ध्यान देना पड़ेगा। साधारण समाचार-पत्र के पाठक के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह सभी मत तथा दल वालों के विचार तथा पत्र पढ़े। किसी उचित राय पर पहुँचने के लिए यह एक अच्छा तरीका है। पर साथ ही यह उपाय सबके लिए सुलभ नहीं है। हिन्दी में अब भी मासिक पत्रिकाओं की ओर जंजीर वालों का ध्यान नहीं गया है, पर यह आशंका करना अनुचित न होगा कि वे जल्दी ही इस ओर भी तेजी से कदम बढ़ायेंगे। तब तक एक हद तक मासिक पत्रिकाओं पर भरोसा किया जा सकता है। जाने हुए स्वतन्त्र विचार के लेखकों की पुस्तकें भी इस सम्बन्ध में काम दे सकती हैं। पर इस ओर सबसे बड़ा कदम यह होगा कि जनता के मन में यह बात पक्के तौर पर जम जानी चाहिए कि जो कुछ छप गया यहां तक कि जो कुछ खबर के रूप में छपता है, वह न तो अन्तिम मत है और न अन्तिम खबर। समाचार-पत्रों को अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करने वाले लोग इस बात को जानते हैं कि झूठी खबरें देना या खबरों का रंग बदल कर देना सब से सरल और कारगर तरीका है। इसलिए कई बार कल्पित स्थान से कल्पित सम्वाददाता की ओर से भेजी हुई, 'भीतर की खबरें' छापी जाती हैं।

मुझे डर है कि वर्तमान रूप में जिस प्रकार से समाचार-पत्र निकाले जाते हैं, और अब उसकी जो टैकनीक हो गई है, जिसमें सैकड़ों के स्टाफ और लाखों की पूंजी लगती है, उसमें जनता के सब स्वार्थों की रक्षा कठिन है। यह कहना कि हम फिर छोटे-छोटे स्वतन्त्र पत्रों के युग में लौट जायँ, एक प्रतिक्रियावादी नारा होगा, इसके अलावा यह अव्यवहारिक भी होगा। जो संस्थाएं या वस्तुएं सामाजिक आर्थिक कारणों से मर चुकी हैं, उन्हें उसी रूप में पुनरुज्जीवित करने का स्वप्न व्यर्थ है। ऐसा तो हो नही सकता। इस समस्या का समाधान पीछे हटकर नहीं, बल्कि आगे बढ़कर ही होगा।

अब जन-नेताओं को तथा सारी जनता को इस सम्बन्ध में एक बात को मानकर आगे चलना पड़ेगा, वह यह कि किसी भी अवस्था में हमारे समाचार-पत्रों को जनमत का प्रतिपादक या प्रतिफलक नहीं माना जा सकता। जन नेताओं को जनता के सही मत जानने के लिए इसके अतिरिक्त अन्य साधनों का उपयोग करना पड़ेगा, और जनता को भी अपनी आवाजों को अन्य जरियों से बुलन्द करना पड़ेगा।

संस्कृति की धारा का भ्रष्टीकरण

इतिहास का मिथ्यीकरण

हमेशा से यह सैद्धान्तिक रूप से माना गया है कि इतिहास सत्य को लेकर चलता है, पर हमेशा से इतिहास को शासक वर्ग ने झुठलाने का प्रयत्न किया है, और किसी-किसी क्षेत्र में तो उन्हें इतनी सफलता मिली है कि सत्य का पता लगाना ही असम्भव है। हमारे स्थितप्रज्ञ ऋषि मुनि इस सम्बन्ध में जो कमाल कर गये हैं, वह हिटलर मार्का नार्डिक नस्ल की प्रधानता सिद्धान्तवादी वैज्ञानिकों को लज्जित कर सकता है। नार्डिक नस्ल की प्रधानता के हिटलरी प्रतिपादक केवल इतना ही मानते थे कि नार्डिक जाति सब जातियों से श्रेष्ठ है, इस कारण उसके शासन में ही सबकी भलाई है, पर हमारे त्रिकालदर्शी ऋषियों ने अपनी विरोधी जातियों को राक्षस, दैत्य आदि की पदवी देकर उन्हें मनुष्य योनि से ही खारिज कर दिया।

राम को जो हिन्दुओं ने अवतार करके माना है, वह एक साम्राज्य-निर्माता के नाते है। यह भक्ति उसी प्रकार की है, जिस प्रकार ब्रिटिश जाति के लोग क्लाइव या वारेन हेस्टिंग्ज़ में भक्ति रखते हैं। अवश्य प्रथम क्षेत्र में वीरपूजा के साथ-साथ जटिल कथित आध्यात्मिक तत्व जुड़ गये, यदि एकाध स्त्री के हरण या यज्ञ में विघ्न का बहाना न होता तो आर्यगण अनार्यों के देशों पर कब्जा कैसे जमाते जाते। आर्यों ने सारे भारतवर्ष को जो जीता तो वह स्त्रीहरण के बहाने से नहीं जीता। भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न कारण बतलाये गये; कभी यह बहाना लेकर अनार्यों पर हमला कर दिया गया कि वे ऋषियों पर अत्याचार करते हैं, या यज्ञ में विघ्न पहुँचाते हैं, कभी यह बहाना लिया गया कि आर्य स्त्रियों के साथ अनार्यों ने ज्यादती की, किन्तु असली कारण साम्राज्य की इच्छा बल्कि नई जमीनों की भूख थी। इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य यह है कि यज्ञ में विघ्नवाला बहाना चीन

में चीनियों द्वारा पादरियों पर होने वाले कथित अत्याचार के बहाने से कोई अच्छा बहाना नहीं था, और न स्त्रीहरण वाला बहाना उस बहाने से अच्छा था जिसकी आड़ लेकर अमेरिका के श्वेतांगगण वहां के हब्शियों को लिंच करते हैं।

पर इतिहास पर इस प्रकार रंग चढाते रहने पर भी अब पता लगा है कि जिन अनार्यों पर आर्यों ने विजय पाई, वे कई मामलों में आर्यों से कृषि, समाज, व्यवस्था आदि सभ्यता के जो अंग होते हैं, अधिक उन्नत थे। फिर भी वे हार गये इसका कारण मुख्यतः यह था कि शान्ति में रहने के कारण वे कुछ सुस्त हो गये थे। जो भी हो यहां विषय यह नहीं है कि अनार्य क्यों हारे ! इतिहास में ऐसा बार-बार हुआ है कि सभ्यतर जातियां असभ्य या अपेक्षाकृत कम सभ्य आक्रमण-कारियों के सामने हार गये। यहां तो हम केवल इतिहास को झुठलाने के प्रयत्नों के सम्बन्ध में विचार कर रहे हैं। अस्तु।

हमारी आंखों के सामने जो ऐतिहासिक घटनाएं हुई, हम उनके लिपि-बद्ध करने में इतिहास को झुठलाने के प्रयत्न स्पष्ट देख सकते हैं। भारत अभी-अभी स्वतन्त्र हुआ। अभी तक हजारों ही नही लाखों व्यक्ति ऐसे मौजूद हैं जिन्होंने अपने-अपने ढंग से गत पचास सालों में इसमें हाथ बटाया। फिर भी भारत कैसे स्वतन्त्र हुआ, किन लोगों ने भारत को स्वतन्त्र किया, इस सम्बन्ध में, हमारी आंख के सामने अपने-अपने स्वार्थ के अनुसार इतिहास-लेखन जारी है।

इसमें से एक सिद्धान्त तो यह है जिसमें यह प्रतिपादित किया जाता है, कि ब्रिटेन विशेषकर उसकी लेबर पार्टी की उदारता के कारण ही भारत को स्वतन्त्रता मिली। ब्रिटिश लेखक इसी मत का प्रतिपादन कर रहे हैं। यदि इस प्रकार के मतवाद का विश्लेषण किया जाय तो बड़ी मजेदार बात यह निकलेगी कि जब तक अंग्रेजों ने यहां राज्य किया, उन्होंने श्वेत जाति के बोझे को उठाने के लिए तथा पिछड़ी जातियों में रोशनी लाने के उद्देश्य से किया, और जब वे भारत छोड़ गये, तो वह उदारता के कारण किया। कितना सुन्दर मूर्खों का स्वर्ग है। हम भारतीयों को यह सिद्धान्त कितना भी हास्यास्पद लगे, पर ब्रिटिश लेखक ऐसा लिखते रहेंगे, और सभी साम्राज्यवादी इस में विश्वास करेंगे।

हमें तो ताज्जुब हुआ कि अन्य मामलों में बहुत उदार ब्रिटेन के 'न्यू स्टेट्समैन ऐन्ड नेशन" नामक पत्र ने सम्पादकीय रूप से लिखते हुए बार-बार इस उदारता की दुहाई दी है, और इसे एक गौरवमण्डित रूप देने का प्रयत्न किया है। इन आंख के अन्धे लोगों से यह पूछा जाय कि महाशय ब्रिटिश लेबर पार्टी बड़ी उदार है, उसने भारत को स्वराज्य दिया, बर्मा को स्वराज्य दिया फिर वह मलय के रबर बागानों में क्यों उलझी रही, अफ्रीका से हाथ क्यों नही खींचती, साइप्रस वासियों की बार-बार प्रकट की हुई इच्छा के बावजूद उन्हें ग्रीस में मिलने क्यों नहीं देती, माल्टा को स्वतन्त्रता क्यों नहीं देती, इत्यादि ? साथ ही साथ यह भी

प्रश्न उठता है कि भारत पर उसने इतनी उदारता की तो साथ ही उसे दो टुकडों में बांटकर ऐसा क्यों बना गई कि दोनों टुकड़े मुश्किल से अपने पैरों पर खड़े हो सकें ? पर मै इन प्रश्नों को न पूछूंगा।

रहा यह कि ब्रिटेन भारत को क्यों छोड गया, यह तो बाद को इसी लेख में खुलेगा। पर इतना तो स्पष्ट है कि ब्रिटेन की लेबर पार्टी ने जो भारत छोड़ा, वह स्वतन्त्रता के उदात्त सिद्धान्तों को बल पहुँचाने के उदार उद्देश्य से नहीं था।

भारत कैसे स्वतन्त्र हुआ इस सम्बन्ध में दूसरा सिद्धान्त यह है कि गांधी जी तथा उनके शिष्यों ने भारत को स्वतन्त्र किया। यह सिद्धान्त सर्वमान्य-सा हो चुका है, क्योंकि हर तरीके से इसका प्रचार वर्षों से हो रहा है, और चूंकि प्रचार के सारे साधन करीब-करीब ऐसे लोगों के हाथ में है, इस कारण इनकी ही तूती बोलती है।

पर सत्य क्या है ? इसके निर्णय के लिए हमें कुछ ब्यौरे में जाना पड़ेगा। १९४२ की क्रान्ति तथा उससे मुक्त क्रान्तिकारी शक्तियों को ही स्वतन्त्रता प्राप्ति का कारण बताया जाता है, याने यह कहा जाता है कि गांधी जी तथा गांधीवादियों ने ही १९४२ के आन्दोलन का संचालन किया, और इसके फलस्वरूप भारत स्वतन्त्र हुआ। दूसरे शब्दों में गांधी जी तथा गाधीवादियों द्वारा भारत के स्वतन्त्र किये जाने का एक मात्र प्रमाग यह है कि गांधी जी ने ही १९४२ का आन्दोलन चलाया, और उसी के फलस्वरूप भारत स्वतन्त्र हुआ।

पर १९४२ की परिस्थितियों के विश्लेषण से कुछ और ही ज्ञात होता है। वैयक्तिक सत्याग्रह ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर किसी प्रकार का असर उत्पन्न करने में असमर्थ रहा। गांधी जी अपने तजुर्बो से यह समझ चुके थे कि १९२१, १९३० १९३२ आदि में उन्होंने जिस प्रकार के आन्दोलन चलाये थे, उनसे ब्रिटिश सरकार पर कोई असर नही हो सकता था, इसलिए वे गोल-मोल शब्दों में दूसरे प्रकार के आन्दोलन की बातचीत करने लगे। उनकी सारी राजनीति ही दबावमूलक थी। गोल-मोल शब्दों में इस प्रकार आगामी आन्दोलन के सम्बन्ध में बातचीत करना इस राजनीति से विपरीत नही था। क्रान्ति करना इस राजनीति के दायरे के बाहर था, पर उसकी बातें करना नहीं।

इन परिस्थितियों में अगस्त प्रस्ताव पास हुआ और एक आतंकग्रस्त, ह्रास-शील, मुमूर्षु, सिसकते हुए साम्राज्यवाद ने नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। क्रान्ति की पिस्तौल का घोड़ा सरकार के सिर पर खीचते-खीचते सब तरह के प्रचार कार्य से इतना पीछे तक खीचा गया था कि आगे नहीं खींचा जा सकता था। जब तक यह घोड़ा गांधी के हाथों में था, तब तक खिलौने की पिस्तौल के घोड़े की तरह यह निरापद था। सचमुच अहिंसा गांधी जी के नथुनों का प्राणवायु था। वे अपने शत्रु के हृदय को परिवर्तित करने के लिए उसके सिर पर क्रांति की पिस्तौल, खिलौनेवाली

नहीं सचमुच पिस्तौल पकड़े हुए थे। उन्होंने इसका घोड़ा भी खींच रखा था, पर उनका यह इरादा कदापि नहीं था कि इस खींचे हुए घोड़े को किसी भी हालत में छोड़ा जाय। नहीं कभी नहीं। जाल बहुत बढ़िया तरीके से डाला गया था, इतना बढ़िया तरीके से कि सरकार समझ ही न पाई कि मामला कहां तक क्या है। नतीजा यह हुआ कि सरकार ने उसी व्यक्ति को गिरफ्तार कर लिया जिसके हाथों में भारतीय बारूदखाने से बनी पिस्तौल का घोड़ा था। इसका वही फल हुआ जो हो सकता था, हाथ खींच लिये जाने पर घोड़ा धमाके से गिर पड़ा फिर तो वज्र विस्फोट होकर रहा। यों ही सरदार पटेल ने १९४६ की जनवरी के एक व्याख्यान में यही कहा था कि गांधी जी क्रान्ति के विरुद्ध एक (Bulwark) या दीवार हैं। पर परिस्थितियों के अजीब षड्यन्त्र ने क्रान्ति के विरुद्ध इस दीवार को सरकार ने गिरफ्तार कर कार्यक्षेत्र से उठा लिया। स्मरण रहे कि सरकार भी क्रान्ति नहीं चाहती थी। पर उसी के इस कार्य का परिणाम यह हुआ कि एक भयंकर पर अप्रस्तुत क्रान्ति हुई।

इस प्रकार इतिहास की शक्तियां गांधी जी और सरकार की इच्छा के विरुद्ध काम कर गईं। गांधी जी इस क्रान्ति को नहीं चाहते थे, जिसने एक ही घड़ी में उनकी वर्षों की इकट्ठी अहिंसा की पूंजी को उड़ा दिया। सरकार भी क्रान्ति नहीं चाहती थी, पर क्रान्ति को रोकने की दानवीय शक्ति को जल्दी में इसने गांधी जी के हाथों को जबरदस्ती घोड़े पर से खींच लिया, नतीजा यह हुआ कि क्रान्ति हुई।

इतिहास कई बार नेताओं तथा सरकारों को उल्लू बनाकर नचा देता है। यह मौका ऐसा ही था जब इतिहास ने ऐसा ही किया था। न तो गांधी जी इस क्रान्ति को चाहते थे, न सरकार, पर इतिहास के व्यंग के कारण—कोई रहस्यपूर्ण बात नहीं—जैसा कि हम देख चुके हैं, गांधी जी और सरकार ने मानो षड्यन्त्र कर इस क्रान्ति को जन्म दिया।

१९४२ के ९ अगस्त की गिरफ्तारियों से जनता के ऊपर जो रोकथाम वाले प्रभाव थे, उनके हटते ही उसने क्रान्तिकारी जोश तथा शौर्य की पराकाष्ठा का परिचय दिया। जन-कर्मशक्ति की आग के ऐसे सोते जो लोकचक्षु के अन्तराल में शायद कुछ अलख जगाने वाले क्रान्तिकारियों के द्वारा सेवित होकर सुलग रहे थे, एकाएक दिग्दिगन्तव्यापी ज्वाला में भड़क उठे और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिए एक विराट चिता के रूप में दृष्टिगोचर हुआ। जो आंधी शायद पर्दे के पीछे एकत्र होकर शक्ति संचय कर रही थी, वह एकदम हहरा कर दौड़ पड़ी। भारतीय इतिहास में ऐसा कभी नहीं हुआ था।

तो जहां तक १९४२ की क्रान्ति थी, उसका विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि वह जिस प्रकार घटित हुई, वह सम्पूर्ण रूप से गांधीवादी नेतृत्व की इच्छा के विरुद्ध हुई। और गांधी जी ने छूटकर इस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त

भी किया। कुछ अन्य नेताओं ने छूटकर जोशीले शब्दों में १९४२ की क्रान्ति का स्वागत किया, पर उसके वैयक्तिक कार्यों की निन्दा की, जो एक बहुत ही हास्यास्पद बात थी, क्योंकि इन्हीं वैयक्तिक कार्यों के बिन्दुओं से क्रान्ति का सिन्धु बना था, और एक को ग्रहण कर दूसरे का त्याग करना असम्भव है। इस सम्बन्ध में पाठकों को ज्ञात होगा कि कुछ नेताओं ने इस बार छूटते ही यह नारा दिया था कि १९४२ की, क्रान्ति का इतिहास कांग्रेस की ओर से तैयार हो, पर जब मसाला इकट्ठा हुआ तो उसे देखकर इस प्रस्ताव को भुला दिया गया। क्या किसी ने कभी सोचा है कि ऐसा क्यों किया गया ? ऐसा इस कारण किया गया कि १९४२ के तथ्यों के प्रकाशन से इतिहास के झुठलाने में बाधा पड़ती थी।

१९४२ की क्रान्ति से जो शक्तियां मुक्त हुई, और सभ्यताभिमानी ब्रिटिश सरकार की ओर से जिस प्रकार जनता का दमन हुआ, उनसे भारत से ब्रिटिश सत्ता बुरी तरह हिल गई, पर अभी तक सरकार अपनी फौजों पर विश्वास कर सकती थी, और जब तक फौजें ब्रिटिश सरकार के प्रति विश्वस्त थीं, तब तक ब्रिटेन के भारत त्याग की आवश्यकता नहीं थी। सौभाग्य से इन्हीं दिनों सुभाष बाबू के द्वारा संगठित आजाद हिन्द फौज की सच्ची खबरें देश में आने लगीं।

आजाद हिन्द फौज केवल भारतीय स्वतन्त्रता के लिए एक गौरवमय चेष्टा ही नहीं थी बल्कि इसने बाद की भारतीय राजनीति पर बहुत कुछ गहरे प्रभाव डाले हैं। इसने भारत में एक नवीन क्रान्तिकारी धारा को जन्म दिया है।

आजाद हिन्द फौज की प्रशंसा के कारण ब्रिटिश भारतीय फौज में जिन भयंकर विस्फोटों का सूत्रपात हुआ और बराबर होता रहा है, उनके कारण ब्रिटिश साम्राज्यवाद का भारत से पैर उखड़ने में बहुत सहायता मिली है। सच कहा जाय तो सरकार को फौज में विश्वास नहीं रह गया। इसी कारण उसे बाद को अपने मुंह से भारत छोड़ने की एक निश्चित तारीख तय करनी पड़ी।

देश की परिस्थिति बहुत क्रान्तिकारी हो गई। १८ फरवरी को नौसैनिक विद्रोह हुआ, और १९ को एटली की तरफ से घोषणा हुई कि मंत्री मिशन भारत जा रहा है। यद्यपि इसके बाद भी कई सोपान हुए, पर ब्रिटिश सरकार की आंख के सामने यह तथ्य रहा कि अब वह भारतीय फौजों पर विश्वास नहीं रख सकती। कहना न होगा कि शेषोक्त परिस्थिति आजाद हिन्द फौज के बहादुर सिपाहियों के कारण उत्पन्न हुई थी।

इस प्रकार की परिस्थितियों से मजबूर होकर ब्रिटिश सरकार ने अपने भविष्य लाभ को देखते हुए न कि उदारता के कारण कांग्रेस और लीग को शक्ति दे दी। तथ्य तो यही है, अब ब्रिटिश लेखक किस प्रकार इतिहास को झुठला रहे हैं, वह हम बता चुके।

ब्रिटिश सरकार ने गांधी जी के हाथों में शक्ति दे दी, इस तथ्य को इस

साध्य का प्रधान प्रमाण बनाया गया कि केवल गांधीवादियों ने भारत को स्वराज्य दिलाया। इस प्रकार के दावे वाले यह भूल जाते हैं कि इस तरह गांधी जी इस सम्बन्ध में जिन्ना साहब की श्रेणी में आ जाते हैं। और जिन्ना साहब के सम्बन्ध में जो कुछ भी दावे किये जायं यह नहीं कहा जा सकता कि वे कोई क्रान्तिकारी थे। जो कुछ भी हो, दिये हुए तथ्यों से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया कि और चाहे कुछ भी हो भारत अहिंसा से स्वतन्त्र नहीं हुआ। प्रबल जन-शक्ति के साथ-साथ थोड़ी क्रान्ति तथा उसका दबाव मानो भविष्य में उग्र होकर हाथ से निकल जाने का काम कर गया। इस सम्बन्ध में स्मरण रहे कि क्रान्ति को खुलकर होने से रोका गया, और पारस्परिक लाभ के लिए जल्दी समझौता हो गया। क्यों और कैसे यह इस लेख का विचार्य नहीं।

हम जानते हैं कि इतिहास को झुठलाने का प्रयत्न अब मुश्किल से सफल हो सकता है, पर इसमें तो सन्देह नहीं कि इस धींगाधींगी के कारण अति आधुनिक इतिहास की कई घटनाएँ भुला दी जा रही हैं। हम तो यह समझते हैं कि १८५७ बल्कि उसके पहले से स्वतन्त्रता संग्राम जारी है, और धार्मिक पुनरुज्जीवनवादी क्रान्तिकारी जैसे चाफेकर से लेकर कट्टर साम्यवादी तक सब ने इसमें भाग लिया। गांधी जी की सेवाएँ महान् हैं। पर इस कारण इस दावे को कोई महत्व नहीं दिया जा सकता कि भारत उनके तरीकों से स्वतन्त्र हुआ। ऐसा दावा करना १९४२ की क्रान्तिकारी जनता (जो बदकर उनके तरीकों के विरुद्ध चली) तथा आजाद हिन्द फौज के वीर सिपाहियों के साथ अन्याय होगा। फिर उन क्रान्तिकारियों को कैसे भुलाया जा सकता है जिन्होंने उस युग में क्रान्ति के लिये प्रयत्न किये, जब कांग्रेस की वार्षिक बैठकों में भारतीयों के लिये अधिकाधिक नौकरी की मांग रखना ही राजनैतिक ज्ञान की पराकाष्ठा समझी जाती थी? हमने अपनी पुस्तक 'भारत में सशस्त्र क्रान्ति चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास' में यह दिखाया है कि वे क्रान्तिकारी न केवल त्याग में आदर्श थे, बल्कि स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारधारा और उसके विकसित रूप में वे अन्य लोगों के अग्रणी थे। क्रान्तिकारियों पर उपन्यास आदि लिखने की परिपाटी तो बहुत है, हाल ही में जैनेन्द्र, उदयशंकर, रहबर, बलभद्र ठाकुर आदि छोटे बड़े कितने ही लेखकों ने रोमांस के इस अनन्त भंडार से काम लिया है, पर क्या वे ऊपर उठाये हुए आधारभूत प्रश्नों पर ध्यान देंगे?

पुनरपि प्रगतिवाद

कल्पना के जून अंक में डा० श्री आर्येन्द्र शर्मा ने प्रगतिवाद के विरोधियों के मत का और स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है, एक बात यह स्पष्ट है कि अब तक जो वाद-विवाद हुआ है, उससे कुछ बातों का स्पष्टीकरण हो गया है। इस दृष्टि से देखा जाय,तो यह वादविवाद बहुत महत्वपूर्ण रहा। डा० शर्मा इस बात को मानने के लिए बाध्य हैं कि प्रगतिवादी साहित्य भी महत्व का साहित्य हो सकता है। उनके शब्दों में "मैं उत्कृष्ट कोटि की प्रगतिवादी रचना को भी उतना ही महत्व देता हूं, जितना रहस्यवादी रचना को।" साथ ही वे यह मानते हैं कि "अवश्य ही समाज के लिए हानिकारक साहित्य और कला का बहिष्कार होना चाहिये।"

पर यह सब मानते हुए भी वे साहित्य के रेजिमेन्टेशन के विरुद्ध बहुत नाराजगी जाहिर करते हैं। यहां एक बात का स्पष्टीकरण कर लेना आवश्यक है। वह यह कि रेजिमेन्टेशन शब्द का इस प्रसंग में क्या अर्थ है। यदि रेजिमेन्टेशन शब्द का अर्थ बल-पूर्वक या बेजा प्रभाव डाल कर साहित्यकारों को एक विशेष मार्ग में ले जाने की बात है, तो मैं उसका विरोध करता हूं। मैं भाषाशास्त्री नहीं हूं, पर यह अनुभव करता हूं कि रेजिमेन्टेशन शब्द का यही अर्थ लिया जाता है, और इसी अर्थ के कारण साहित्यकारों का रेजिमेन्टेशन बुरा समझा जाता है। पर मुझे डर है कि इस शब्द की आड़ लेकर कई लोग कला और साहित्य के क्षेत्र में अनाचार, अत्याचार और स्वेच्छाचार का झंडा बुलन्द करना चाहते हैं। शब्दों की विशेष व्यंजनाओं की आड़ लेकर विचारों के क्षेत्र में धूम्रयवनिका उत्पन्न कर उसकी आड़ में अपना, अपने जान अथवा अनजान में शोषकों का उल्लू सीधा करना अच्छी कूटनीति हो सकती है, और एक हद तक इस प्रकार की बौद्धिक कलाबाजी की प्रशंसा भी की जा सकती है क्योंकि कलाबाजी यदि कला नहीं है, तो उसमें कौशल तो है, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि इस प्रकार के हथकंडों से विचारों का स्पष्टीकरण नहीं होता। विचारों के स्पष्टीकरण के लिए यह आवश्यक है

कि शब्दों की आड़ न लेकर स्पष्ट परिभाषा करने के अनन्तर अग्रसर हुआ जाय।

साहित्य के साथ या साहित्यकारों के साथ जबर्दस्ती नहीं करनी चाहिये, इस बात को डा० शर्मा भी जितना मानते हैं, उतना ही मैं भी मानता हूं। पर यहां एक शब्द आ गया जबर्दस्ती। क्या जबर्दस्ती है और क्या नहीं, इस सम्बन्ध में बड़े मतभेद की गुंजाइश है। क्या साहित्यकारों को इस बात के लिये आह्वान करना कि वे ऐसे साहित्य का निर्माण करें, जो हमारे समाज और राष्ट्र को और अंततोगत्वा मनुष्य जाति को शोषणहीन समाज की तरफ ले जाय, जबर्दस्ती या रेजिमेन्टेशन है? डा० शर्मा के उस मत को मैं पहले ही उद्धृत कर चुका हूं कि समाज के लिए हानिकारक कला और साहित्य का बहिष्कार होना चाहिये। क्या यह बहिष्कार जबर्दस्ती या रेजिमेन्टेशन है? मैं समझता हूं कि यदि मैं यह मान लूं कि डा० शर्मा के मतानुसार भी इस प्रकार का बहिष्कार जबर्दस्ती या रेजिमेन्टेशन नही है, तो मैं उनके साथ कोई ज्यादती नही कर रहा हूं।

यहां फिर एक नये शब्द से पाला पड़ रहा है। वह शब्द है बहिष्कार। इस बहिष्कार का क्या रूप होगा? एक रूप तो यह हो सकता है कि जिसकी समझ में आये, वह उस पुस्तक को न तो पढ़े और न खरीदे। पर यहां हम एक असंगति के शिकार हो जाते हैं, वह यह कि जब तक मैं एक पुस्तक को पढ़ूंगा नहीं, तब तक मैं जानूंगा कैसे कि यह पुस्तक बहिष्कार के योग्य है, और यदि हमने पुस्तक पढ़ ली, और उसके सम्बन्ध में मेरे मन में यह प्रतिक्रिया हुई कि यह पुस्तक बहिष्कार के योग्य है, तो जहां तक मेरा अपना सम्बन्ध है, इस बहिष्कार भावना का कोई अर्थ नहीं होता क्योंकि मैं तो उस पुस्तक को पढ़ चुका। यदि यह कहा जाय कि मेरे पढ़ने के बाद मैं दूसरे लोगों से कहूं कि वे इस पुस्तक को न पढ़ें या न खरीदें, अथवा पढ़ें भी नही खरीदें भी नहीं, तो क्या उन लोगों के साथ जबर्दस्ती या रेजिमेन्टेशन नही होगा?

इस प्रश्न के दो ही उत्तर हो सकते है, एक तो हां और दूसरा नही। अब हम इन दोनों उत्तरों में से एक-एक की अलग-अलग जांच करें। पहले उस उत्तर को लिया जाय, जिस के अनुसार दूसरों पर अपना मत लादना ही नही, दूसरों को अपना मत देना, और उन्हें उस पर कार्य करने के लिए आह्वान करना ही रेजिमेन्टेशन है। पहले ही मैं यह निवेदन कर चुका कि उस हालत में बहिष्कार का कोई अर्थ ही नही होगा क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उस पुस्तक को पढ़ेगा, तब वह निर्णय करेगा कि अमुक पुस्तक का बहिष्कार किया जाय। मैं समझता हूं कि यह बात इस हद तक सिद्ध हो चुकी है तथा इस परिस्थिति की हास्यास्पदता इतनी स्पष्ट हो चुकी है कि इस सम्बन्ध में और विस्तार में जाने की आवश्यकता नही है।

अब रही वह परिस्थिति जिसके अनुसार कुछ लोगों के मत लेकर पुस्तक का बहिष्कार किया जाय या न किया जाय, यह निर्णय किया जा सकेगा। पर फौरन ही प्रश्न उठेगा कि ये कुछ लोग कौन होंगे? अवश्य ही ये कुछ लोग वे नहीं होंगे, जो विचाराधीन पुस्तक के लेखक हैं। याने यह एक तरह का सेंसर बोर्ड होगा। यह सेंसर बोर्ड सरकारी भी हो

सकता है, और गैर सरकारी भी। यदि जनता की सरकार है तो सरकारी बोर्ड होने पर भी वह प्रकारान्तर से जनता का बोर्ड ही होगा। यदि इस बोर्ड ने (सरकारी अथवा गैर सरकारी) किसी कलाकृति या पुस्तक को समाज के लिये हानिकारक पाया, तो वह एक तो केवल वक्तव्य प्रकाशित कर चुप हो सकता है, और दूसरा यह कर सकता है कि उस कृति या पुस्तक को प्रचार से हटा ले, दूसरे शब्दों में उसे जब्त कर ले। यदि जनता का बोर्ड है, और पुस्तक या कलाकृति समाज के लिये हानिकारक करार दी जाती है, तो क्या उसे जब्त कर लेना रेजिमेन्टेशन होगा ?

कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति यह मान लेगा कि समाज के लिये हानिकारक पुस्तक का वास्तविक रूप से सार्वजनिक बहिष्कार या दूसरे शब्दों में जब्ती होनी चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि डा० शर्मा के दिये हुए सूत्र का तार्किक अनुसरण करते हुए हम सेंसर बोर्ड यहां तक कि जब्ती तक पहुंच जाते हैं। इसी तर्क से यह भी तर्क बहुत ही स्वाभाविक रूप से निकलता है कि यदि समाज के लिये हानिकारक साहित्य का बहिष्करण न्यायसंगत और उचित है, तो समाज के लिये विशेष रूप से लाभजनक साहित्य का पुरस्करण तथा आदर भी उचित है। अब इस पुरस्करण का रूप क्या होगा, लेखक को नोबुल पुरस्कार दिया जाय या स्टालिन पुरस्कार दिया जाय या मंगलाप्रसाद पारितोषिक दिया जाय, यह ब्यौरे का विषय है, और इस सम्बन्ध में नामों को लेकर तब तक मतभेद मे कुछ विशेष धरा नहीं है, जब तक कि पुरस्कार का उद्देश्य समाज-हितकर साहित्य को बढ़ावा देना है। असली बात केवल इतनी ही है कि जिस साहित्य को बढ़ावा दिया जा रहा है, वह समाज हितकर है, और उससे समाज का कल्याण अपेक्षित है।

मैंने बहुत ही सावधानी के साथ अपने को डा० शर्मा के सूत्र तक सीमित रखा है, पर उसके विश्लेषण और तार्किक अनुसरण से जो बातें निकल कर सामने आती हैं, वे उनके लिये आह्लादकारक नहीं हो सकती है। यदि मेरी बात गुस्ताखी न समझी जाय, तो मैं यह निवेदन करना चाहूंगा कि जो लोग साहित्य, कला या जीवन में प्रगतिवाद को अपना माध्यम बनाये हुए है, वे इससे अधिक और कुछ भी तो नहीं चाहते।

यहां पर मैं यह चेतावनी देना चाहूंगा कि जो भी व्यक्ति किसी भी तरह यह मानता है कि साहित्य या कला पर बहिष्कार आदि के रूप में किसी भी तरह की रोक एक परिस्थिति विशेष में हो सकती है, उसे प्रगतिवादी विचारधारा में वर्णित परिस्थिति को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

मैं तसल्ली के तौर पर तो नहीं, यों ही प्रगतिवादविरोधी विद्वानों को यह सुझाना चाहूंगा कि यदि वे सचमुच यह चाहते हैं कि साहित्य और कला के क्षेत्र में समाज या किसी की तरफ से कोई रोक-टोक न हो, तो उन्हें समाज के लिये हानिकारक साहित्य पर भी रोक टोक को स्वीकार नहीं करना चाहिये। दूसरे शब्दों में उन्हें साहित्य के क्षेत्र में उसी मतवाद का प्रचार करना चाहिए, जिसका अराजकवादी राजनीति के क्षेत्र में प्रचार करते हैं। किसी भी सांस से कहीं पर भी रोक मान ली गई कि फिर तो उस एक रोक का अनुसरण

करके कई रोकें आ जायेंगी। हम दिखा चुके कि समाज के लिये हानिकारक साहित्य के बहिष्कार का नारा दे देने का अन्तिम परिणाम किसी न किसी रूप में सेंसर बोर्ड तथा सरकार द्वारा जब्ती तक आ जाता है। अराजकवादी विद्वान् रोक से बचने के लिये यह कहते हैं कि सरकार, सेना, पुलिस, जेल कुछ नहीं होना चाहिये। उनका कहना है—इनके न होते हुए भी सुव्यवस्था इस कारण कायम रहेगी कि सामाजिक विवेक इस हद तक विकसित होगा कि किसी को कोई अन्यायपूर्ण कार्य करते हुए देख कर चारों तरफ के लोग दौड़ पड़ेगे, और उस कार्य को होने नहीं देगे। इसके समर्थन में वे यह उदाहरण देते हैं कि आजकल भी यदि कोई व्यक्ति रास्ते में किसी स्त्री पर बलात्कार करना चाहे, तो वह ऐसा नही कर सकता क्योंकि लोग फौरन दौड़ पड़ेंगे। मैं यहा पर अराजकवाद के सिद्धान्त की व्याख्या नहीं करना चाहता। मैंने तो केवल डा० शर्मा को यह सुझाना चाहा है कि जब तक वे साहित्य पर किसी भी प्रकार की रोक मानेंगे तब तक उनके लिये खैर नहीं है, वे किसी न किसी रूप मे प्रगतिवादी शिविर में पहुंचने के लिये बाध्य होंगे। पर साथ ही मैं उनको अराजकवादी मतवाद को अपनाने के एक खतरे से भी सावधान कर देना चाहूँगा। अराजकवाद मे जिस सार्वजनिक विवेक पर भरोसा किया जाता हैं, मान लीजिये साहित्य और कला के क्षेत्र में वह अभी दृष्टिगोचर न हुआ, और उसके विपरीत दृष्टिकोण का बोलबाला रहा तो?

हम एक छोटा-सा उदाहरण लें। यह सब लोग मानते है कि हिन्दी फिल्मों का स्तर बहुत नीचा है, पर यदि इसे केवल वर्तमान समय के सिनेमा के दर्शकों पर याने कथित सार्वजनिक विवेक पर छोड़ दिया जाय, तो क्या उन्नति की कोई सम्भावना है? यह तो एक सर्वजनविदित बात है कि जो अच्छे चित्र तैयार किये जाते है, वे घटिया और अर्द्ध अश्लील फिल्मों के मुकाबले में बाक्स आफिस याने पैसों की दृष्टि से सफल नही रहते। तो क्या हम इस क्षेत्र में लेसेफर नीति को चलने दें? हम यहां यह स्पष्ट कर दें कि सार्वजनक रुचि जो इस समय बनी है, वह सच्चे अर्थों में सार्वजनिक रुचि को प्रतिफलित नहीं करती, क्योंकि वह उसका भ्रष्टीकृत रूप है। पहले भ्रष्टता से उसका उद्धार करना पड़ेगा, इतने सालों की सौदागरी नीति से उसकी धार पर जो जंग लग गया है, उसे दूर करना पड़ेगा, तभी वह हमारी संस्कृति के शस्त्रागार का एक अनोखा अस्त्र सिद्ध हो सकेगा।

साहित्य में अराजकवादी व्यवस्था के एक दूसरे खतरे की ओर पहले ही इशारा कर चुका हूं। यदि प्रत्येक व्यक्ति पर यह छोड़ दिया जाय कि वह इस बात का स्वयं निर्णय करे कि कौन साहित्य उसके लिए ग्राह्य है, और कौन त्याज्य, तो वह ऐसा तभी कर सकेगा, जब वह साहित्य को पढ़ ले। और यदि उसने वह साहित्य पढ़ लिया, वह कलाकृति देख ली, तो इसके बाद उसने उसे त्याज्य करार दिया तो, उससे क्या आता जाता है, क्योंकि उसने तो उसे पढ़ लिया या देख लिया, और दूसरों को वह सलाह देने का अधिकारी नहीं है।

मैं अपनी बातों की पुनरावृत्ति नहीं करना चाहता, पर मैं इतना बता देना चाहता हूं कि प्रगतिवाद या सदुद्देश्य साहित्य सृष्टिवाद से बचने के लिए अराजकवादी धारा को अपनाने से कोई विशेष लाभ न होगा, क्योंकि यदि कोई तवे से निकल कर चूल्हे के अन्दर जा गिरा, तो उससे कोई लाभ नहीं। सदुद्देश्य साहित्य सृष्टिवाद से बचने के लिये अराजकवाद को अपनाना उसी प्रकार रहेगा, जैसे कोई नमाज़ छुड़ाने जाय और रोजा गले पड़ जाय। जो कुछ भी हो जिस रूप में डा० शर्मा साहित्य पर रोक मानते हैं, उस रूप में उसे मानने पर वे न चाहते हुए भी प्रगतिवाद की धारा मे आ जाते हैं।

डा० शर्मा साहित्य-सृजन में सोद्देश्यता से इतना कतराते क्यों हैं, यह मेरी समझ में नही आता। क्या जितना भी उत्कृष्ट विश्व साहित्य है, वह सोद्देश्य नही है ? मैं यहां यह विचार नही करता कि उनके उद्देश्य सभी क्षेत्रों मे प्रगतिशील है, पर वह है तो सोद्देश्य। वर्तमान युग के सभी महान् लेखक किसी न किसी उद्देश्य को लेकर चले है। टालस्टाय, इबसन, शा, गैल्सवर्दी, अनातोलफ्रान्स, रोमांरोलाँ, इबानेज इत्यादि सभी लेखक अपने सामने एक मॉडल या आदर्श को रख कर चले है। हमारे यहा रवीन्द्र, शरत, प्रेमचन्द्र, इकबाल इत्यादि सभी महत्वपूर्ण लेखक किसी न किसी आदर्श को मूर्त करने का स्वप्न लेकर चले।

मैं यह किसी पूर्व लेख मे बता चुका हूं कि केवल सोद्देश्य होने से ही किसी लेखक या कलाकार की कृतियां प्रगतिवादी नही हो जातीं। उद्देश्य हो, और प्रगतिपरक उद्देश्य हो। ऊपर गिनाये हुए लेखकों में कई मुख्यतः प्रगतिवादी है, तो कई में विरोधी उपादान प्रचुर मात्रा में मोजूद है।

इसलिए मुझे डर है कि जब प्रगतिवाद का विरोध किया जाता है, तो उसका अर्थ सोद्देश्यता का विरोध अधिक नही है, जितना कि आगामी शोषणहीन समाज के निर्माण में सहायक साहित्य के प्रति विरोध है। डा० शर्मा इस बात को स्पष्ट भी कर देते हैं कि संघर्ष और संग्रामों के साहित्य से हिन्दी के पाठक ऊब चुके हैं। वे यह भी मानते है कि समाज में शोषण है, फिर शोषणविरोधी साहित्य से जी चुराने का या उसके प्रति घृणा प्रदर्शन का क्या कारण है ?

टालस्टाय ने रोमांरोलाँ को पत्र लिखते हुए कहा था कि सच्ची कलाकारिता इसी बात मे है कि दुःख प्रफुल्लता के साथ सहे जायँ। टालस्टाय का यह भी कहना था कि कलाकार को अपने चारों तरफ के जगत् में कष्ट घटाने में हाथ बंटाना चाहिये स्वयं, रोमांरोलाँ ने यह माना है कि कलाकार का मार्ग गुलाबों से आस्तृत नहीं होता। उन्होंने कहा था, 'केवल दोयम दर्जे के कलाकार ही आराम की जिन्दगी बसर कर सकते हैं। कोई भी सच्चे अर्थ में सृजनकारी प्रतिभा यूरोपीय समाज की वर्तमान अवस्था में चारों तरफ फैले हुए दुःख विशेषकर उसके और उसके पिछड़े हुए समसामयिकों में जो खाई है, उसकी अवज्ञा नहीं कर सकती है' रोमांरोलाँ ने और भी कहा था, 'इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्तमान समाज-पद्धति निश्चित रूप से अपचयात्मक है। यदि अनुकूल परिस्थिति होती तो सैकड़ों प्रतिभाएँ सामने आतीं। इसलिए प्रत्येक बुद्धिजीवी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने अवकाश का कम

से कम कुछ भाग स्पष्ट सामाजिक अन्यायों और विषमताओं के दूरीकरण में लगाये।"

उन्होंने उसी वार्तालाप में कहा—"मैं समझता हूं कि इस विषय में कोई मतभेद नहीं हो सकता कि वर्तमान समाजपद्धति से उत्कृष्टतर किसी समाजपद्धति का प्रवर्तन होना चाहिए, और यह जितना जल्दी हो, उतना ही अच्छा है। प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का अफसोस होगा कि अधिकांश व्यक्तियों के लिये संस्कृति की नियामतों के द्वार बन्द हैं,यद्यपि य आत्मिक जीवन के लिए आवश्यक है। हम सभी रोग के सम्बन्ध में सहमत है, जो कुछ पचड़ा है, वह केवल दवा के सम्बन्ध में है, है न? मैंने अपने सारे जीवन से यह सीखा है कि कलाकार और बुद्धिवादी का प्रथम और सर्वोच्च कर्त्तव्य यह है कि वह अपनी आन्तरिक पुकार और प्रवृत्ति के प्रति निद्राहीन होकर सच्चा रहे, वह आन्तरिक अनुभूतियों के मन्दिर में दीया जलाता रहे, और जब भी पुकार आवे, वह सृजन करे। ऐसा कर चुकने पर वह अपनी सारी फालतू कर्मशक्ति और समय सामाजिक परिस्थितियों के सुधार मे लगा दे, जैसा कि गेटे करते थे। वे भी समाज-सेवा करते थे, पर केवल उन्हीं दिनों जब उनकी सृजनशक्ति में अंझा पड़ता था; पर जब उन पर उनकी प्रतिभा का दैत्य सवार होता था, तब वे और किसी काम मे नहीं लगते थे।"

आपातदृष्टि में रोमांरोलाँ के उदाहरणों की व्याख्या प्रगतिवादी ढंग से हो सकती है, और साथ ही विरोधी रूप में। रोमांरोलाँ ने जो कुछ कहा है, उसका मतलब यह निकल सकता है कि कर्मक्षेत्र में समाज-सुधार में हाथ बँटाना या वर्तमान सामाजिक व्यवस्था हटा कर उसके स्थान पर उच्चतर सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना यह प्रत्येक बुद्धिवादी का अवश्य कर्त्तव्य है, पर कला के क्षेत्र में कलाकार स्वतन्त्र है। यदि यह अर्थ लिया जाय तो बड़ी अजीब गड़बड़ी पैदा होती है। तो क्या एक कलाकार एक साथ दो जिन्दगियां बसर करे? कर्मक्षेत्र में तो वह समाज व्यवस्था के सुधार में या उसे बदलने में लगा रहे, और कला के क्षेत्र में क्या वह अपने ही कर्म का विरोध करे?

मैंने जान बूझ कर रोमांरोलाँ का उद्धरण इसलिए पेश किया कि डा० शर्मा जिस बात को कहना चाहते है, पर कहने मे चूक गये, रोमांरोलाँ ने वही बात कह दी है। पर रोमांरोलाँ कहें अथवा जो भी कहे, क्या यह बात बिलकुल असंगत नहीं है कि एक लेखक या कलाकार इस बात को हृदयंगम कर ले कि वर्तमान समाज-व्यवस्था में गम्भीर नुक्स हैं, उसे बदल देना चाहिए, केवल यही नही, वह समाज-व्यवस्था को बदलने के लिये कार्य भी करे, पर जब वह कलम या कूची पकड़े, तो वह अपने बौद्धिक विश्वास को भुला दे, अपने किये हुए कामों पर पानी फेर दे, और ऐसी रचना या कृति उत्पन्न करे, जो जाकर विरुद्ध पड़े? क्या ऐसा सम्भव है, और यदि सम्भव है, तो क्या यह वांछनीय है? क्या इनके लेखक एक सुसंगठित मनयुक्त प्राणी नहीं है। क्या वह ढोंगी और पाखंडी है?

यही पर हम प्रगतिवाद-विरोधियों के द्वारा अनुसृत एक दूसरी अंधी गली का पता पाते है। या तो कोई साफ-साफ कह दे कि समाज-व्यवस्था कोई भी हो, उससे उसका कोई सरोकार नही, वह उसके प्रति उदासीन है, स्वाभाविक रूप से वह समाज-व्यवस्था बदलने

या सुधारने में कोई हाथ नहीं बँटायेगा,फिर वह जो चाहे वह लिखे । मेरा कहने का मतलब यह है कि इस प्रकार के लेखक का फिर भी एक सामंजस्यपूर्ण मतवाद हो सकता है। हम उसे और चाहे कुछ भी कहें,ढोंगी या पाखंडी नहीं कह सकते । पर जो लोग यह मानते है कि समाज-व्यवस्था सड़ी और गली है, उत्कृष्टतर समाज-व्यवस्था की जरूरत है, यहां तक कि वह इस दिशा में काम भी करता है, फिर वह अपनी रचना या कृति में उदासीन कैसे रह सकता है ? क्या यह बात तर्कसंगत है ?

यह बात तो मेरी समझ में आती है कि एक ही व्यक्ति विभिन्न प्लेनो या क्षेत्रों में अपने कार्य को विभिन्न रूप में, उस क्षेत्र की टैकनीक तथा तकाजे पर विभिन्न रूप में अंजाम देगा, पर यह बात कतई समझ में नहीं आती कि कोई व्यक्ति किस प्रकार से एक क्षेत्र में जिस कार्य को बल पहुंचाता है, दूसरे क्षेत्र में वह उसका विरोध करेगा । यह नही कि ऐसे जीव हो नही सकते । ढोंगी और पाखंडी,अपने प्रति झूठे लोग होते ही है, पर यहां उनका जिक्र नही है। न मेरा यह ख्याल है कि रोमारोलाँ के उद्धरणों में ऐसे ढोंगियों और पाखंडियों को बढावा दिया गया है ।

यदि हम स्वयं रोमांरोलाँ की रचनाओं को देखें, तो हमें यह ज्ञात होगा कि वे सच्चे अर्थ में एक महात्मा थे, ओर उन्होंने सारी जिन्दगी अपने विचारों के लिए लड़ाई की। यह बात दूसरी है कि उन्होंने जिस शान्तिवाद के लिए त्याग और तपस्या की तथा अपने देश से निर्वासित रहे, वह शान्तिवाद एक पूर्णांग मतवाद नही है और उसमें गम्भीर त्रुटियां हैं। मै यहां शान्तिवाद के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहकर आगे जाऊंगा कि दसियों देशों के पराधीन रह जाने पर भी अहिंसा या शांतिवाद का नारा एक पूर्णांग नारा नही हो सकता था, और न है । फिर भी युद्ध की मारकाट ओर अमानुषिकता आदि को देखकर उन्होंने जो नारा दिया, उन्होने अन्ध देशभक्ति के विरुद्ध बोला, वह उनके सत्साहस का परिचायक था। कम से कम यह तो कोई नही कह सकता कि वे पाखंडी या ढोंगी थे । वे सभी क्षेत्रों में एक ही कार्यक्रम को लेकर चल रहे थे । जीवनियां लिखीं तो, उपन्यास लिखे तो, पत्र लिखे तो, निजी बातचीत की तो, वे एक ही आदर्श को सब प्लेनो पर जयमंडित करने के लिये उद्यमशील रहे ।

रोमांरोलाँ के व्यक्तित्व या उनकी कला पर कुछ कहना इस लेख का विषय नही है, फिर भी मैंने यह सब इस लिए कहा कि यह बात साफ कर दी जाय कि उनके उद्धरणों के अपअर्थ करने की कोई गुंजाइश नही है । अब प्रश्न यह उठता है कि फिर उनके वक्तव्य का अर्थ क्या है ।

मै यह पहले ही इंगित कर चुका हूं कि यह बात समझ में आती है कि प्रत्येक प्लेन में अलग-अलग ढंग से एक ही वक्तव्य या कर्तव्य समष्टि पूरी की जाय। इस कथन की व्याख्या के लिये मुझे कुछ ब्यौरे में जाना पड़ेगा ।

कठमुल्ला किस्म के प्रगतिवादी तथा प्रगतिवाद विरोधी एक जगह पर जाकर बिल्कुल एक मत (अवश्य विभिन्न कारणों से) हो जाते हैं। वे ऐसा मानते हैं मानो लट्ठ-

मार तरीके से प्रत्यक्ष रूप से समाज-व्यवस्था को सुधारना या बदलना प्रगतिशील लेखकों या कलाकारों का कार्य है। पर यह नितान्त नासमझी है, और प्रगतिवाद को एक संकीर्ण मतवाद बना देता है। जार्ज डिमिट्राफ ने सोवियट लेखकों की मंडली में बोलते हुए यह स्पष्ट कर दिया था कि 'वह लेखक क्रान्तिकारी लेखक नहीं है, जो अपनी कृतियों में बार-बार इन्कलाब जिन्दाबाद कहता रहता है।' मैं इस प्रसंग में यह भी याद दिलाना चाहूंगा कि सोवियट आलोचक काटायेफ ने यूरोप के आधुनिक साहित्यकारों में दो व्यक्तियों को, एक मैक्सिम गोर्की तथा दूसरे रोमांरोलाँ को, अपनाने का नारा दिया था। मैंने अपने 'कलाकार प्रेमचन्द' में काटायेफ का जो उद्धरण दिया था, उसे इस प्रसंग में फिर से उद्धृत करता हूं।

"प्रथम नाम को अर्थात् गोर्की के नाम को हमने समुचित सम्मान तथा मर्यादा से समन्वित कर दिया है……। रहा रोलाँ का नाम, सो हमारी सार्वजनिक चेतना में यह अपनी राजनैतिक दिव्य छटा के ही कारण मुख्यतः मौजूद है, वे सोवियट रूस के मित्र थे, इसके विश्व सत्य और सम्मान के संरक्षक थे, साम्राज्यवाद के सब तरह के अपराधों के जोशीले पर्दाफाश करने वाले थे।……रोलाँ की रचनाएँ जिन सामाजिक और दार्शनिक उत्पत्ति स्थलों से अपनी अनुप्रेरणा लेती थीं, उनके कारण उनमें कुछ सशोधन कर पढ़ना पड़ेगा, किन्तु फिर भी निःसन्देह बूढ़ा यूरोप हमारे साम्यवादी प्रश्न के लिए जो कुछ भी शैली में, विगत युगों के कला सम्बन्धी धरोहर में लाया है, उनमें वे हमारे सबसे नजदीकी और सबसे अधिक सम्बद्ध हैं। क्या इस सीमित स्थान में 'जान खृस्टोफर' के विषय में समुचित रूप से वर्णन करना सम्भव है जो मेरी समझ में २० वी सदी की सबसे महत्वपूर्ण रचना है ? जान खृस्टोफर की बातें यहां कही नहीं जा सकतीं, इसलिए मैं उनकी फ्रेञ्च क्रान्ति सम्बन्धी अन्य रचनाओं का उल्लेख करूंगा। सोवियट कलाकारों को चाहिए कि वे यदि सचमुच कला की सेवा करना चाहते हैं तो वे इन रचनाओं का खूब अच्छी तरह पारायण करें और सन् १९१४-१८ के युद्ध के बाद पेरिस के शब्द-विलासी लेखकों के फेर में न पड़ें। अवश्य रोलाँ में बहुत सी बातें हैं और उन्हें अलग करना बहुत कठिन काम है। रोलाँ व्यक्तिवादी है, उनमें पराजित तथा दूरीकृत बुर्ज़आ दल जिरोंद के प्रति सहानुभूति हैं, उनकी रचनाओं में राजतन्त्रवादी और जैकोबिन एमिग्रे (देश-त्यागी) आकर एक साथ हाथ मिलाते हैं। यह पूछा जा सकता है कि यदि वे बातें निकाल दी गईं, तो फिर उसी रचना में रह ही क्या जाता है ? इन बातों को निकाल देने पर भी उनकी रचना में क्रान्तिकारी युग के तूफानी तथा परिचालक उपादानों के विषय में बहुत सुन्दर तथा स्पष्ट वर्णन रह ही जायेंगे। उनमें फिर भी इतिहास में चलने वाले अगणित स्तरों की गति का सजीव वर्णन, ऐतिहासिक व्यक्तियों के साहसपूर्ण चित्रण, प्रतिभा के स्पर्श से गढ़े हुए चरित्र, सार्वजनिक तरह-तरह के आन्दोलनों का खुरदरी, जलती हुई, सावलील, सुन्दर भाषा में वर्णन तो रह ही जायेंगे। और शायद सबसे जो महत्वपूर्ण वस्तु रह जायगी, वह यह है कि एक नवीन वर्ग की सत्यता तथा मर्यादा जो न केवल पवित्र और उच्च नैतिक प्रकृतियों की भाषा में

बल्कि अपने को प्यार करने वाले संकीर्ण ईर्ष्यापूर्ण गोश्त बेचने वाले तथा पाशविक सैनिकों को चित्र परम्पराओं में व्यक्त है।……हमारे लेखकों में कला के इन हिमालयों के साथ एक समाजवादी प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न होनी चाहिये। गोर्की और रोलाँ यही हमारे मूलमंत्र हों।"

कही यह न समझा जाय कि काटायेफ कुछ अधिक कह गये, इसलिए मैं प्रगतिवादी कठमुल्लाओं और साथ ही प्रगति-विरोधियों (जो शायद यह समझें कि मैं प्रगतिवाद की नई और विस्तृततर व्याख्या करके उसे पुनरुज्जीवित कर रहा हूं या उसकी बूढ़ी नसों में नया रक्त भर रहा हूं) की अवगति के लिए यह बताना चाहूंगा कि एंगेल्स के विचार भी इसी तरह थे। लोग यह जो समझते हैं कि क्रान्तिकारी या सर्वहारा साहित्य का अर्थ एक प्रच्छन्न राजनैतिक प्रचार पुस्तिका या ट्रैक्ट मात्र है, एंगेल्स ने इसका विरोध किया था।

उन्होंने बालज़ाक पर लिखते हुए कुमारी हार्कनैस को लिखा था—"मैं आपको इसलिए दोष नहीं देना चाहता कि आपने एक फड़कता हुआ समाजवादी उपन्यास या जैसा कि हम जर्मन में कहते है टेन्डेन्ज़ रोमान (Tendenz Roman) नही लिखा है, जिसमें रचयिता के सामाजिक तथा राजनैतिक विचारों पर गौरवमय ढंग से लिखा है, मेरा मतलब यह नहीं है। रचयिता के मत जितने ही प्रच्छन्न रहें, कला की दृष्टि से वह कृति उतनी ही अच्छी होती है। मैं जिस वस्तुवाद की बात कहता हूं, वह लेखक के मतों के बावजूद आ सकता है।

कठमुल्ला प्रगतिवादियों को चाहिये कि वे एंगेल्स के इस वक्तव्य को अच्छी तरह समझें, केवल खुल कर मजदूर और सर्वहारा की बात कहने से ही कोई साहित्य गतिवादी नहीं होता, क्योंकि शायद ऐसा करने के दौरान में वह साहित्य न रह जाय। डा० शर्मा से मैं इस सम्बन्ध में सहमत हूं कि इस प्रकार का साहित्य ऊबा देने वाला होता है, और उसमें रुचि बनी नहीं रह सकती। रचयिता अपनी बात को जितनी ही सूक्ष्मता के साथ कह पायेगा साहित्य के रूप में उसकी रचना उतनी ही सफल रहेगी।

शहीद साहित्यिक राल्फ फाक्स ने मार्क्स और एंगेल्स के साहित्य सम्बन्धी विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा था—"मार्क्स और एंगेल्स जिस बात पर जोर देते हैं, वह यह है कि एक कलाकृति रचयिता के विश्व-दृष्टिकोण के अनुरूप हो, क्योंकि वही दृष्टिकोण उसे कलागत एकता प्रदान कर सकता है। फिर भी रचयिता के विचार किसी भी हालत में बाधा बनकर सामने न आयें। कृति में रचयिता के दृष्टिकोण का ढिंढोरा नही पीटा जाना चाहिए, बल्कि परिस्थितियों और चरित्रों से वह बिलकुल सीधा-सीधा हमारे सामने स्वाभाविक रूप से आवे। यही सच्चा सोद्देश्यवाद है, सब महान् कलाकृतियों में इसी का बोलबाला रहता है। एंगेल्स ने कार्ल्स काउस्टकी की मां मीना काउस्टकी को (जो समाजवादी उपन्यासकार होना चाहती थी) कहा था कि इशीलस, ऐरिस्टोफिनिस, डान्टे, सर्वान्टिस तथा

समसामयिक रूसी और नार्वेजियन साहित्यकारों ने सुन्दर उपन्यास लिखे हैं, जो सब के सब सोद्देश्यवादी हैं। मेरा यह मत है कि परिस्थिति और कार्यकलाप में से उद्देश्य स्वयं उभरे, उस पर विशेष तरीके से जोर देने की जरूरत न पड़े। कोई लेखक इस बात के लिए मजबूर नहीं है कि पाठक को वह उन सामाजिक संघर्षों का बना बनाया तैयार ऐतिहासिक समाधान दे दे, जिन्हें वह चित्रित कर रहा है।" उसी पत्र में वे इस विचार को और भी विकसित इस प्रकार करते हैं कि वर्तमान परिस्थितियों में लेखक का पाठक-समाज मुख्यतः पूंजीवादी वर्ग का ही बना होगा, और "इसलिए मेरे विचारों में समाजवादी उद्देश्ययुक्त उपन्यास इतने में ही अपना मिशन अच्छी तरह पूरा कर लेते हैं कि वे वास्तविक सामाजिक सम्बन्धों का वर्णन करें, उनसे सम्बद्ध भ्रांतियों को दूर करें, मौजूद समाज-व्यवस्था की चिरन्तन प्रकृति के सम्बन्ध में सन्देह के बीज बो दें, भले ही ऐसा करते हुए लेखक कोई निश्चित समाधान न दे, यहां तक कि कोई पक्ष ग्रहण भी न करे।"

मैं यह चाहूँगा कि कटमुल्ला प्रगतिवादी तथा उनके मौसेरे भाई प्रगतिवाद-विरोधी एंगेल्स के ये शब्द गांठ में बांध लें। इसके पहले ही वह वक्तव्य तो आ ही चुका है कि लेखक के विचारों के बावजूद उसकी कृति प्रगतिवादी हो सकती है। मैंने प्रेमचन्द पर आलोचना करते हुए यह दिखलाया है कि किस प्रकार एक लेखक सज्ञान रूप से चाहता कुछ और है, वह एक विशेष विचारधारा को बल पहुँचाने के लिए लेखनी धारण करता है, पर होता कुछ और है। प्रेमचन्द ने "गोदान" के अतिरिक्त सारे उपन्यास गांधीवादी विचारधारा के अधीन होकर लिखे, पर वे चाहे किसी भी विचार-धारा से आंखें लड़ावें, वे वस्तुवा ी लंगोट के प्रति सच्चे रहे। नतीजा यह हुआ, कि यद्यपि उन उपन्यासों में प्रेमचन्द एक सज्ञान गांधीवादी दृष्टिचगोचर होते हैं, फिर भी यदि उन उपन्यासों के उपसंहारों का विश्लेषण किया जाय, तो ज्ञात होगा कि वे गांधीवाद के लिए विशेष रुचिकर नहीं है। मैं इस सम्बन्ध में यहां पर ब्यौरे में जाना पसन्द नहीं करूँगा, क्योंकि मैंने यह बात बार-बार आलोचना सम्बन्धी अपनी विभिन्न पुस्तकों में स्पष्ट की है। यहां वक्तव्य केवल इतना ही है जैसा कि एंगेल्स के उद्धरण से स्पष्ट हो गया कि साहित्य का दायरा बहुत बड़ा है। अत्यन्त प्रतिक्रियावादी साहित्यकार की रचना में भी अक्सर प्रगतिवादी अंश मिल सकते हैं।

जो भी रचना प्रत्यक्ष रूप से या परोक्ष रूप से जीवन का आनन्द (joie de vivre) देती है, हमें जीवन संग्राम के लिए मजबूत बनाती है, शोषण के विरुद्ध लड़ने के लिए उन्मुख करती है, निराशावाद के विरुद्ध भावनाएँ उत्पन्न करती है, हमें विशेष आनन्द देती है, वह प्रगतिवादी साहित्य के अन्तर्गत मानी जानी चाहिए। इसके विपरीत जो रचना हमें अपने ऊपर निर्भर रहने के बजाय देवी-देवताओं, वीरों और नेताओं पर भरोसा करके हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहने की शिक्षा देती है, हमें परलोक में रहने वाले न्याय का प्रलोभन दिखाकर अन्याय सहने

और धैर्य धरने के लिए उकसाती है, जो हमारा ध्यान वस्तुस्थिति से हटाकर हमें अकर्मण्यता, कर्मविमुखता, अकर्म या कुकर्म की ओर ले जाती है, वह साहित्य प्रतिक्रियावादी है ।

रोमांरोलाँ को एक महिला मालविडा फान मेइखेनवुर्ग ने यह लिखा था कि वह ऐसी परिस्थिति में आ गई थी कि जीवन से बिल्कुल निराश हो गई थी, दूसरे शब्दों में वह आत्महत्या की सोच रही थी, इतने में उसने जाकर शेक्सपीयर का "ओथेलो" नाटक देखा। इसका असर महिला पर यह हुआ कि उसे एकाएक जीवन का अर्थ समझ में आ गया, और वह उस दिन से बिल्कुल बदल गई । फिर जीवन का चक्र तेजी के साथ चलने लगा। इस पर रोमांरोलाँ ने खुद ही कहा कि "ओथेलो" शेक्सपीयर के नाटकों में भी कोई विशेष आशावादी नहीं है, फिर भी किसी परिस्थिति मे उस महिला पर यह असर पड़ा ।

जहां तक उस महिला पर "ओथेलो" के असर का सम्बन्ध है, वह बहुत अच्छा रहा, पर केवल एक व्यक्ति के असर से ही किसी कृति का सही मूल्यांकन सम्भव नहीं। हम लोग अपने जीवन में कई बार देखते हैं कि एक गाना, एक वाक्य, एक उद्धरण बड़ा असर पैदा कर जाता है । पर बाद को जब हम वही गाना, वही वाक्य, वही उद्धरण सुनते हैं या पढ़ते हैं, तो हम पर वह असर नहीं होता । इसलिए वह असर उस गाने या वाक्य में न होकर बहुत कुछ हमारी परिस्थिति में था, इसमें सन्देह नही। इसलिए एक लेडी मालविडा के जीवन में मोड़ देने में समर्थ होने के कारण ही "ओथेलो" एक प्रगतिवादी रचना नही हो जाती । हमें देखना यह पड़ेगा कि अधिकांश पर उसका क्या असर पडता है ।

जो कुछ कहा गया उससे यह स्पष्ट है कि भले ही किसी साहित्य में किसी सामाजिक या राजनैतिक पक्ष का प्रगतिवादी ढग से प्रतिपादन न किया गया हो, पर वह कृति हमें सही किस्म का आनन्द देती हो, तो वह प्रगतिवादी कृति ही होगी। सही किस्म का आनन्द इसलिए कहा गया कि अश्लीलता से, अपने नस्ली कुसंस्कारों की तृप्ति से, सैडिज्म या निष्ठुरता से भी आनन्द मिल सकता है । इसी अर्थ में किसी प्राकृतिक दृश्य का चित्र, कोई सुर या कोई प्रस्तर मूर्ति हमारे लिए आदरणीय हो सकती है । रोमांरोलाँ ने ठीक ही कहा है कि कोई भी सच्चा आनन्द अनिवार्य रूप से अर्थहीन नहीं हो सकता ।

वे अपने वक्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, "मैं इस बात की पुनरावृत्ति करता हूँ कि नीव के रूप में इस बात को मानकर हम चल सकते हैं कि कोई भी सच्चा सुख क्षणिक नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष सिहरन और आनन्द हमें ऊपर को उठाता है, और अपने पीछे स्थायी अनुप्रेरणा की खमीर छोड़ जाता है ।"

उदाहरणस्वरूप बच्चों को जिन और परियों की जो कहानी सुनाई जाती हैं, उनमें बहुत कम क्षेत्र में वर्ग आधार मिलेगा। अवश्य उनमें से अधिकांश पर

यह जन्म छाप तो लगी ही हुई है कि सभी साहसपूर्ण कार्य राजकुमार या मंत्रिकुमार या ऐसे ही बड़े लोग करते हैं। 'यदि बच्चों को आगाह न कर दिया जाय, तो जिन और परियों की बातें बच्चों के मन में ईश्वर और देवी देवताओं के लिए जमीन तैयार करती हैं, साथ ही उन्हें डरपोक भी बना सकती हैं। यदि इस दृष्टि से इन कहानियों को देखा जाय, तो वे अच्छी नहीं मानी जा सकती। एक तो इन कहानियों से बच्चों की कल्पना-शक्ति बढ़ती है, और दूसरा उन्हें आनन्द मिलता है। अब देखना पड़ेगा कि कोन-सा उपादान अधिक है। मैं समझता हूँ कि इन कहानियों में आनन्द देने की शक्ति इतनी अधिक है कि यदि बच्चों के मां-बाप भूत, जिन और राजाओं से बच्चों को सावधान कर दें, तो ये कहानियां पूर्ण रूप से हितकर न होती हुई भी क्षति नही पहुँचा सकतीं। अवश्य आगाह करना जरूरी है।

कुछ भी हो यदि कोई साहित्य या कला सच्चा आनन्द दे सकती है, तो उस पर फतबेबाजी करने के पहले तीन बार सोचना चाहिए। रोमांरोलाँ ने कहा था कि बिठोफेन की एक सिम्फनी कई समाज-सुधारों के बराबर है। मै इस सिम्फनी पर मत देने के लिए अपने को योग्य नहीं समझता, पर मुझे ऐसा एक साधारण रूप में मानने में कोई इनकार नहीं कि एक गीत बहुत से राजनैतिक और सामाजिक ट्रैक्टों या पुस्तिकाओं से अच्छा हो सकता है।

मै रोमांरोलाँ के साथ यह भी मानता हूँ जैसा कि मै अन्यत्र एक पूर्व प्रसंग में लिख चुका हूँ कि यदि रचना कलाहीन है, पर वह सदुद्देश्ययुक्त है, तो वह एक निकृष्ट रचना है। रोमारोलाँ ने उसी वार्तालाप में कहा था, "उदाहरणस्वरूप किसी उद्देश्यपूर्ण कविता या तुच्छ किस्म के उपन्यास को लो। उसे पढ़ने के बाद तुम देखोगे कि यद्यपि उसमें नैतिक जोश बलबला रहा है, फिर भी उसे पढ़ने के बाद तुम पहले से ज्ञानी नही हो जाते। इसके बाद ही तुम किसी ऐसी स्वीकृत कलाकृति को लो, जिसमें कोई भी सदुपदेश नही है। तुम देखोगे कि यह तुम में कुछ ऐसी बात फूंक देगी, जो स्वस्थ है और ऊपर उठा देने वाली है। सौन्दर्य हमें परिमार्जित और शुद्ध करता है, और अक्सर वह ऐसा हमारे अनजान मे ही करता है।"

सौन्दर्य के इस उदात्त कार्य और परिणाम को प्रगतिवाद किसी भी रूप में अस्वीकार नही करता। अवश्य यहां पर एक चेतावनी दे दी जाय, वह यह कि जिसे लोग विशुद्ध सौन्दर्य या कला कहेंगे, उसमें अक्सर वर्गभेदात्मक डंक भी छिपा रह सकता है। हमें इस डंक से सावधान रहना पड़ेगा। डंक प्रकट न होकर सूक्ष्म और परोक्ष भी हो सकता है। पहले ही हम यह बता चुके है कि सौन्दर्य से जो आनन्द मिले, वह सही किस्म का या रोमांरोलाँ की भाषा में सच्चा आनन्द होना चाहिए। सौन्दर्य अश्लील या नपुंसकत्व लाने वाला भी तो हो सकता है। फिर साधारण समय में जो सौन्दर्य अभिनन्दनीय और वाञ्छनीय है, वह आपत्तिकाल में वर्ज्य अतएव हेय हो सकता है। जिस समय पड़ोस में धू-धू आग जल रही है, और समय का तकाजा

यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति का हर एक तोला लगाकर उसे बुझाने में लग जाये, उस समय यदि कोई माइकेल एंजेली की मूर्ति या बिठोफेन की सिम्फनी का रेकार्ड लेकर बैठ जाय, तो वह नीरो से अच्छा नहीं होगा, जो उस समय संगीत का अभ्यास कर रहा था, जब रोम जल रहा था। इसी अर्थ में पलायनवादी शब्द प्रचलित है। जो साहित्य या कला हमें अपने तात्कालिक कर्तव्य से विमुख करके अकर्मण्य कर देता है, और इस प्रकार विरोधी शिविर का बल बढ़ाता है, वह प्रत्यक्ष रूप से प्रतिक्रियावादी न होते हुए भी उस समय भ्रामक, पथभ्रष्टकारी और पलायनवादी है।

यहां पर कही गलतफहमी न हो, इसलिए यह बता दिया जाय कि ऊपर पलायनवादी साहित्य का जो उदाहरण दिया गया, वह अव्याप्तिदोषयुक्त है। यह तो केवल सामयिक परिस्थितियों के कारण पलायनवादी साहित्य की बात हुई। पर ऐसा भी साहित्य है, जो अपनी अन्तर्गत वस्तु, प्रतिपादित विचारधारा आदि के कारण पलायनवादी हो सकता है। जैसे मान लीजिए किसी उपन्यास में यह दिखाया जाय, कि साधारण लोगों की दुरवस्था और गरीबी का कारण अधिक बच्चे उत्पन्न करना है न कि शोषण, तो ऐसा साहित्य सौन्दर्य की खान होते हुए भी पलायनवादी कहलायेगा, मैं समझता हूँ कि इतना ब्यौरा यथेष्ट है।

अतएव जहां पर जाकर प्रगतिवादी सौन्दर्य शास्त्र और दूसरों के सौन्दर्यशास्त्र में फर्क पड़ता है, वह यह है कि हम Ipso facto यह मान नहीं लेते कि सब सौन्दर्य या सब आनन्द दूध का धुला हुआ है, इसलिए हम स्वाभाविक रूप से उसके रक्त आदि की परीक्षा करके देखते है कि वह वाकई स्वस्थ है या नहीं। जैसे दूसरे लोग सौन्दर्य कही से भी आवे, आनन्द कहीं से भी आवे, रस किसी में से आवे, उसका उन्मुक्त बाहु होकर स्वागत करने के लिए तैयार रहते हैं, हम ऐसा नहीं करते। हम यह जानते हैं कि सौन्दर्य के पीछे कई बार कदर्यता, आनन्द के पीछे दूसरों के आंसू और परिमार्जितता के पीछे दूसरों की गंदगी, भूख, गरीबी छिपी रह सकती है। इस कारण हम सौन्दर्य को कैरन्टीन मे रखकर उसकी जांच करते है, और जब वह स्वस्थ सिद्ध होता है, तभी हम उसे अपने देश में आकर बसने देते हैं। दूसरे शब्दों में जबकि दूसरे केवल सौन्दर्य की बहिरंग परीक्षा करके ही सन्तुष्ट हो जाते है, हम उसकी अन्तरंग परीक्षा भी करते है। जैसा कि रोमांरोलाँ के सम्बन्ध में काटायेफ की युक्ति से प्रमाणित होता है हम बड़ी उदारता से परीक्षण करते है। यदि किसी भी परीक्षा में यह साबित हो कि उसमें कुछ प्रतिक्रियावादी उपादान भी हैं, पर वह मुख्यतः प्रगतिवादी है, तो हम उसे ग्रहण करने में पश्चात्पद नहीं होते।

हम ऊपर जो कुछ कह आये है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कला, सौन्दर्य, आनन्द या रस को हम अपने आप में पूर्ण ध्येय नही मानते। अवश्य जैसा कि हम बता चुके है, हम ऐसे सब साहित्य और कला को ऊंचा मानते हैं, जिनमें कोई डंक छिपा नहीं है। उस हालत में भी हम कला की सामाजिक कसोटी छोड़ नहीं देते, बल्कि उस क्षेत्र-

विशेष में उसके प्रयोग की जरूरत नहीं देखते। कहना न होगा कि इस प्रकार से विश्व साहित्य का बहुत बडा हिस्सा हमारे लिए वरणीय हो जाता है। अवश्य निरवच्छिन्न रूप से प्रगतिवादी साहित्य अधिक नहीं है।

किये हुए विश्लेषण के अनुसार धार्मिक या धर्मपरक सारा साहित्य हमारे लिए सन्दिग्ध साहित्य हो जाता है, जिसके कारण डा० शर्मा अधिक नाराज होते हैं। मुझे यहां पर धर्म के ब्यौरेवार विश्लेषण में जाने की आवश्यकता नही है। मार्क्स ने कह दिया कि धर्म जनता के लिए अफीम है, इसीलिए धर्म जनता के लिए अफीम नहीं हो गया, इसके गहरे ऐतिहासिक कारण हैं। धर्म ने कई क्षेत्रों में एक प्रगतिशील शक्ति के रूप में काम किया, इससे भी हम अनभिज्ञ नही हैं, जैसा कि शोषितों की विचारधारा के रूप में ईसाई मत का उदय हुआ था। ईसाई धर्म में यह जो कहा गया था कि मनुष्य खुदा के बेटे है, इसलिए परस्पर भाई है, यह रोमन जूआ के नीचे पिसते हुए गुलामों के लिए बहुत आगे बढ़ी हुई आशा की वाणी थी। इस वाणी ने गुलामों की बढती हुई विद्रोहाग्नि में घृत की आहुति दी, स्वाभाविक रूप से ऐसा धर्म, जिसमें ऐसी आपत्ति-जनक बात कही गई थी, शासकों को नापसन्द थी। इसलिए ईसाई धर्म गुलामों की गुप्त समितियों के ज़रिए फैला। ईसाइयों में जो क्रूस चिह्न प्रचलित हैं, उसके सम्बन्ध में एक सिद्धान्त यह है कि रोमन गुलाम रात के अन्धेरे में अपने कामों से छुट्टी पाकर लुक छिप कर एकत्र होते थे, और चूकि यह कब्रिस्तान होते थे, जिनमे क्रूस चिह्न की सूचना होती थी, इसलिए ईसाइयों के लिए यह चिह्न पवित्र हो गया। इसी प्रकार गिरजों की मेहराबदार बनावट के सम्बन्ध में भी यह बताया गया है कि चूकि आदिम ईसाई लोग मेहराबदार कब्रिस्तानों के भीतर जमा होकर ईश उपासना करते थे, इसलिए बाद को ईश-प्रार्थना के स्थानों के साथ मेहराब का सम्बन्ध हो गया और गिरजे उसी नमूने के बने।

(*ऐतिहासिक भौतिकवाद* पृ० २९६)

यही ईसाई धर्म बाद को चल कर कैसे सम्राट् कानस्टनटाइन के समय में शासक वर्ग द्वारा स्वीकृत हो जाने के कारण अपना क्रान्तिकारित्व खो बैठा (धर्म याने अपर में विश्वास और आत्मसमर्पण युक्त विचारधारा होने के नाते यह इसके लिए स्वाभाविक था), यह इतिहास की बात है। इसी प्रकार इस्लाम धर्म तथा अन्य सभी धर्मों का हुआ। डा० शर्मा जब वैदिक युग की बात करते है, तो एक काशी के कथावाचक की तरह इस प्रकार बात करते हैं, मानो वैदिक युग दस बीस वर्षों तक ही रहा, और उसमें बराबर एक ही विचारधारा चलती रही। वैदिक युग शताब्दियों तक चलता रहा, और उस युग में आर्यों की समाज-व्यवस्था तथा विचारधारा में बहुत परिवर्तन हुए। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि आदिम वैदिक धर्म एक सरल धर्म था। देवताओं के साथ मनुष्य का कुछ इस प्रकार का सम्बन्ध था कि तू मुझे गाय, जमीन, फसल आदि दे, और मैं तुझे सोम रस पिलाता हूं, तुझ आहुति देता हू, इस प्रकार की बात थीं। जिस या जिन दर्शनों

पर धर्मवादियों को बहुत नाज है, वे बाद की उपजें हैं। वैदिक साहित्य में मोक्ष की कहीं कामना नहीं है। बात यह है कि जमीनें काफी थीं, नित्य नये नये दिग्विजय हो रहे थे, और जैसा कि युद्ध क समय होता है, विशेषकर ऐसे युद्ध के समय जिसमें बराबर विजय का सेहरा बंधता जा रहा हो, नये इलाके मिल रहे हों, आपसी वर्गद्वेष बहुत प्रच्छन्न था। पर जब बाद को चल कर आर्य बसने लगे, साधारण जनता अपने ऊपर चलती हुई चक्की का अनुभव करने लगी, तब परलोक तत्व, मोक्ष की कामना आदि दर्शन के अंग बन गये। वेदों में भ्रूण रूप में यह विचार आ चुके थे।

अजीब बात यह है कि सांख्य आदि जिन दर्शनों का उदय हुआ, वे कदाचित् आरम्भ में अनीश्वरवादी थे, पर बाद को वे ईश्वरवादी बना दिय गये, पर जैसा कि हम देख सकते हैं, सांख्य में पुरुष बिना किसी कार्य के और द्रष्टामात्र होने के कारण यह साफ झलक जाता है कि पुरुष ऊपर से लादा हुआ है। मैं फिर अपनी पुस्तक से उद्धृत करूंगा, "यों तो वेदों में भी कुछ कुछ विद्रोह की आवाज़ उठ चुकी है, किन्तु जब वैदिक धर्म जटिल हो गया, और उसका रूप सोलहों आने शासक वर्ग का स्वार्थसाधक हो गया, तथा इसके ज़रिये अन्य लोगों का शोषण होने लगा, तब इसके विरुद्ध विद्रोह की आवाज़ उठी।"

मै यहां पर अपनी पुस्तक से उद्धरण को रोक कर 'भारतवर्ष के केम्ब्रिज इतिहास' से अध्यापक बेरीडल कीथ के एक वाक्य को उद्धृत करूंगा। डा० शर्मा डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त को प्रमाण नही मानते, इसी कारण मुझे ये शब्द उद्धृत करने पड़ रहे हैं—"ऋग्वेद एक उच्चवर्ग का संग्रह है, और दशम पुस्तक के कुछ मंत्रों के अतिरिक्त उसमें जनता के धर्म का बहुत कम हिस्सा है।"

मै फिर ऐतिहासिक भौतिकवाद से उद्धृत करूंगा—"ईसा पूर्व नवम तथा अष्टम शताब्दी में यह विद्रोह मूर्त हो गया। बाद को हमें इन विद्रोहों का परिचय यत्र तत्र उपनिषदों मे मिलता है। इन्हीं विद्रोहों के फलस्वरूप वैशेषिक, न्याय, साख्य आदि दर्शन बने। असल में ये सभी दर्शन और वैदिक युग के जटिल धर्म के विरोधी थे, और चाहते थे कि विश्वास और अनुष्ठान के बूते पर नहीं, बल्कि भौतिक रूप से चीजों की गहराई तक पहुंचा जाय, पर ये विद्रोह इस कारण अधिक सफल नहीं हो सके कि इनके पीछे कोई स्थायी उत्पादक वर्ग नहीं था। फिर भी ये ही दर्शन बौद्ध, जैन विद्रोह को अनुप्रेरित करने के कारण हुए। बौद्ध और जैन-विद्रोह इस कारण अधिक सफल हुए कि उनको उठती हुई सौदागर श्रेणी ने अपनाया। बुद्ध और महावीर ऐसे संसारत्यागी महापुरुषों के मतवाद पर वर्ग-सिद्धान्त को लागू करना शायद कुछ लोगों को खटके, किन्तु इन मतों के वर्गचरित्र के सम्बन्ध में कुछ ऐसे अकाट्य प्रमाण हैं, जिनको कोई भी सही दिमाग व्यक्ति टाल नहीं सकता। बुद्ध को जब उपहार में दास दिये जाते थे, तो वे उन्हें स्वीकार नहीं करते थे। वे दास पर मालिक के अधिकार को इतने स्पष्ट रूप से स्वीकार करते थे कि संघ में ऐसे दास का, जो अपने मालिक द्वारा मुक्त नहीं किया गया है, लेना निषिद्ध था। यों तो बौद्ध और जैन धर्म का सामाजिक आधार बहुत कुछ एक ही था, और उसके

सिद्धान्त बहुत कुछ मिलते जुलते थे फिर भी बौद्ध धर्म का जो प्रचार अधिक हुआ, उसकी तह में बुद्ध के जीवन का अधिकतर भावुकतामूलक आवेदन मालूम होता है। आगे चल कर बौद्ध धर्म का पतन हुआ, और प्रतिक्रिया की ताकतों ने यानी पुरोहित-प्रधान प्राचीन धर्म ने उसका गला दबा दिया। प्रतिक्रिया की इस विजय का यह कारण था कि आत्मयथेष्ट आर्थिक पद्धति के अन्दर व्यापार की एक हद तक ही उन्नति हो सकती थी। धीरे-धीरे बौद्ध धर्म में ऐसी बातें सम्मिलित होती गई, जिनके कारण उसमें और ब्राह्मण धर्म मे कोई फर्क नही रह गया। इधर ब्राह्मण धर्म ने हाथ बढ़ा कर बुद्ध को अवतार मान लिया। ब्राह्मणों का सारा पुराण बुद्ध के नाम से मढ कर आगया। वे ही अलौकिक चमत्कार आ गये। अवतारवाद के रूप में बुद्ध के पूर्व जन्मों का वर्णन करते हुए जातक कथाओं का निर्माण हुआ। बौद्ध धर्म का महायान मत ब्राह्मण धर्म से किसी प्रकार भिन्न न रहा। ऐसी हालत मे प्राचीनतर मर्यादाप्राप्त ब्राह्मणधर्म की विजय कोई आश्चर्य की बात नही रही।"

इस लेख में भारतीय धर्मो पर इससे अधिक विस्तार के साथ विचार करने की गुंजाइश नही है, इसलिये सम्भव है कि मेरी बहुत सी बाते उतनी स्पष्ट न हो पावें, जितनी कि मैं करना चाहता हू। मै यह साफ कर दू कि मै अध्यात्मवादियों को पशु नहीं कहता, जैसा कि मुझ पर आक्षेप लगाया गया है। मैंने तो यह पूछा था—"अध्यात्मवाद के सहारे मनुष्य इतिहास के किसी भी सोपान मे पशुओं से ऊपर उठ सका है? यदि मनुष्य पशुओं से ऊपर उठा है और अवश्य उठा है, तो वह अपने विज्ञान और वैज्ञानिक ज्ञान की बदौलत।" इस वक्तव्य को तोड मरोड़ कर यह अर्थ निकाला गया है कि मैं अध्यात्मवादियों को पशु कहता हू। इसके विपरीत हमने अपने सारे साहित्य में अध्यात्मवादियों को उन्ही के वचन पर लिया है याने मै यह मानता हू कि बुद्ध और महावीर संसार-त्यागी थे, और उन्होंने त्याग का एक आदर्श उपस्थित किया, पर सवाल तो उनके त्याग का नहीं है, सवाल तो यह है कि उन्होने जगत् को दुःखमय मान कर उसके लिये जो समाधान उपस्थित किया, वह कहां तक प्रश्न को टालना है, पलायनवाद है, या अपने को अफीम के नशे मे डाल कर वास्तविक समस्याओं की ओर से शुतुरमुर्ग वृत्ति का अवलम्बन करना है। मुझे और भी बहुत सी बातें कहनी है, इसलिये यह बात यही तक। केवल एक बात और, वह यह कि क्या यह बात इतनी कठिन है कि डा० शर्मा की समझ मे नही आई कि एक व्यक्ति सबजेक्टिव दृष्टि से बहुत ही ईमानदार, त्यागी और तपस्वी हो सकता है, पर अबजेक्टिव रूप से उसकी सारी बातें गुमराह करने वाली, समाज को पीछे की ओर ढकेलने वाली और प्रतिक्रियावादी हो सकती हैं। सच तो यह है कि धर्म की सफलता के लिए यह जरूरी है कि उसके नेता और व्याख्याता निजी तौर पर बड़े ईमानदार और उच्च चरित्र के व्यक्ति हो।

ऊपर मेरे जिस वाक्य को उद्धृत करके उसका अपअर्थ किया गया है, उसी के सहारे मुझ से यह प्रश्न पूछा गया है कि क्या पशु से मनुष्य का भेद केवल विज्ञान तक ही सीमित है? मैंने जो उस वाक्य में दो शब्द कहे, विज्ञान और वैज्ञानिक ज्ञान, इनमें से प्रथम

को तो याद रखा गया, पर द्वितीय को भुला दिया गया। वैज्ञानिक ज्ञान में वह सब ज्ञान आ जाता है, जो मनुष्य को प्राप्त है चाहे वह कला के सम्बन्ध में हो, संगीत अथवा साहित्य के सम्बन्ध में हो। मैंने केवल ज्ञान शब्द न लिख कर वैज्ञानिक ज्ञान इसलिये लिखा था कि मैं इसमें वे ज्ञान नही गिनता, जो हैं तो ज्ञान के रूप में, पर है अज्ञान का ही नामान्तर-जैसे परलोक तत्व या मेटाफिजिक्स। दुःख है कि अध्यात्मवादी जिस अध्यात्मवाद पर बहुत दन्तकटाकटी करते है, मैं उसे मेटाफिजिक्स मानता हूं, क्योंकि उनमें जिन बातों का दावा किया जाता है, वे वैज्ञानिक ज्ञान में नही आ सकती। मेरा ऐसे ही अज्ञानरूपी ज्ञान के सम्बन्ध में यह विनम्र दावा है कि इस प्रकार की प्रति-सामाजिक रुझानयुक्त दन्तकटाकटी से मानव जाति आगे नहीं बढ़ी है। हां, परलोक में हूर और गिलमों का प्रलोभन दिखला कर जनता की विद्रोह-भावना को शान्त रखा गया है, और इस प्रकार अफीम देकर शासकवर्ग का उल्लू सीधा अलबत्ता किया गया है ।

यह कहा गया है, "भौतिक सुख तो पशुओं को भी प्राप्त है विज्ञान की सहायता के बिना। पेट भर कर खाने के बाद कीचड़ में लोटने वाला सूअर जितना सुखी है, विज्ञान के समस्त साधनों द्वारा प्रदत्त ऐश्वर्य भोगने वाला व्यक्ति उससे अधिक सुखी नही है।" यह वक्तव्य अत्यन्त भ्रामक है। भौतिक सुख पशुओं को भी प्राप्त है, पर मनुष्य प्रकृति को बदल कर सुख के साधनों को हजारगुना बढा सकता है, केवल यही नही, वह सुख की नैसर्गिक भोगशक्ति को भी आमूल परिवर्तित कर सकता है। मनुष्य अपनी दृष्टिशक्ति को दूरबीन और खुर्दबीन से बढा सकता है, क्या यह विज्ञान की बदौलत नही है? मनुष्य भी अपनी प्रेमिका के साथ शारीरिक रूप से वे ही कर्म करता है, जो एक सूअर सूअरी के साथ करता है, पर उसने मेघदूत से लेकर रवीन्द्रनाथ की उर्वशी तक इस कृत्य के इर्द-गिर्द कितने मोहक जगत् की सृष्टि की है, जिसके केन्द्र में शारीरिक कृत्य होते हुए भी जैसे और बातें प्रधान हो गई है। यह सब मनुष्य की विचारशक्ति और संगठित ज्ञान की बदौलत हुई है। यह किसने कहा कि प्रेम या सौन्दर्य सम्बन्धी भावुकताएँ प्रगतिवादी ज्ञान से परे की चीजें हैं। सच तो यह है कि जैसा कि एंगेल्स ने कहा है कि इस समय मनुष्य के प्रेम जीवन पर हजारों तरह के प्रत्यक्ष और परोक्ष आर्थिक दबाव पड़ने के कारण प्रेम खुल कर रंगमंच पर आ नहीं पाता, केवल शोषणहीन समाज में ही प्रेम सब तरह के दबावों से मुक्त होकर अपने जौहर दिखा सकता है। कही मेरी कही हुई बात अस्पष्ट न रह जाय, इसलिये एक उदाहरण से यह बता दिया जाय कि एक युवक एक युवती से प्रेम करता है, युवती भी युवक को चाहती है, पर आज के समाज में प्रत्यक्ष या परोक्ष आर्थिक तथा कुसंस्कार-मूलक दबावों के कारण १०० में ९९ क्षेत्रों में वह प्रेम व्यर्थ रह जाता है, यहां तक कि प्रेमिक और प्रेमिका भी अपने को अक्सर समझ नहीं पाते, जहां प्रेम नहीं है, वहां प्रेम

समझ लेते हैं, और जहां है, वहां उससे दूर भागते हैं।

बड़ी अजीब बात है कि मुझ पर यह दोष लगाया है, मानो मैं कोई हेड-निस्ट या स्थूल सुखवादी हूं। वैज्ञानिक गवेषणा की इच्छा, प्रकृति पर विजय पाने की अभिलाषा, शोषण को दूर करने के लिये संग्रामवृत्ति जिस मनुष्य में होंगी, वह स्थूल सुखवादी कैसे हो सकता है। एक तरफ जहां हमारा ध्येय स्थूल सुख के साधनों की इतनी वृद्धि करना है, जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति को वह अधिक से अधिक परिमाण में उपलब्ध हो सके, वैसे ही सुख के स्तर को ऊपर और अधिक ऊपर उठाते जाना हमारा उद्देश्य है। हम सुखप्राप्ति के संग्राम में निराश होकर एक काल्पनिक शान्ति को ध्येय बना कर बैठे नहीं रह सकते, जैसा कि धर्मो में किया जाता है। जो बात इस समय ऐसी मालूम होती है कि उसका कोई समाधान नही दिखाई पड़ता, हम उसका एक काल्पनिक समाधान करके बैठना नही चाहते। हम आगे और प्रयत्न करते हैं, इस तरह बराबर अज्ञात की पीठ दीवार से लगाते जा रहे हैं।

धर्मो का तरीका और है, विज्ञान का तरीका और। धर्म और विज्ञान की स्पर्धा में हम विज्ञान के पक्ष में है। इस सम्बन्ध में एक प्रासंगिक घटना का उल्लेख करना चाहूंगा। एक बार रवीन्द्रनाथ ठाकुर केम्ब्रिज मे ठहरे हुए थे। उन्हीं दिनों वहां बरट्रेण्ड रसेल भी थे। एक दिन ये दोनों सज्जन प्रातःकाल टहलने के लिए निकले, तो एक कैथलिक गिर्जे में धर्मगान हो रहा था। रवीन्द्रनाथ ने बरट्रेण्ड रसेल से कहा—चलिये हम लोग धर्मगान सुनें। इस पर रसेल साहब ने कहा—'धर्मगान, धूप दीप और रंगीन आइने मेरे मन में ऐसी भावनाएँ उत्पन्न करते हैं, जिन पर मेरी बुद्धि गवाही नहीं देती। मै अपने मानसिक आकाश को रहस्यवादी मेघों से मुक्त रखना चाहता हूं।

हम प्रगतिवादियों की भी डा० शर्मा ऐसे लोगों से प्रार्थना है कि वे धर्म, मिथ्या देशभक्ति, हमारे पूर्व पुरुष सर्वज्ञ और सब लायक थे, इत्याकार धारणाओं से हमें बचाये रहें। हम इस प्रकार के मूर्खो के स्वर्ग में रहने के बजाय इस वास्तविकता का सामना करना चाहेंगे कि अभी बहुत-सी समस्याएं सुलझी नहीं है, हमें वैज्ञानिक तरीके से उन्हें सुलझाना है, हमें शोषणहीन समाज की स्थापना करनी है इत्यादि, इत्यादि।

हमें विज्ञान के विरुद्ध ऐसी बचकाना बातें नहीं सुननी है कि विज्ञान अणु बम के लिये जिम्मेदार है। देवताओं और ईश्वर का निर्माण करते-करते इन लोगों की ऐसी मनोवृत्ति हो गई है कि वे विज्ञान को भी एक देवता बना कर बैठाने के लिये तैयार है, और उसमें स्वतन्त्र इच्छा का आरोप करते है। हम यह जानते हैं कि ये भोले भाले लोग उतने भोले भाले नहीं हैं, जितने कि वे दिखाई पड़ते हैं। विज्ञान में स्वतन्त्र इच्छा का आरोप करने से और वैज्ञानिकों को दोष देने से, असलियत पर अच्छी तरह पर्दा पड़ता है, और सत्य का दर्शन नहीं हो पाता। मैंने यह

स्पष्ट कह दिया था कि अणुशक्ति का आविष्कार मानव जाति के लिये एक बहुत बड़े अध्याय का सूचक है। अणुशक्ति के द्वारा जो कार्य अब तक असम्भव मालूम होते थे, वे सम्भव हो गये है। मरुभूमियों को उपजाऊ खेत बनाना अब केवल वर्षों की ही बात है। और भी बहुत-सी बातें हो सकती है जिनसे जीवन सम्बन्धी सारा दृष्टिकोण ही बदल जायगा।

अणु बम के रूप में अणुशक्ति का प्रयोग अवश्य कष्टकर है, पर क्या इतिहास में ऐसा पहली ही बार हुआ है कि शोषक वर्ग ने अपने शोषण को कायम रखने के लिए अच्छे से अच्छे आविष्कारों को पथभ्रष्ट किया है? अणु बम के कारण विज्ञान को गालियां देना उतना ही बुद्धिसंगत होगा, जितना कि सुरंगें खोदने में बारूद का उपयोग न कर नरहत्या में उसके प्रयोग के लिए बारूद को दोष देना। यदि अपात्र के हाथ में पड जाय तो वैज्ञानिक आविष्कार का दुरुपयोग हो सकता है, इसलिए क्या वैज्ञानिक पुस्तकों को जला कर ओर प्रयोगशालाओं को ढहा कर रामनामी ओढ़ कर बैठ जाय ?

यह लोग विज्ञान के विरोध में भूल जाते हैं कि अकेले पेनिसिलिन ने (जो युद्ध-काल का आविष्कार है) उतने आदमियों को बचाया है, जितने द्वितीय महायुद्ध में मारे गये। पेनिसिलिन की तरह अब कई दवाओं का आविष्कार हो चुका है। इनकी बात भुला कर अन्यायपूर्ण ढंग से विज्ञान पर अणु बम का दोष लादना बुद्धि की दीप्ति प्रदर्शित नही करता, इसके विपरीत सन्देह यह होता है कि कहीं यह षड्यन्त्र तो नहीं है।

इससे भी बढ़कर जिद यह है कि दुःख के जब सारे कारण यहां तक कि मृत्यु दूर हो जायगी। (यहां स्मरण रहे कि मृत्यु दूर होने की बात पहले-पहल डा० शर्मा की तरफ से कही गई थी) तब भी दुःख रहेगा। एक मेटाफिजीशियन की तरह डा० शर्मा दुःख के दो भाग बनाते हैं, दुःख ओर मानसिक दु ख, इसके बाद वे यह कल्पना करते है कि विज्ञान ओर हमारे प्रयास याने शोषणहीन समाज की स्थापना से केवल शारीरिक दुःख मिटेंगे। यह किस तर्क से ? प्रियजन की मृत्यु से जो दुःख होता है, वह शारी-रिक है या मानसिक ? मान लीजिए मृत्यु पर विजय हो जाती है, और प्रियजन मृत्यु-जनित दुःख दूर हो जाता है, तो इससे शारीरिक दुःख दूर हुआ या मानसिक ? यदि शारीरिक दुःख का अर्थ अपने शरीर का दुःख है, तब तो प्रियजन मृत्युजनित दुःख मानसिक दुःख है, क्योंकि इससे अपने शरीर को कोई कष्ट नहीं होता। अवश्य मानसिक दुःख के कारण कुछ शारीरिक दु ख पैदा हो सकते हैं, जैसे भूख न रहे, खाना न खाया जाय, स्वाद न रहे, नीद न आवे इत्यादि, इत्यादि। शारीरिक और मान-सिक दुःख को केवल ऊपर बताने हुए अर्थ में ही अलग किया जा सकता है। फिर भी क्या प्रत्येक शारीरिक दुःख अन्ततोगत्वा मानसिक दुःख के रूप में ही सामने नहीं आता ? इसलिए यह धूम्रयवनिका भी व्यर्थ है। अपमान से मानसिक दुःख होता है, पर क्या उसके कारण सभी क्षेत्रों में भौतिक याने व्यावहारिक बातें नहीं होतीं ? यदि हम

अपमान और उसके कारणों का विश्लेषण करें, तो ज्ञात होगा कि अपमान के कारण अक्सर आर्थिक, सामाजिक होंगे।

मै यह मानने से इनकार करता हूं कि मनुष्य केवल पशुओं के समान सुखी है। पहले ही बताया जा चुका है कि मनुष्य ने अपने सुख के स्तर को इतना ऊंचा कर दिया है कि पशुओं के लिये यह स्तर अकल्पनीय है। केवल जरूरत इस बात की है कि जो साधन उपलब्ध है, उनका उचित बंटवारा हो, और अणु बमों, फौजों आदि में जो धन और समय व्यर्थ जाता है, उसका सामाजिक उपयोग हो।

अब मै रामायण सम्बन्धी बातों पर आता हू। जो कुछ श्लोकबद्ध है, उसे काशी के कथावाचक के ढग पर सत्य मानते हुए इतिहास का अन्वेषण नहीं हो सकता। मैंने इस सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसका साराश यह है कि राम आर्यों के शायद एक प्रमुख नेता थे, और उनके नेतृत्व मे दक्षिण का अभियान किया गया। इस प्रकार के अभियान में राम ने मित्र अनार्य जातियो से सहायता ली, और लंका तक अपनी विजय-दुन्दुभी बजवाई। यह एक बहुत ही सीधी सादी बात है, पर डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त स अधिक प्रामाणिक वेदज्ञ बनते हुए भी डा० शर्मा की समझ में यह बात नही आती। वे तो रावण को वेदज्ञ ब्राह्मण मानने पर तुले हुए है क्योंकि ऐसा कही लिखा है। अब यह पूछा जाय कि यदि यह व्याख्या ठीक है, तो फिर रामायण का युद्ध आर्यो का आपसी युद्ध ठहरता है। यदि ऐसा है, तो फिर यह व्याख्या करना ही रह जाता है, कि राम को आर्यो ने पुरुषोत्तम और अवतार क्यों माना? यदि यह कहा जाय कि राम का जीवन एक आदर्श जीवन था, तो उन्ही के समसामयिक राजा जनक उनसे कम आदर्श चरित्र नही थे। मैंने यह तो पहले ही प्रमाणित कर दिया था कि ऋषियों ने आर्यों के साम्राज्य विस्तार मे क्या हिस्सा अदा किया। अब मैं राम-रावण-युद्ध के प्रसंग पर श्री जयचन्द्र विद्यालंकार से कुछ उद्धृत करूंगा। उनका कहना है—

"रामचन्द्र के उपाख्यान पर से कल्पना की रंगत हटा दी जाय, तो वह सुदूर दक्षिण भारत में आर्यो के पहले साहसिक प्रयाण का सीधा सादा वृत्तान्त रह जाता है। उसका परिणाम हुआ पहले-पहल दक्षिण का रास्ता बनाना, न कि उसका स्थायी रूप से आर्यो के अधीन हो जाना। दक्षिण भारत मे रामचन्द्र ने पहले पहल साहसिक प्रयाण किया, उससे आर्यो के लिये दक्षिण का रास्ता खुल गया।"

ऊपर जो बाते कही गई, उनमे यह प्रमाणित हो गया कि डा० शर्मा के रामायण सम्बन्धी विचार भ्रान्त और अज्ञताप्रसूत है। जो बाते काशी के कथावाचक के लिये शोभा देती हैं, वे विद्वन्मण्डली में अकड़ कर कहने लायक नही है। मुझे दुःख के साथ यह कहना पड़ता है कि यह जो कहा गया है कि 'वैदिक युग मे शोषक और शोषित वर्ग थे, यह कथन सर्वथा निराधार है, इससे यह ज्ञात होता है कि भले ही वेदों के भाषातत्व को डा० शर्मा ने अध्ययन किया हो, वे वेदों के आधुनिक ढंग से अध्ययन से हजारों मील दूर

है। जिस समाज में गुलाम अर्थ में दासप्रथा मौजूद थी, जूए में ऋण न चुका पाने पर ऋणी दास बनता था, बाकायदा वेश्याप्रथा थी, उस समाज के सम्बन्ध मे यह कहना साहस का परिचायक है, पर ज्ञान का नहीं। विशेषकर डा० शर्मा ने वैदिक युग में गुलाम अर्थ में दास न होने का उल्लेख किया है। उनकी अवगति के निमित्त श्री जयचन्द्र विद्यालंकार के ये वाक्य उद्धृत किये जाते है :—

"युद्ध मे जीतने के बाद शत्रु की भूमि, दास दासियां और डगर विजेताओं को खूब मिलते।" कही इस उद्धरण मे यह धारणा न बन जाय कि आर्य लोग केवल जीते हुए लोगों को ही दास बनाते थे, इन वाक्यों को भी उद्धृत करना जरूरी है—

"ऋण देने लेने की प्रया भी थी। जूआ खेलने का रिवाज बुरी तरह था, और प्रायः वही ऋण का कारण होता था। ऋण न चुकाने से ऋणी दास बन सकता था।" (द्वितीय संस्करण पृ० २२८–२९)

वैदिक युग में क्या था और क्या नही था, यह एक स्वतन्त्र विषय है, और साहित्य के सम्बन्ध मे वाद-विवाद करते समय यह विषय यों ही उठ गया। फिर भी चूंकि डा० शर्मा ने चुनौती-सी दी है, इसलिये मुझे दो-चार शब्द और कहने पड़ेंगे। विवाह मे दासिया वर को दी जाती थी, वे वधू कहलाती थी। किवान, औसिज, कवस या वत्स नामक वैदिक प्रसिद्ध व्यक्ति गण दासियों के गर्भ से उत्पन्न थे। ऋग्वेद मे एक जुआरी का किस्सा आता है, जो अपनी स्त्री को जूए में हार जाता है, और जब उसकी स्त्री के साथ यथेच्छ व्यवहार होता है, तो वह कुढ़ता है। उसके बाप वगैरह उसे बाध कर उत्तमर्ण के हाथों मे सौंपने को तैयार होते है, यहा तक कि उसे दास बना दिया जाता है। दासों के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में स्ति और उपस्ति का पता मिलता है, जो शायद दास थे। कम से कम उन्हे बाटा जा सकता था। जिमेर का अनुमान है कि स्ति और उपस्ति दास नहीं बल्कि अधीन किसान थे। मै समझता हू इतना प्रमाण ही यथेष्ट है।

अब मैं साहित्य पर फिर लौटता हूं। मै पहले ही बता चुका हूं कि मैं कठमुल्ला प्रगतिवादियों को घृणा की दृष्टि से देखता हू। ये लोग प्रगतिवाद के सबसे बड़े दुश्मन है। ऐसे ही लोगों के सम्बन्ध में मार्क्स ने कहा था—"पर मैं तो मार्क्सवादी नही हू।"

प्रगतिवाद कोई किंभूत किमाकार मतवाद नही है। इसका मूल वक्तव्य केवल इतना ही है कि अच्छे उद्देश्य से साहित्य की सृष्टि की जाय, और साहित्य को शोषक वर्ग का हथियार न रहने दिया जाय। इसी अर्थ में मैंने कहा था कि किसी सभ्यता पर विचार कायम करते समय हम उसके दावों और उदात्त वक्तव्यों को नही लेंगे, बल्कि उसके रोजमर्रे के अभ्यास को लेंगे। इसी अर्थ में हम उपनिषदों की विश्वात्मा की एकता, अथवा गीता की ब्राह्मण, गाय और हाथी में समदर्शिता से हमारे यहां की सभ्यता पर विचार नहीं कायम करते,

बल्कि उसने जिस तरह करोड़ों लोगों को अछूत बना कर पशुवत् रखा, जिस तरह से यहाँ की आर्थिक व्यवस्था में गुलाम, अर्द्ध गुलाम, वेश्या की गुंजाइश रखी गई, उसी से हम इस सभ्यता पर विचार कायम करेंगे। इसी अर्थ में दस बीस व्यक्तियों के राज्य-त्याग से कुछ आता जाता नहीं है, बल्कि उन व्यक्तियों की ईमानदारी दूसरों को भ्रम में डालने के लिये और भी सहायक हो जाती है । उपनिषद आदि साहित्य में इस प्रतिक्रियावादी पहलू के अतिरिक्त उनकी अन्तर्गत वस्तु जैसे रहस्य-वाद आदि उपादान प्रतिक्रियावादी हैं।

लेखक का कर्तव्य यह है कि वह दुनिया को बदलने के लिये, उसे बेहतर बनाने के लिये लेखनी धारण करे। यदि कोई लेखक यह समझता है कि वह इस दुनिया में जब आया था, उसे उससे बेहतर छोड़ गया है या कम से कम उसे बेहतर बनाने में उसने अपनी तरफ से कुछ कसर नहीं रखी, तभी लिखने की सार्थकता है। अनातोल फ्रांस ने यह कहा था कि "कलाकार को चाहिए कि वह जीवन से प्रेम करे, और यह दिखलावे कि वह सुन्दर है, नहीं तो हममें इस पर सन्देह करने की प्रवृत्ति हो सकती है।"

पर इतना ही यथेष्ट नहीं है। जीवन के प्रति प्रेम को व्यक्त करने में लेखक का सक्रिय सहयोग होना चाहिए। अनातोल फ्रांस के वक्तव्य से रोमांरोलाँ का यह वक्तव्य स्पष्टतर है--"मै उन लोगों के लिए लिखता और जीता हूँ, जो किसी एक विश्वास के लिए जिसे वे प्यार करते हैं और जिसकी सफलता और विफलता के सम्बन्ध में कोई भ्रांति न रखकर उसकी सेवा करते है।"

अच्छे विचारों के बिना साहित्य क्या है। अच्छ विचारों से ही साहित्य महान् बनता है, कृति मे स्थायित्व आता है। ऐन्टन चेकाफ ने अपनी एक कहानी में यह दिखलाया था कि "बुटिगा नामक व्यक्ति मानव मात्र से प्रेम रखता था, और यह नहीं मानता था कि वे मर सकते हैं और विनष्ट हो सकते हैं, इसलिए जब वह फर्नीचर बनाता था, तो उसके मन में अमर मानव होता था। पर इंजिनियर ऐसोरिन जीवन से या मानव से प्रेम नहीं करता था और सृजन के सुखी मुहूर्तो में भी मृत्यु, सान्तता तथा विलोप के विचार उसके मन में रहते थे, नतीजा यह है कि हम देखते हैं कि उसकी रेखाएं कितनी व्यर्थ और सान्त, कितनी भीरू और निःस्व है।"

हम इस लेख का अन्त शेली की उस महान् कविता की अन्तिम पक्तियों से करते है जिसमें शेली ने जिस जीवन, प्रेम, साम्राज्य और विजय का जिक्र किया है, साहित्य उसी का प्रकाश है । क्या ऐसा साहित्य प्रतिक्रियावादी, दकियानूसी और क्षुद्र हो सकता है ? उनकी पक्तियां इस प्रकार है :--

To suffer woes which Hope thinks infinite;
To forgive wrongs darker than death or night;
To defy Power, which seems omnipotent;
To love, and bear; to hope till Hope creates

From its own wreck the thing it contemplates;
Neither to change, nor falter, nor repent;
This, like thy glory, Titan, is to be
Good, great and joyous, beautiful and free;
This is alone Life, Joy, Empire, and Victory.

* इस लेख को मैंने यथारीति 'कल्पना' (हैदराबाद) में छपने के लिये भेजा था, क्योंकि वादविवाद उसी पत्र से शुरू हुआ था। 'प्रगतिवाद का स्पष्टीकरण' नामक लेख भी 'कल्पना' में ही छपा था। यह लेख छपने के लिये स्वीकृत भी हुआ था; पर जब वह कई महीने नहीं छपा तो मैंने पत्र लिखा। इसके उत्तर में मुझे यह सूचना दी गई कि 'कल्पना' के सम्पादक मण्डल का यह विचार है (स्मरण रहे सम्पादक मंडल में डा० आर्येन्द्र शर्मा भी हैं) कि 'कल्पना' के पाठकों के सामने सारी बातें आ चुकीं, अतएव इस लेख को छापने की आवश्यकता नहीं है। मैंने इस निर्णय को शिरोधार्य कर लिया। पर पाठकों को यह बात बतानी जरूरी थी क्योंकि विचारों के रजिन्मेटेशन के अध्ययन में यह तथ्य शायद कुछ सहायक हो। क्या इस लेख को पढ़ने के बाद विद्वान् पाठक को यह धारणा होती है कि इसके छपने की आवश्यकता नहीं थी?

चण्डीदास और विद्यापति

अधिक ब्यौरे में न जाने का संकल्प लेकर हम चण्डीदास पर आते हैं, जो बंगला के प्रथम महत्वपूर्ण कवि कहे जा सकते हैं। चण्डीदास की रचनाओं में एक उल्लेख से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि १४०३ ई० के पहले ही वे करीब एक हजार गीत लिख चुके थे। यों तो इनका जन्म वीरभूमि जिले के छातना नामक गांव में हुआ था, पर वे बहुत कम उम्र में ही नानूर नामक गांव में जाकर बस गये थे। वहीं पर वे वासुली देवी के मन्दिर में पुरोहित का काम करते रहे। कवि होने के अतिरिक्त एक प्रेमिक के रूप में चण्डीदास की ख्याति यहां तक हो गई कि उनके नाम पर, "पागल चण्डी" शब्द की उत्पत्ति हुई।

ऐसा मालूम होता है कि चण्डीदास रामी नाम की एक धोबिन के प्रेमिक थे। बात बहुत ही साधारण है, पर इस प्रेम के वर्णन में बड़ी-बड़ी अजीब बातें कही गई हैं। कहा जाता है कि जिस दिन रामी के साथ मिलन के नक्षत्र आ गये, उस दिन चण्डीदास को इसका आभास पहले ही हो गया था। वे मछली बाजार में मछली खरीदने गये हुए थे। वहां वे मोल तोल कर रहे थ कि इतने में एक ग्राहक आया जिसे मछलीवाली ने कविवर से ठहराये हुए दाम से कम दाम पर बड़ी खुशी से मछली दे दी। इस पर कविवर ने मछली वाली से इस प्रकार के भेदबुद्धिमूलक व्यवहार का कारण पूछा। तब मछलीवाली मुस्कराकर बोली—उसकी बात बिल्कुल भिन्न है, हम लोगों में परस्पर प्रेम है।

कविवर इस उत्तर के मथितार्थ पर सोचते रहे, और उसी दिन खुदा न ख्वास्ता रामी धोबिन उनके सामने पड़ गई, और वे उसके प्रेम में व्याकुल हो गये। अब चण्डीदास ने सार्वजनिक रूप से अपने गीतों में उस धोबिन का उल्लेख शुरू किया, इससे हिन्दू समाज में बड़ी खलबली मची, और उन्हें मन्दिर के पुजारित्व से निकाल

दिया गया। यहां तक कि उन्हें जाति से भी निकाल दिया गया। चण्डीदास के भाई नकुल बीच में पड़े और किसी तरह यह तय पाया कि यदि चण्डीदास ब्रह्मभोज दें, तो उन्हें फिर से जाति में ले लिया जायगा। चण्डीदास भोज देने पर राजी हो गये, पर उधर इस भोज की खबर रामी के पास पहुँची। रामी इस खबर से बहुत दुःखी हुई, और वह रोती हुई उस स्थान पर पहुँची, जहां ब्राह्मण भोजन करने में लगे हुए थे। वहां जब उसने चण्डीदास को देखा तो वह और भी रोने लगी। इस पर चण्डीदास सारी परिस्थिति भूलकर रामी के सामने इस प्रकार पहुँचे, जैसे कोई भक्त देवी के सामने जाता है। कहा जाता है कि इस समय कुछ ब्राह्मणों ने धोबिन के पीछे चतुर्भुजा जगदम्बा को देखा।

मालूम होता है कि सब ब्राह्मणों ने चतुर्भुजा जगदम्बा को नहीं देखा, और केवल धोबिन को ही देखा। इसका नतीजा यह हुआ कि चण्डीदास फिर जातिच्युत कर दिये गये। अब तो चण्डीदास और भी खुलकर सामने आये, और उन्होंने खुल्लम-खुल्ला धोबिन को वेदमाता गायत्री करके सम्बोधन करना शुरू किया। ब्राह्मण और भी नाराज हुए, और उनकी जिन्दगी दूभर कर दी गई, फिर भी उनके गीतों में ऐसा जादू था कि जब वे गाते थे, तो जनता उमड़ पड़ती थी। ऐसे कहा जाता है कि वे जिस समय गांव में लोगों को कीर्तन सुना रहे थे, उस समय छत गिर पड़ी, और उनकी मृत्यु हो गई।

चण्डीदास की कविता का मुख्य विषय कृष्ण और राधा है, जिसमें पूर्वराग दौत्य, अभिसार, संभोग-मिलन, अन्तिम विच्छेद और उसके बाद भाव-सम्मेलन या मानसिक रूप से मिलन है। चण्डीदास का प्रचार बंगाल में किसी भी प्रकार उससे कम नहीं है, जितना हिन्दीभाषी प्रान्तों में सूर या तुलसी का है। काव्य की दृष्टि से भी उनकी रचनाएं बहुत उच्चकोटि की है, और उस ढंग की किसी भी भाषा की रचना के साथ उसकी तुलना की जा सकती है। इस छोटे-से लेख में उनके काव्य की सम्यक् आलोचना नहीं की जा सकती, फिर भी उन्होंने कृष्ण की बांसुरी के सम्बन्ध में जो बात कही है—"कानेर भितर दिया मरमे पशिल गो, आकुल करिल मन प्रान" याने कान के अन्दर से होती हुई, मर्म में प्रविष्ट होकर मन और प्राण को आकुल कर देती है, वही बात उनकी कविता के सम्बन्ध में भी लागू होती है। चण्डीदास को और भी अधिक श्रेय इसलिए मिलना चाहिए कि उनके समय में भाषा अभी अविकसित थी, इस कारण उन्हें एक तरफ तो भाषा का निर्माण करना पड़ा, दूसरी तरफ उसमें चमत्कारपूर्ण कविता लिखनी पड़ी।

चण्डीदास तथा इस प्रकार के उस युग के कवियों की कविता को कूतने में एक बात यह याद रखनी चाहिए कि यदि कोई तुल ही जाय, तो इनकी सारी कविताओं को आंशिक रूप से पूर्ववर्ती विशेषकर संस्कृत काव्य की छाया, अनुकरण या जूठन प्रमाणित कर सकता है। इससे न तो चण्डीदास बरी हैं, और न हिन्दी के प्राचीन महा-

कवि। इसलिए हम उस कसौटी को तो छोड़ ही देते हैं। अवश्य यहां यह बता दें कि छाया और अनुकरण के बावजूद उस युग के दूसरी भाषाओं के कवियों की तरह उनमें मौलिकता भी बहुत थी।

चण्डीदास का रूप वर्णन लीजिए—

सुधा छानिया केवा ओ सुधा ढेलेछे गो
ते मति श्यामेर चिकनदेहा
अंजन गंजिया केवा खंजन आनिल रे
चांद निगाड़ी कइल थेहा इत्यादि।

याने किसने अमृत को छान कर के उस अमृत को ढाला है, श्याम की चिकनी देह उसी की तरह है। कौन अंजन लगाकर खंजन ले आया, और फिर चांद का सत निकाला, उसका सत निकालकर मुह बनाया। जवा पुष्प को निचोड़ कर कपोल बनाये गये। बिम्ब फल को चला कर किसने होंठ बनाये और हाथी की सूंड को लजाने वाले भुजदण्ड बनाये ?

ढूंढने पर इस प्रकार का वर्णन सब प्राचीन संस्कृत तथा हिन्दी कवियों की रचनाओं मे प्राप्त हो सकता है, पर यह यादर हे कि चण्डीदास का समय चौदहवीं शताब्दी ओर कुछ ही हद तक पन्द्रहवी शताब्दी था। फिर भी ऐसे वर्णनों में कोई विचित्रता नहीं। पर भारत के प्राचीन कवियों की रचनाओं में अधिकतर इसी प्रकार के वर्णन भरे पड़े हैं।

एक और उदाहरण लीजिए:—

राधार कि होइलो अन्तर व्यथा
से जे बोसिया एकले थाकिये बिरले
ना शुने काहार कथा इत्यादि।

याने राधा को कितनी मानसिक व्यथा है। वह अकेली बैठी है, उसे एकान्त पसन्द है, वह किसी की बात नही सुनती। जैसे ध्यान लगा रही हो, वैसे बादल की तरफ एकटक देख रही है, आंखों की पुतलियां स्थिर हे। वह खाने में रुचि नही रखती और जोगिनों की तरह लाल कपड़ा पहिने हुए है। वह जूड़ा खोल करके फूलों को डाल देती है और फिर अपने लटकते हुए बालों को देखती है। वह आकुल नयनों से बादल की तरफ ताक कर कुछ बड़बड़ाती है। वह एकटक मोर और मोरनी के कण्ठ को देखती है। चण्डीदास कहता है कि काले प्रेमी के साथ नया परिचय मालूम होता है।

ऊपर हम जो कुछ कह आये हैं, वह इस कविता पर भी लागू होता है। फिर भी चण्डीदास की रचनाएं ऐसी प्रतीत होती हैं, जिनमें मौलिकता इस माने में बहुत अधिक है कि अनुप्रेरणा काव्यों से न लेकर शायद लोक-साहित्य और स्वानुभाव से ली गई है। चुटीली भाषा के कारण वे जो कुछ कहते हैं, वह बहुत ही मर्मस्पर्शी बन गया है।

एमन पीरिति कभू देखि नाइ सुनि,
पराने परान बाँधा आपना आपनि इत्यादि ।

याने "ऐसा प्रेम न कहीं देखा गया न सुना गया, प्राणों से प्राण अपने आप बंधा हुआ है। एक दूसरे की गोद में पड़े हुए हैं फिर भी विछोह की बात सोच कर दोनों रो रहे हैं। बात यह है कि एक पल के लिये भी एक दूसरे को न देखें, तो मरने लगते हैं। जल के बिना मीन जैसे कभी नहीं जीता, वैसे ही यह प्रेम है। ऐसा प्रेम मनुष्यों में कभी देखा नहीं गया। कहते हैं सूर्य और कमल का प्रेम है। कमल तो ठंड में मरता रहता है, और सूर्य गुलछर्रे उड़ाता है। चातक और बादल के प्रेम के साथ भी इसकी तुलना नहीं हो सकती, क्योंकि चातक भले ही मर जाय, समय न आने पर बादल एक बूंद भी पानी नहीं देता। पुष्प और मधुकर की भी इस प्रेम से तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि यदि मधुकर खुद न आये, तो पुष्प नहीं जाता। चकोर और चन्द्रमा ये तो कुछ भी नहीं है। चण्डीदास का कहना है कि तीनों भुवन में ऐसा प्रेम नहीं देखा गया।"

एक और पद लीजिए:—

बधु तुमि से आमार प्रान
देह मन आदि तोहारे सँपेछि
कुल शील जाति मान
अखिलेर नाथ तुमि हे कालिया
योगिर आराध्य धन ।
गोप ग्वालिनि हम अति दीना
ना जानी भजन पूजन ।
कलंकी बलिया डाके सब लोके
ताहाते नाहिब, दुःख
तोमार लागिया कलंकेर हार
गलाय परिते सुख

याने "प्रियतम! तुम मेरे प्राण हो। मैंने देह, मन, कुल, शील, जाति, मान, सब तुम्हे सौंप दिया। हे अखिल के नाथ श्याम! तुम योगियों के आराध्य धन हो। हम गोपियां हैं, बड़ी दीन हैं, भजन पूजन कुछ नहीं जानतीं। लोग हम पर कलंक लगाते है, पर उसका मलाल नहीं है। तुम्हारे लिये कलंक का हार गले में धारण करना सुख की बात है।"

चण्डीदास की कविता को कथक सैकड़ों वर्ष से सुना रहे हैं, और गायक गा रहे हैं। आगे चलकर श्री चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव के कारण बंगाल के बाहर विशेषकर उड़ीसा और आसाम में प्रचारित हुई।

विद्यापति भी उसी प्रकार के बंगाल के कवि समझे जाते हैं, जिस प्रकार से चण्डीदास समझे जाते हैं। उनकी कविताओं का भी बंगाल में उसी प्रकार से प्रचार और प्रसार रहा है, जिस प्रकार से चण्डीदास की रचनाओं का प्रचार है। बंगाली उनको बंगला कवि ही समझते रहे हैं, और कोई वजह नहीं कि आगे उन्हें ऐसा न समझा जाय। श्री प्रियरंजन सेन इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"संस्कृत के पर्दे को हटाकर भाषा के अपरूप सौन्दर्य को लेकर विद्यापति आ खड़े हुए। उनका घर मिथिला में था, और जिस भाषा को लेकर उन्होंने काव्य-रचना की वह शुद्ध बंगला नहीं है, फिर भी वह बंगाल के ही कवि हैं। कही पर उनका प्रभाव इतना व्याप्त नही हुआ, जितना बंगाल में हुआ और बाद को जिस तरह श्री चैतन्य महाप्रभु ने उनकी काव्य-साधना को मूर्त किया, वैसा भी कही सम्भव नहीं हुआ। विद्यापति बंगला भाषा के ही कवि हैं, यद्यपि मैथिल साहित्य के पक्ष मे डिग्री हो चुकी है।* "

इसमें सन्देह नही कि विद्यापति ने मैथिल भाषा में रचना की, पर बंगाल में उनकी रचनाओं का जो संस्करण प्रचलित है, वह मिथिला में प्राप्त संस्करण से कुछ भिन्न है। ऐसा अनुमान करना अनुचित न होगा कि बंगालियों के द्वारा गाये जाते-जाते मूल रचना का बंगीकरण हुआ। साहित्य के इतिहास मे इस प्रकार की बात अज्ञात नही है। श्री दिनेश सेन का तो यहां तक कहना है कि बंगाल में प्रचलित विद्यापति की रचनाएं कही-कही मिथिला मे सुरक्षित उनके मैथिल संस्करण से उच्च कोटि की है। विद्यापति के नाम से प्रचलित कई उत्कृष्ट रचनाएं जैसे:—

जनम अवधि हम रूप नेहारिनु
नयन न तिरपित भेल
लाख लाख युग हिये हिय राखिनु
तबहुँ जुड़न न भेल

बंगाल में ही पाई जाती है, और मिथिला मे उनका कोई पता नहीं है। अनुश्रुति यह है कि जसोर के राजा प्रतापादित्य के चाचा वसंतराय ने विद्यापति का बंगला संस्करण तैयार किया। जो भी हो, इस बंगला संस्करण के कारण विद्यापति को केवल रियायती तौर पर नही एक विशुद्ध बंगला कवि भी माना जा सकता है। यहां पर मै एक बात यह भी कह दूं कि यों हिन्दी के संग्रहों में विद्यापति एक प्राचीन हिन्दी कवि करके दिखाये जाते है पर हिन्दी के नवरत्नों तक में उनकी गिनती नहीं है। मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि विद्यापति की उचित कद्र हिन्दी में नही हुई है। मेरा निजी मत यह है कि वे सूर या तुलसी से किसी प्रकार घटकर नहीं हैं।

विद्यापति की जीवनी के ब्यौरे में जाने की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी के संग्रहों में भी उनकी जीवनी पढी जा सकती है। विद्यापति चौदहवीं सदी के अन्त की

* बांगला साहित्येर खसड़ा पृ० ५९

ओर पैदा हुए, और ऐसा समझा जाता है कि वे बहुत दीर्घजीवी रहे। विद्यापति राजा शिवसिंह के सभाकवि थे। जनश्रुति है कि वे रानी से प्रेम करते थे, जो उसी प्रकार था, जैसे नक्षत्र के लिए पतंग का प्रेम है। कहा जाता है कि विद्यापति और चण्डीदास में गंगा किनारे भेंट भी हुई थी। विद्यापति का बंगीकरण किसी-किसी क्षेत्र में इतना अधिक हुआ कि उनकी बंगीकृत रचनाओं को बंगला के अलावा कुछ समझना मुश्किल है। प्रत्येक बंगाली के निकट सुपरिचित इन पंक्तियों को देखिए:—

मरिब मरिब सखि, निचय मरिब
कानु हेन गुणनिधि, कारे दिये जाबो।
तोमरा जतेक सखि, थाक्ह मझु संगे,
मरण काले कृष्ण नाम लिख आमार अंगे।
ना पुड़ाओ राधा अंग, ना भासाइयो जले,
मरिले बांधिया रेख, तमालेर डाले।

चण्डीदास और विद्यापति की तुलना करते हुए डा० सेन कहते हैं—"ऐसा मालूम होता है कि चण्डीदास तो प्रकृति से अनुप्रेरित हैं, उनकी पुकार आत्मा की गहराइयों से उठी हुई पुकार है, नतीजा यह है कि साहित्यिक अलंकरण पर ध्यान नहीं दिया जाता कविता एक स्वाभाविक सोते से उमड़कर निकल पड़ती है, और उसके विशुद्ध सोते मे कोई मिलावट नहीं है, पर विद्यापति एक आत्मज्ञान सम्पन्न कवि-और सुलझे हुए विद्वान् हैं। उनकी उपमाएं और उत्प्रेक्षाएं प्रतिभा से उज्ज्वल कवि-कीर्ति के रूप मे हैं, उनकी कविताएं फौरन कर्णो को मुग्ध कर लेती है, और जिस साहस के साथ वे रंग भरते है, उनमे आंखें चकाचौंध हो जाती हैं। चण्डीदास उच्चतर मण्डलों के पक्षी हैं जहां सम्भव है पार्थिव सौन्दर्य कम हो, पर वह स्वर्ग के अधिक निकट है। इसके विपरीत विद्यापति दिन भर सूर्यचुम्बित कुंजों और पुष्पोद्यानों में विचरते रहते हैं, पर संध्या समय वे ऊँचे उड़ते हैं और वे चण्डीदास को पकड़ लेते हैं।* श्री अन्नदाशंकर राय और लीलाराय ने भी विद्यापति के सम्बन्ध में यह लिखा है:—"यद्यपि विद्यापति ऐहिक और विदग्ध थे, फिर भी उनमें चण्डीदास की आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि और भावनागत गहराई का अभाव है, जिसकी पूर्ति वे छन्द और वाक्य-विन्यास पर अद्भुत अधिकार से कर देते हैं। वे जिस प्रकार सौन्दर्य को उसके सब स्वरूपों में चित्रित करते है, उससे वे निश्चित रूप से एक महाकवि प्रमाणित होते हैं।"

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखने योग्य है कि कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ विद्यापति से बहुत प्रभावित हुए। अन्नदाशंकर के अनुसार प्राचीन कवियों मे वे कालिदास और विद्यापति से ही अधिक प्रभावित हुए।

---

*बंगला भाषा और साहित्य का इतिहास (सेन) पृ० १४९

विभिन्न भाषाओं के अध्ययन की सामग्री

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ-साथ अन्य सैकड़ों प्रश्नों के साथ यह भी एक प्रश्न उठ रहा है कि अब भारतवर्ष में अंग्रेजी भाषा का क्या स्थान हो। दुःख है कि इतने बड़े विषय पर विचार करते समय भावुकता से काम लिया जाता है, एवं वस्तु-स्थिति पर विचार नहीं किया जाता है। कुछ लोग तो यह कह रहे हैं कि तुरन्त अंग्रेजी को सब तरह से हमारे जीवन से निकाल दिया जाय, और कुछ लोग, जिनकी संख्या अधिक नहीं है, पर वे प्रभावशाली हैं, यह कह रहे हैं कि अंग्रेज भले ही चले गये हों, अंग्रेजी का रहना आवश्यक है। हिन्दी राष्ट्रभाषा रूप में स्वीकृत हो जाने पर भी इस वितर्क में विराम नहीं आया।

इन दो वक्तव्यों में से कौन-सा वक्तव्य, सत्य के अधिक निकट है इस विषय पर हम तभी किसी नतीजे पर पहुँच सकते हैं जब हम दोनों पक्ष के तर्कों पर विचार करें, इसलिए हम पहले दोनों पक्षों के तर्कों पर प्रकाश डालेंगे।

यह तो बिल्कुल स्वाभाविक है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अन्त के साथ-साथ अंग्रेजी की वह मर्यादा रह नहीं सकती। यह कहना बिल्कुल गलत है कि भारतवर्ष में अंग्रेजी को जो स्थान प्राप्त हुआ, वह शेक्सपियर, मिल्टन, शेली, कीट्स, बायरन, शा, गेल्सवर्दी आदि के कारण प्राप्त हुआ है। यदि भारतवर्ष में अंग्रेजों का राज्य स्थापित न होता तो ये सब बड़े-बड़े युगान्तकारी लेखक तथा कवि धरे ही रह जाते, पर भारतवर्ष में अंग्रेजी का इतना प्रचार न होता। जर्मन, फ्रेंच तथा रूसी भाषा में अच्छे से अच्छे लेखक हुए हैं, और उनमें गेटे, शिलर, कैंट, हेगेल, मार्क्स, विक्टर ह्यूगो, रासीन, अनातोल फ्रांस, रोमांरोलाँ, तुर्गनेव गोर्की, आदि बहुत से बड़े-बड़े लेखक हुए हैं, पर उन भाषाओं का भारतवर्ष में प्रचार नहीं के बराबर है। इसलिए जो लोग अंग्रेजी के प्रचार के सम्बन्ध में उस साहित्य की

उत्तमता के तर्क को पेश करते हैं, वे थोथी बात करते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

किसी भाषा का विदेशों में प्रचार केवल साहित्य की उत्तमता के कारण ही होता हो, ऐसी बात नहीं। कम से कम इतिहास का कोई भी विद्यार्थी जानता है कि अंग्रेजी का प्रचार भारतवर्ष में इस रूप में नहीं हुआ। अंग्रेजी साम्राज्य स्थापित होने के पहले शेक्सपियर का जन्म तथा उदय हो चुका था; पर इस कारण यहां कौन अंग्रेजी सीखता था? यदि कहा जाय कि उन युगों में यातायात का साधन सुलभ नहीं था, और प्रत्येक देश बहुत कुछ आत्मसमाहित-सा रहता था, तो यह पूछा जा सकता है कि वर्तमान समय में अंग्रेजी के अतिरिक्त कम से कम फ्रेंच तथा जर्मन साहित्य बहुत उच्च कोटि का है, पर इस कारण इनका प्रचार भारतवर्ष में कितना है? यहां एक हजार अंग्रेजीदां पर एक फ्रेंच या जर्मन जानने वाला मिलेगा या नहीं इसमें सन्देह है। यह स्पष्ट है कि साहित्य की उत्तमतावाला तर्क केवल बाद का एक तर्क है।

हम भाषाओं के प्रश्न पर विचार करते हुए कई अन्य कारणों पर पहुँचते हैं। एक तो भाषा का प्रचार राज्य विस्तार के द्वारा होता है। विजेता जाति अपने झण्डे के साथ-साथ अपनी भाषा को भी ले जाती है। अन्य देशों की बात जाने दी जाय, भारतवर्ष में अंग्रेजी के पहले जो फारसी का रिवाज था वह शेखसादी, हाफिज उमरखय्याम आदि के कारण नहीं, बल्कि इन विदेशी विजेताओं के कारण था जिनकी या तो फारसी मातृभाषा थी, या जिन्होंने फारसी को मातृभाषा की मर्यादा दे रखी थी। अंग्रेजी के पहले फारसी इसी कारण से राज्यभाषा थी।

जैसे अंग्रेजी के क्षेत्र में शेक्सपियर आदि को उसके भारत में प्रचार का कारण कहना गलत होगा, उसी प्रकार फारसी के भारत में प्रचार के लिए रुदकि, शेखसादी आदि का नाम लेना गलत होगा। साहित्य की उत्तमता की दृष्टि से देखा जाय तो संस्कृत का ईरान में प्रचार होना चाहिए था न कि भारत में फारसी का।

अंग्रेजी एक विश्वभाषा हो गई, इसका कारण अंग्रेजों का विराट् साम्राज्य है। अंग्रेजों ने तो कई नये देशों की भाषा ही अंग्रेजी बना दी। ऐसे देशों में अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, कैनेडा, दक्षिण अफ्रीका आदि हैं। क्या कोई यह कह सकता है कि यदि अंग्रेज जाकर इन देशों को जीतकर उनके प्राचीन अधिवासियों को मारकर या सम्पूर्ण रूप से दबाकर अपने देश के लोगों को उन देशों में ले जाकर बसा न देते, तो उन देशों में अंग्रेजी का प्रचार होता? उसी प्रकार यदि भारत, मलयद्वीप, बर्मा, अफ्रीका आदि देशों में ब्रिटेन का साम्राज्य न होता, तो क्या इन देशों में इतने अंग्रेजीदां होते? स्पष्ट है कि न होते।

भाषा के प्रचार का एक कारण धार्मिक भी हो सकता है। अरब के बाहर अरबी का जितना भी प्रचार है, वह सब अधिकांश रूप से धार्मिक कारण से ही है। हो सकता है कि अरबी साहित्य अपने ढंग से ऐश्वर्यशाली हो, पर यह कहना कि वह इसी कारण प्रचारित हुआ है तथ्य से बिल्कुल दूर होगा। मुसलमान जिन-जिन देशों में

गये, या मुसलमानी जिन-जिन देशों में गई. उन-उन देशों में अरबी का पठन-पाठन भी गया।

अंग्रेजी के क्षेत्र में यह कारण एक हद तक ही क्रियाशील रहा। जो लोग ईसाई बने, उनमें से बहुतेरे गोरे मिशनरियों या मिशनों के ज़रिए से ईसाई बने, इस कारण राजभाषा के अतिरिक्त धार्मिक रूप से भी उनमें अंग्रेजी की कुछ भक्ति पैदा हुई। पर यह कारण बहुत ही गौण रहा।

ऊपर जो कुछ लिखा गया उससे स्पष्ट है कि अंग्रेजी न तो यहां साहित्य की उत्तमता के कारण आई, और न वह इस कारण रह सकती है। जब से अंग्रेज भारतवर्ष में आये, तब से भारत की प्रतिभा का एक बड़ा अंश उसी के जरिए विकसित हुआ। कितने ही ऐसे व्यक्तियों ने जो कदाचित् अपनी मातृभाषा के साहित्य को अपनी रचनाओं से अलंकृत करते, अंग्रेजी को अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में अपनाने के लिए बाध्य हुए। इन रचनाओं से अंग्रेजी साहित्य समृद्ध हुआ पर इसी हद तक देशी भाषाओं का नुकसान हुआ। अरविन्द घोष, विवेकानन्द, भगवानदास, रवीन्द्रनाथ, सरोजिनी, राधाकृष्णन, जवाहरलाल, महात्मा जी, राजेन्द्र बाबू, मुल्कराज आनन्द आदि कितने ही भारत के लालों ने अंग्रेजी मे लिखा और उसके साहित्य को समृद्ध किया। सर्वकाल के लिए यह साहित्य अग्रेजी का हो गया। मजे की बात यह है कि आज किसी भी भारतीय भाषा में भारतीय दर्शन का उतना विस्तृत तथा प्रमाणिक इतिहास मौजूद नही है, जितना अग्रेजी में है, और अंग्रेजी में एक नहीं, कई प्रामाणिक इतिहास है।

हिन्दी, बंगला आदि साहित्य के कई टैकनिकल अंग बिलकुल नहीं के बराबर है, पर भारतीय लेखकों के द्वारा लिखी हुई इस सम्बन्ध की अंग्रेजी पुस्तकों को ही लिया जाय, तो ज्ञात होगा कि अंग्रेजी साहित्य बहुत ऐश्वर्यशाली है। यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि यदि मातृभाषाओं को उन्नत करके उन्हें जगत् की समृद्ध भाषाओं के साथ एक पंक्ति में लाना है, तो भविष्य मे भारतीय प्रतिभा के इस रोड़े को रोकना पड़ेगा। इस बात को विशेषकर हम उठाने के लिए मजबूर हैं, क्योंकि स्वतन्त्रता मिलने के बाद भी अंग्रेजी पत्रों की ग्राहक-संख्या भारतीय भाषाओं के पत्रों से कही अधिक है।

जब रोड़े की बात चल पड़ी तो हम केवल पुस्तकों तक ही अपने को सीमित नही रख सकते। अंग्रेजी समाचार-पत्रों, दैनिकों, साप्ताहिकों एवं मासिकों के रूप मे हमारी बहुत-सी प्रतिभा मातृभाषा के क्षेत्र के बाहर खर्च हो रही है। उसे रोकना ही पड़ेगा। यदि साधारण तौर पर कहा जाय तो यह मानना ही पड़ेगा कि देशी भाषा के पत्र अंग्रेजी पत्रों के मुकाबले में निकृष्ट होते हैं। उनका सम्पादन, उनके लेख, और बहुत से क्षेत्रों में तो उनकी समाचार सर्विस अंग्रेजी पत्रों से निकृष्ट होती है और इसलिए लोग उन्हें पढ़ते कम है, इसलिए वे बिकते कम हैं और उनकी उन्नति नहीं हो पाती। अंग्रेजी पत्रों के सम्पादकों तथा लेखकों को हिन्दी बंगला आदि पत्रों के लेखकों

से अधिक पारिश्रमिक मिलता है, इसी कारण वे अच्छे लेख भी लिख सकते हैं। आजकल का युग Reference याने प्रामाणिक ग्रन्थ को देखकर, उनकी सहायता लेकर तब कुछ कहने का या लिखने का युग है। केवल दिमाग से तथ्यपूर्ण लेख नहीं निकल सकते।

अच्छा लिखने के लिए यह जरूरी है कि लेखक हर समय न लिखे। उसे अवसर तथा सुयोग हो, जिससे वह आलोच्य विषय के सम्बन्ध में ताजी से ताजी जानकारी प्राप्त कर सके, नहीं तो उसका लेख घटिया दर्जे का होने के लिए बाध्य है। केवल सुललित वाक्यविन्यास से तथ्यों की दरिद्रता तथा जानकारी की कमी छिपाई नहीं जा सकती, और यदि किसी कारण से छिपाई भी जा सके, तो वह लेख निकृष्ट होगा, पर पैसे कम मिलने के कारण देशी भाषाओं के लेखकों को यह सुविधा नही होती कि वे अपने विषय पर पुस्तकें खरीद सकें। इसलिए देशी भाषाओं की द्रुत उन्नति के लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि कम से कम अंग्रेजी दैनिकों को बन्द कर दिया जाय। यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार का आर्डिनेन्स बनाना व्यक्ति की स्वाधीनता पर आघात करना है, पर यह बात नही है। अंग्रेजी यहां कृत्रिम रूप से ही आई है। यह सत्य है कि इस साहित्य के संस्पर्श में आने के कारण प्रारम्भ में देशी भाषाओं को बड़ी उत्तेजना मिली और तभी से देशी भाषाओं में आधुनिक साहित्य का उदय हुआ, पर इस रूप में अंग्रेजी ने देशी भाषाओं को जितना फायदा पहुँचाया उससे कही अधिक क्षति भारतीय लेखकों के अंग्रेजी को माध्यम बनाने के कारण हुई। अब समय आ गया है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ-साथ कम से कम २० साल के लिए भारत मे अंग्रेजी दैनिकों का निकालना बन्द कर दिया जाय। इन अंग्रेजी दैनिकों को एक मियाद दी जाय जिसके अन्दर यदि वे चाहें तो अपने को देशी भाषा के पत्र में परिणत कर दें, उसके बाद उन्हें बन्द कर दिया जाय। स्वतन्त्र जाति के सदस्य के लिए यह लज्जा की बात है कि वह सवेरे उठ कर एक विदेशी, विशेषकर उस भाषा के ज़रिये से अपने देश की खबर जाने जो अब तक जबर्दस्ती यहां की राजभाषा बनी हुई थी। इस लज्जा का निराकरण अत्यन्त आवश्यक है।

यह हम मानते हैं कि अंग्रेजी भले ही यहां जबर्दस्ती आई हो और एक विदेशी शासन की जबर्दस्ती के कारण ही हमें कई पुश्त से अंग्रेजी सीखनी पड़ी हो, पर अब चूंकि उसका पटन-पाठन यहां बहुत दिनों से होता रहा है इस कारण उसका पठन-पाठन एक हद तक आसान भी हो गया है। साथ ही चूंकि वह अंग्रेजी जगत् के साथ हमारे लेन-देन की भाषा है, इस कारण उसे हम बिल्कुल त्याग नहीं सकते हैं, और न इसमें हित ही है कि हम उसे सम्पूर्ण रूप से त्यागें। पर इसके लिए यह कतई आवश्यक नहीं है कि देशी भाषा के दैनिकों का गला घोंट कर अंग्रेजी दैनिक निकाले जायं। हम दूसरे देश की बातों को जानने के लिए अंग्रेजी की सहायता लेते रहें। बाहर से अंग्रेजी साप्ताहिक, मासिक, दैनिक मंगायें; अपनी बात दुनिया को कहने के

लिए अंग्रेजी में साप्ताहिक और मासिक आदि निकालें, यह ठीक है। इस सम्बन्ध में हमें किसी प्रकार आपत्ति नहीं हो सकती।

पर इसके साथ ही अब एक बात और कहने की जरूरत है, वह यह है कि स्वतन्त्र हो जाने के बाद यह हमारी मर्यादा के विरुद्ध होगा कि हम अंग्रेजी क ही चश्मे के ज़रिये से सारी दुनिया को देखें। पच्चीस-तीस साल पहले ही श्री विनयकुमार सरकार ने इस प्रश्न को भारतीय विद्वत्समाज के सामने रखा था। श्री सरकार स्वयं इस विषय के आदर्श थे। उन्होंने रोम में रहते समय इटालियन में, फ्रांस में फ्रेंच में, और जर्मनी तथा आस्ट्रिया में जर्मन में भारत की संस्कृति पर व्याख्यान दिये। उनका कहना था और यह ठीक है कि किसी भी जाति के लेखक कितने भी निष्पक्ष बनें, वे एक ऐसे दृष्टिकोण का प्रतिपादन करेंगे ही जो उस जाति के लिए ही विशेष है। इसलिए उनके मतानुसार उचित यह था कि हमारे यहां के नौजवान अंग्रेजी के अतिरिक्त दूसरी-दूसरी भाषाओं को सीखें, और उनके ज़रिये से जगत् को देखें।

इसमें सन्देह नहीं कि जो हजारों लोग आज अंग्रेजीदां हैं, वे अंग्रेजी के माध्यम से ही जगत् को देखने के अभ्यस्त हैं और देखेंगे, पर हमारे नौजवानों को चाहिये कि वे अंग्रेजी के अतिरिक्त जगत् की दूसरी मुख्य भाषाओं को भी सीखें। इस प्रकार जब हम सभी जातियों के दृष्टिकोणों से जगत् को देखेंगे तभी हमें जगत् के सम्बन्ध में सही ज्ञान प्राप्त होगा। मैं समझता हूं कि जब स्वतन्त्र भारत के स्वतन्त्र विश्वविद्यालयों का पाठ्यक्रम तैयार किया जायेगा, तो उसमें प्रारम्भिक श्रेणियों में तो मातृभाषा के अतिरिक्त किसी भी भाषा को स्थान न दिया जायगा। भाषा शिक्षण-विशेषज्ञों के मतानुसार भी जब एक छात्र किसी एक भाषा को तुलनात्मक रूप से अच्छी तरह सीख लेता है तभी उसे दूसरी भाषा शुरू करानी चाहिये, तब उसे जल्दी सीखेगा। हमारे यहां यह जो प्रथा है कि बचपन से ही दो-तीन भाषाओं को एक साथ शुरू कराया जाता है, भाषाशिक्षा की दृष्टि से यह बिल्कुल गलत है। इसी शिक्षा का नतीजा यह है कि लोग एक भी भाषा को पुख्तगी के साथ नहीं सीख पाते।

जब आगे बढ़े हुए छात्र को कोई विदेशी भाषा सिखाई जाय जैसे अंग्रेजी, तो मेरी राय यह है कि प्रत्येक छात्र को एक ही भाषा अंग्रेजी सीखने के लिये बाध्य न किया जाय। प्रत्येक उच्च शिक्षा देने वाली संस्था में इस बात की व्यवस्था होनी चाहिये कि छात्र चाहे तो अंग्रेजी सीखे, चाहे फ्रेंच, जर्मन, रूसी, स्पेनिश या इस प्रकार की कोई विश्व-भाषा सीखे। शुरू-शुरू मे तो छात्रों को फ्रेंच, जर्मन, स्पेनिश, रूसी भाषा सीखने के लिये प्रोत्साहन के निमित्त विशेष पुरस्कारों की व्यवस्था की जाय। हम अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त हो चुके पर हमें अंग्रेजी की गुलामी से भी मुक्त होना है।

पर अंग्रेजी से मुक्ति अंग्रेजी छोड़कर संस्कृत, फारसी, अरबी या भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं को सीखने से न होगी। अंग्रजी को छोड़कर हमें उसकी जगह पर ऐसी भाषा सीखनी पड़ेगी जो उसके अभाव की पूर्ति कर सके। कहना न होगा कि फारसी आदि भाषाएं इस अभाव की पूर्ति नहीं कर सकतीं क्योंकि वे हमारी हिन्दी बंगला आदि भाषा से पिछड़ी हुई हैं।

इससे हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि लोग इन भाषाओं का पटन-पाठन छोड़ दें। बल्कि हम तो यह चाहते हैं कि एशिया की इन भाषाओं का पहले से अधिक व्यापक रूप में शिक्षण होना चाहिये, क्योंकि हमें एशिया के अन्य देशों से मित्रता करनी है और जहां भी जो प्रगतिशील ताकत है, उसे सहायता पहुंचानी है। हमें अपने पड़ोसियों को और भी व्यापक रूप से तथा गहराई के साथ समझना चाहिये। हमें निरन्तर उनके साहित्य से सम्बन्ध बनाये रखना चाहिये। प्रत्येक हिन्दी बंगला दैनिक पत्र के दफ्तर में ऐसे व्यक्ति होने चाहियें जो नियमित रूप से चीनी, जापानी, ईरानी, अरबी आदि रेडियो को सुनें; वहां की राजनीतिक अन्तर्धाराओं को समझें, वहां के साहित्य के उद्यान से पुष्प तथा विचार चुन कर हमारे साहित्य को समृद्ध करें। एक बड़ी जाति बनने के लिये हमें इन बातों को करना ही है, नही तो स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नही होगा।

हम यह चाहते है कि पहले से अधिक व्यापक रूप में लोग संस्कृत का पठन-पाठन करें, इसलिये नही कि वह देव-भाषा है, इसलिये नहीं कि उसका कोई धार्मिक महत्व है बल्कि इसलिये कि संस्कृत में ही प्राचीन इतिहास, साहित्य और कला की जड़े मौजूद हैं। हम आज भले ही उस संस्कृति को वर्तमान काल के उपयुक्त न समझें और ऐसा समझना हमारे लिये स्वाभाविक ही है पर अपनी जड़ों को जानने के लिये हमें पहले अच्छी तरह संस्कृत का अध्ययन करना है।

अन्त में स्वतन्त्र भारत की भाषा, शिक्षा के सम्बन्ध में हमें यह बात स्पष्ट कर देना है कि जैसे आज लोग स्कूलों में संस्कृत, फारसी, अरबी सीखते हैं, उस प्रकार से हमें कोई भाषा नही सीखनी है। हम जिस भाषा को सीखेंगे उसे अच्छी तरह सीखेंगे। हम ऐसी भाषा को सीखेंगे ही नही जिसका हमारे कर्मजीवन के साथ कोई अनिवार्य सम्बन्ध न हो। जिस भाषा का कर्मजीवन से कोई सम्बन्ध नही होता उसके सीखने में जो भी कर्मशक्ति लगेगी वह व्यर्थ ही होगी।

मैं पहले ही बता चुका हूं कि प्रारम्भिक शिक्षा में मातृभाषा के अतिरिक्त किसी भाषा की शिक्षा आवश्यक नहीं, पर उच्च शिक्षा में बहुत दिनों तक हमें मातृभाषा के अतिरिक्त एक यूरोपियन भाषा, एक भारतीय भाषा, तथा हो सके तो एक अन्य एशियाई भाषा सीखनी पडेगी। इसी से हम अपने देश को सफल तथा पूर्ण सम्पन्न बना सकेंगे।

एक विचारणीय योजना

जब से हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर वैधानिक रूपसे आरूढ़ हो गई है, तब से हिन्दी के साहित्यकारों तथा साहित्य से सम्बद्ध अन्य लोगों जैसे प्रकाशकों आदि का कर्तव्य बहुत बढ़ गया है । चाहे किसी को बुरी लगे, अंग्रेजी से तुलना की बात तो दूर रही, कई प्रादेशिक भाषाएँ ऐसी हैं, जिनकी तुलना में हिन्दी का साहित्य निकृष्टतर प्रमाणित होता है । राजर्षि टंडन की तरह कबीर, सूर और तुलसी को लेकर सन्तुष्ट रहना कठिन है ।

आज की आवश्यकताएँ कुछ और हैं । आज केवल भक्तिरस की कविताओं को लेकर जीवन-यात्रा में सफल होना या चलना असम्भव है । यहां तक कि उपन्यासों और कहानियों को पूंजी बना कर आज के जगत् में चला नहीं जा सकता । सच तो यह है कि कोई भी जाति केवल दर्शनशास्त्र, कविता, उपन्यास, नाटक को ही लेकर महान् नहीं हो सकती । आज हमें रेडियो पर, इंजिनियरिंग पर, विभिन्न यन्त्र-शास्त्रों पर, नौविद्या तथा युद्धविद्या पर हिन्दी में साहित्य चाहिए । साहित्य के संकुचित अर्थ में इनको शायद साहित्य में स्थान न मिले, पर बृहत्तर साहित्य में इनका स्थान अनिवार्य है । इन्हीं की बदौलत हिन्दी ऐसी हो जायगी कि कोई उसकी अवज्ञा नहीं कर सकेगा ।

जब हम अपने चारों ओर इस दृष्टि से आंख उठाते हैं, तो हमें इस सम्बन्ध में बड़ी निराशा होती है । यदि इस सम्बन्ध में योजना बना कर लोगों को हम कुछ करते देखते, तो हमें तसल्ली होती; क्योंकि चाहे जितना बड़ा कार्य हो, उसका प्रारम्भ छोटा और अप्रसिद्ध होता है । पर इस तरफ तो किसी का ध्यान भी नहीं गया है ।

राष्ट्रभाषा के अतिरिक्त हिन्दी लगभग दस राज्यों की भाषा भी है । इस दृष्टि से हिन्दी के लिये जितना काम सम्भव है, उतना किसी और भाषा के लिए सम्भव नहीं

है। पर यह तो सिद्धान्त की बात हुई, व्यावहारिक क्षेत्र में जो कुछ हो रहा है, उससे आशा न बढ़ कर निराशा ही होती है। हिन्दी के क्षेत्र मे इतनी तो आशा करनी ही चाहिए, और ऐसा करने में हम किसी दुराशा के शिकार नहीं हो रहे हैं कि हिन्दी के ये दस राज्य एक साथ मिल कर भाषा के क्षेत्र में काम करेंगे। पर वस्तुस्थिति बिल्कुल इसके विपरीत है। हर एक हिन्दी प्रान्त में लोग अपनी अपनी डेढ़ ईंट की मस्जिद बनाने मे व्यस्त हैं। जो देखो सो अपनी ही खिचड़ी पका रहा है। यदि यह कहा जाय कि हिन्दी क्षेत्र में, 'बारह कनौजिया तेरह चूल्हे' की कहावत चरितार्थ हो रही है, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

प्रत्येक हिन्दी राज्य के अपने-अपने हिन्दी विशेषज्ञ है, जो अपने ढंग से नये-नये पारिभाषिक शब्द बनाने में लगे हुए है, जिनके नमूने हम उनके प्रकाशनो आदि मे देख सकते है। यदि यह हिन्दी की सेवा है, तो हिन्दी की असेवा किसे कहेंगे? यदि हिन्दी की खड़ीबोली एक और अविभाज्य है, तो उसमे यह धीगाधींगी कैसे बर्दाश्त की जा सकती है कि एक ही अंग्रेजी शब्द का भिन्न-भिन्न हिन्दी राज्यों में भिन्न-भिन्न अनुवाद प्रचलित हो? इस प्रक्रिया को जारी रखने से खतरा यह है कि जिस प्रकार मे अंग्रेजी एक तो राजा की अंग्रेजी, और दूसरी अमेरिकन अंग्रेजी में विभक्त हो गई है और मुख्यतः दोनों अग्रेजी एक होने पर भी उनमें सूक्ष्म प्रभेद हो गये है, और कई ईडियम बिल्कुल एक दूसरे के पल्ले नही पड़ते, उस प्रकार हिन्दी में भी हो सकता है।

मुझे आश्चर्य है कि हिन्दी के बहुत कम विद्वानों को भी इस प्रश्न का इस रूप मे ज्ञान है। इसका कारण शायद यह है कि कई बहुत महत्वपूर्ण व्यक्ति जिनसे यह आशा की जा सकती है कि कुछ सोचेंगे, वे किसी न किसी स्थिर स्वार्थ से संयुक्त है। ऐसी अवस्था मे या तो राजनैतिक नेता कुछ सोच नही पाते, या जैसा उन्हें सोचने के लिए बाध्य किया जाता है, वैसा सोचते हैं। कुछ भी हो उसका नतीजा यह होता है कि हिन्दी के क्षेत्र को जिस बात से बल मिलना चाहिए, उससे बल न मिल कर उल्टा वह कमजोरी का कारण बन रही है।

जब मैंने विभिन्न राज्यों की बात उठा दी, तो इसके एक अन्य पहलू पर भी दृष्टि आकृष्ट कर दें, क्योंकि उससे भी हिन्दी की बहुत कमजोरी हो रही है। वह यह है कि यद्यपि हिन्दी देखने में एक है, पर कार्यतः उसके अन्दर प्रान्तीयता का बड़ा जोर हो रहा है। यदि हिन्दी एक है, तो पाठ्य-पुस्तकों को चुनने मे इसी बात का ख्याल रखना चाहिए कि जो पुस्तक अच्छी है, वही चुनी जाय, चाहे वह किसी राज्य से प्रकाशित हुई हो, और उसका लेखक किसी राज्य का हो, पर होता इसके विपरीत है।

कहा जाता है कि स्थानीय प्रतिभाओं को मौका मिलना चाहिए। यदि सब बातें बराबर हैं, तो स्थानीय प्रतिभा को तरजीह देना एक हद तक समझ में आ

सकता है, पर जहां उन्नीस बीस का भी फरक है, वहां अपने राज्य का होने के कारण किसी लेखक को तरजीह देना बिल्कुल गलत है। प्रान्तीय आधार पर पाठ्य-पुस्तकों को चुनना या पुरस्कार देना हिन्दी की एकता की जड़ में कुठाराघात करना है।

क्या ऐसा नही हो सकता कि हिन्दी मातृभाषा वाले सब प्रान्त अपना एक केन्द्रीय संगठन बनावें, जो हिन्दी भाषा और साहित्य सम्बन्धी प्रश्नों पर निर्णय दे, हिन्दी पाठ्य पुस्तकों के सम्बन्ध में सिफारिश करे, और भाषा सम्बन्धी सारी बातों पर नियंत्रण रखे ? यदि ऐसा नहीं हो सकता, तो यह मानना पड़ेगा कि हिन्दी का बड़ा दुर्भाग्य है। सबसे बड़ा दुर्भाग्य तो तब होता है, जब जो बात वर के रूप में है वह शाप के रूप में हो जाय।

किसी भी हालत में हिन्दी के क्षेत्र में पृथक्करण की प्रवृत्तियों को नष्ट करना पड़ेगा। फौरन ही जिस काम को हाथ में लेना है, वह यह है कि किसी भी हालत में नये शब्द अलग-अलग रूप में न बनाये जायें। अफसोस तो यह है कि डाकखाना ऐसे शब्दों को निकाल कर नये शब्दों को चलाया गया है, और चूंकि ये नये शब्द सरकारी ज़रियों से चलाये जा रहे है, इसलिये नये शब्द चल भी जायेंगे।

साहित्यिक दृष्टि से देखने पर ऐसे नये शब्दों के चल जाने से भाषा के ऐश्वर्य-शाली होने मे कोई मदद नही मिलेगी। मान लीजिए कि किसी भाषा में डाकखाना शब्द के लिये पांच शब्द हो जाएं, तो उससे उस भाषा का ऐश्वर्य न बढ़ कर उसके सीखने में कठिनाई ही पैदा होगी। जो भाषा राष्ट्रभाषा बन चुकी है, उसके लिये इस प्रकार की कठिनाई सर्वथा वर्जनीय है।

हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि उसमें सब तरह का साहित्य प्रकाशित हो। हिन्दी में दो प्रकार के साहित्यों की विशेष आवश्यकता है एक तो हिन्दी में सारा विश्वसाहित्य विशेषकर भारतीय साहित्य आ जाना चाहिये, दूसरा विविध टैकनिकल विषयों पर ताजे से ताजा साहित्य।

हिन्दी में आये दिन रोज नई-नई पत्रिकाएँ निकलती रहती हैं। इसम सन्देह नही कि प्रत्येक इस प्रकार से निकलनेवाली पत्रिका के पीछे कुछ न कुछ प्रतिभा-शाली स्थानीय लोग होते है। प्रत्येक पत्रिका में कुछ-कुछ नई प्रतिभाओं के विकास का भी मौका रहता है। फिर भी हम देखते है कि ये पत्रिकाएं थोड़े दिन जी कर ही समाप्त हो जाती हे, इसलिए तो जब भी कोई पत्रिका निकालने की बात को लेकर मेरे सामने आता है, तो मैं उसे मना करता हूं। बात यह है कि पत्रिका के एक अंक को एक महीना, एक सप्ताह या एक पक्ष के अन्दर बेच डालना जरूरी होने के कारण उसमें असफलता की बहुत अधिक गुंजाइश हो जाती है। इसके विपरीत यदि ऐसे लोग उपयोगी विषयों पर पुस्तकें निकालें, तो वह कहीं अधिक सफल होगा, और देश को तथा साहित्य को भी लाभ होगा।

कम से कम इतना तो होना ही चाहिए कि प्रत्येक पत्रिका की कोई निजी

विशेषता हो। हिन्दी में यों तो बहुत सी पत्रिकाएँ निकलती रहती हैं, पर बहुत कम पत्रिकाएं ऐसी हैं, जिनमें कोई विशेषता हो। मैं यह नहीं कहता कि विज्ञान, अर्थ-शास्त्र, राजनीति, इंजिनियरिंग आदि विषयों पर ही जोर दिया जाय। कविता, उपन्यास, एकांकी, आलोचना इनका भी महत्व है, और जब लोग इनमें रुचि रखते हैं, तो टैकनिकल तथा गम्भीर पत्रिकाओं में उनका समावेश हो सकता है। इसके अति-रिक्त बिल्कुल गम्भीर पत्रिकाएं भी निकल सकती है।

दूसरे शब्दों में मेरा वक्तव्य यह है कि अपनी कर्मशक्ति को व्यर्थ में बिखरा देने और उसके फलस्वरूप साहित्य से मुंह मोड़ लेने के बजाय यह अच्छा होगा कि उस कर्मशक्ति और सृजनशक्ति को इस तरह काम में लाया जाय कि कुछ उपकार हो, और निराशा न हो।

हम भावुकता के वश में होकर अंग्रेजी का कितना भी विरोध करें, अंग्रेजी भारत में तब तक रहने के लिए बाध्य है, जब तक कि भारतीय भाषाओं में करीब-करीब वह सब साहित्य न उपलब्ध हो जाय, जो अंग्रेजी में लोगों को उपलब्ध होता है। सच तो यह है कि तब तक अंग्रेजी का यहां से चला जाना भारत के लिये बड़ा भारी दुर्भाग्य होगा। यदि हम अंग्रेजी को छोड़ते है, तो हमें किसी अन्य योरोपीय भाषा का हाथ पकड़ना पड़ेगा, नही तो हम कूपमंडूक हो जायेंगे।

इसीलिये जो लोग साहित्य में नया कदम उठा रहे है, उनसे मेरा निवेदन यही है कि वे यदि अच्छी मौलिक चीज नही दे सकते, तो अनुवाद और संकलन की ओर ध्यान दें, तो यह हिन्दी के लिए बहुत अच्छा रहेगा। काम इतना बड़ा है कि उसमें हजारों लोगों को एक साथ जुटाने की जरूरत है। जिनको टैकनिकल विषयों का ज्ञान है, वे उसी सम्बन्ध में साहित्य के सृजन की चेष्टा करें। ऐसा वे निःस्वार्थ भाव से करें क्योंकि किसी विशेष पुरस्कार की सम्भावना नही है। जो लोग पहले-पहल किसी काम को उठाते हैं, उन्हें पुरस्कार नहीं मिलता, यही क्या कम है कि वे एक क्षेत्र में पथ-प्रदर्शक होंगे।

मुझे डर है कि जब तक हिन्दी का भंडार इतना नहीं भर जाता कि वह अंग्रेजी के विकल्प के रूप में उपयोगी हो, या कम से कम दूसरी भारतीय भाषाओं से अधिक समृद्ध हो, तब तक हिन्दी का राष्ट्रभाषा बनना एक व्यावहारिक कामचलाऊ बात मात्र ही रहेगी, उसे भीतर से कोई बल नहीं प्राप्त होगा।

मै यह समझता हूं कि काम इतना बड़ा है कि यह किसी एक व्यक्ति या एक गुट का काम नहीं है। सच तो यह है कि भारतीय भाषाओं के साहित्यों को वांछ-नीय रूप से उन्नत करने के लिये पंचसाला योजना की तरह कोई योजना बननी चाहिए थी और उसे मुस्तैदी के साथ सारी शक्ति लगाकर व्यावहारिक रूप देना चाहिए था। मौलिक साहित्य आर्डर पर तो नहीं बन सकते, पर अनुवाद और संकलन तो आर्डर पर कराये जा सकते है। इसलिये मेरा यह विचार है कि योजना

बना कर काम किया जाय तो बहुत कुछ किया जा सकता है।

हमें फौरन किस-किस प्रकार के साहित्य की आवश्यकता है, इसकी एक सूची बना कर फौरन काम में जुट पड़ना चाहिए। इस सम्बन्ध में जितना ही विलम्ब किया जायगा हिन्दी-विरोधी शक्तियों को उतना ही बल मिलेगा।

लोग यह पूछते हैं कि हिन्दी हम क्यों सीखें, उसमें क्या है ? टंडन जी ऐसे जीवन्मुक्त पुरुषों की बात छोड़ दी जाय, लोग तो कबीर, सूर, तुलसी के अलावा दूसरी ही बातें सोचते हैं और सत्य भी यह है कि प्रत्येक भारतीय भाषा में कबीर, सूर, तुलसी से कुछ उन्नीस ही सही, भक्तिरस के कई एक प्राचीन कवि मिलेंगे। इस कारण केवल कबीर आदि के साहित्य के रसास्वादन का प्रलोभन यथेष्ट नहीं है। लोग आधुनिक अर्थ में उपयोगी साहित्य ढूंढ़ते हैं।

मैं एक छोटा-सा उदाहरण दूं। रेडियो का प्रचार अब शहरों में काफी बढ़ रहा है, इसलिये उसकी मरम्मत, बिजली की तार-पद्धति की मरम्मत की दुकानें भी सर्वत्र फैल रही हैं। अब ऐसी दुकानों के मालिकों को जिस साहित्य की आवश्यकता है, वह है रेडियो आदि पर हिन्दी में लिखे हुए फारमूले। वे ऐसे साहित्य की कद्र करेंगे। इसी प्रकार हर टैकनिकल व्यक्ति, अपने उपयोग का साहित्य हिन्दी में चाहेगा। जब ऐसा साहित्य हिन्दी में मिलने लगेगा तो न केवल उसका भला होगा, पर साथ ही हिन्दी का चस्का पड़ जाने के कारण, वह हिन्दी का अन्य साहित्य भी खरीदेगा।

केवल मध्य और उच्चवर्ग के अवसर विनोद के लिये साहित्य उत्पन्न करने से काम नहीं चलेगा। सच तो यह है कि वे हिन्दी पुस्तकों के अच्छे खरीदार भी नहीं हैं। बात यह है कि वे अपनी मानसिक तुष्टि के लिये बहुत कुछ अंग्रेजी से ही लेते हैं। हिन्दी के साहित्यकारों को अब इनसे उतर कर इंजन चलानेवालों, ट्रैक्टर चालकों, फोटोग्राफरों और मजदूरों के लिये व्यावसायिक रूप से उपयोगी साहित्य की सृष्टि करनी पड़ेगी।

सिनेमा वाले इन्हीं की तरफ आंख रख कर मालामाल हो गये। हम यह नहीं कहते कि हम साहित्यकार उनका उस प्रकार शोषण करें, जिस प्रकार सिनेमावाले करते हैं, पर हमें हिन्दी को सबके लिये अपरिहार्य बनाने के लिये इन लोगों के लिये अपरिहार्य साहित्य की सृष्टि करनी पड़ेगी। इसी में हमारा कल्याण है और उनका भी।

प्रेमचन्द—एक और अविभाज्य

सब कुछ कह सुन लेने पर भी अब भी प्रेमचन्द हिन्दी के सबसे शक्तिशाली उपन्यासकार हैं, या रह गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द क बाद हिन्दी के उपन्यास साहित्य में बहुत प्रगति हुई, पर वह प्रगति टैकनीक और विषयवस्तु के सम्बन्ध में जितनी हुई है, कला की दृष्टि से शायद उतनी नहीं हुई, और इन सबको मिला कर देखने पर हिन्दी उपन्यास आगे नहीं बढ़ा। उदाहरणस्वरूप क्या गम्भीरता से यह दावा किया जा सकता है कि हिन्दी का कोई अति आधुनिक उपन्यास कुल मिला कर '*गोदान*' से श्रेष्ठ है?

यह दुःख की बात है कि प्रेमचन्द के बाद के हिन्दी उपन्यासकारों में कुछ के अतिरिक्त बाकी सभी उपन्यासकारों की सृष्टि शक्ति यदि ऊंचे दर्जे की है भी तो वह अधिक फलप्रसू नहीं है। अधिकतर उपन्यासकार दो चार उपन्यास लिख कर ही बैठ गये। ऐसा क्यों हुआ इसके भी ब्यौरे में यहां जाना सम्भव नहीं है। मैं इन बातों का उल्लेख इस कारण कर रहा हूं कि समग्र हिन्दी साहित्य के बृहत्तर परिप्रक्षित में प्रेमचन्द की महत्ता सब दृष्टियों से समझ में आ जावे।

सचमुच प्रेमचन्द ने हिन्दी भारती को जो कुछ प्रदान किया, उसका मूल्यांकन इसी बृहत् परिप्रेक्षित मे याने इस समय के उपन्यासों को गिन कर ही हो सकता है। मैं यह नहीं कहता कि आगे प्रेमचन्द की तरह कोई दिग्गज उत्पन्न नहीं होगा, सच तो यह है कि ऐसा न होना ही आश्चर्यजनक होगा, होना तो बिल्कुल स्वाभाविक होगा।

मैं यह पहले ही बता चुका कि इस समय हिन्दी उपन्यास की टैकनीक प्रेमचन्द के समय से अधिक आगे बढ़ चुकी है। यह एक ऐसी सर्वजनविदित तथा सर्वजन स्वीकृत बात है कि इस पर किसी को आपत्ति न होगी। युग की ढाल को देखते हुए यह बहुत स्वाभाविक भी था। प्रेमचन्द के समय में ही बंगला उपन्यास टैकनीक

की दृष्टि से हिन्दी से कहीं अधिक आगे पहुंच चुका था। इसका कारण यह था कि बंगला में आधुनिक उपन्यास-रचना की साधना परम्परा-काफी समय से चल रही थी। पर प्रेम-चन्द को बहुत-से अर्थों में स्वयं ही आधुनिक उपन्यास-रचना का कुआँ खोदते जाना, और उससे पानी पिलाते चले जाना पड़ा। इस दृष्टि से देखा जाय तो हिन्दी में जो लोग आधुनिक समय में उपन्यास रचना कर रहे हैं, उनका काम प्रेमचन्द से कहीं आसान है। अब वह कुआँ खोदते जाना और पानी पिलाते जाने की बात बिलकुल नहीं रही। अब तो हिन्दी भाषा बहुत कुछ तैयार हो चुकी है, और शायद उसमें *जां क्रिस्तोफ* ऐसे भावप्रधान सूक्ष्म अनुभूतियुक्त उपन्यास लिखे जा सकते है। पर जिस समय प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में कदम रखा, उस समय हिन्दी भाषा की अवस्था ऐसी नही थी कि उसमें कोई बहुत उच्चकोटि का उपन्यास लिखा जा सकता। इस बिन्दु से देखने पर प्रेमचन्द के दान का एक अन्यन्त उज्ज्वल पहलू हमारे सम्मुख आता है। यह प्रेमचन्द की कला की महत्ता को और भी बढ़ाता है कि उन्नततर भाषा, अग्रगामी टैकनीक तथा विस्तृततर विषय उपलब्ध होने पर भी उपन्यासकार प्रेमचन्द से निर्णयात्मक रूप से उच्चकोटि का उपन्यास प्रस्तुत न कर सके।

कही न कहीं जाकर हिन्दी साहित्य में प्रेमचन्द से उच्चतर या उनके समकक्ष कलाकार उत्पन्न होंगे, यह भी सम्भव है कि ऐसे कलाकार का उदय हो चुका हो, पर वह सर्वजनस्वीकृत न हुआ हो। एक कलाकार के प्रसिद्ध होने में, तथा उसके प्रतिभा के रूप मे स्वीकृत होने में बहुत समय लगता है। यह मै नहीं कहता कि साहित्य के क्षेत्र में अब बिलकुल ही "मैं आया, मैंने देखा और मैंने जीता" का युग समाप्त हो गया है, पर इसमें सन्देह नहीं कि किसी भी साहित्य के शैशवकाल में (जैसा कि प्रेमचन्द के युग में हिन्दी उपन्यास की अवस्था थी) इस प्रकार "मैं आया, मैंने देखा और मै ही जीता" की अधिक गुंजाइश रहती है। पर उसी साहित्य में जब कुछ नाम और व्यक्तित्व उत्पन्न हो जाते हैं, या यों कहा जाय कि बन जाते हे, तो प्रतिभा के नये वरपुत्रों के लिये अपने को स्वीकृत कराना कठिनतर हो जाता है। दूसरे शब्दों में पाठक का एक मानदण्ड बन जाने के कारण वह लेखक से अधिकाधिक गुणों की मांग करता है। *चन्द्रकान्ता सन्तति* को ही लिया जाय, उसमें न तो कार्यकारण-परम्परा ही ठीक है, और न उसे मनोविज्ञान से ही कोई सरोकार है। बस एक अनर्गल-सी कहानी सरकती हुई चली गई है। लेखक के सामने न तो कोई ध्येय है, और न उसके लिये कोई बन्धन है। यदि कहा जाय कि वह सम्पूर्ण रूप से मुक्त है, तो यह कोई अत्युक्ति न होगी। अवश्य यह एक पागल की या बदहवास व्यक्ति की मुक्ति है, जो बिना सोचे-समझे कुएँ में कूदने, आग में फांदने और न मालूम क्या-क्या करने के लिये तैयार ह।

जितना ही साहित्य उन्नत होता चला जा रहा है, लेखक पर उतने ही बन्धन

लागू होते चले जा रहे हैं। अब उपन्यासकार से यह आशा की जाती है कि वह कहानी को तो सरकायेगा ही, मनोरंजन करेगा ही, पर साथ ही साथ वह मनोविज्ञान की दृष्टि से कोई गलत दृश्य नहीं दिखलायेगा या कोई गलत परिस्थिति उत्पन्न नहीं करेगा। वह सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक गुत्थियों को सुलझायेगा, कम से कम उनके सम्बन्ध में कोई गलत कदम नहीं उठायेगा, वह एक सर्वग्रासी या सर्वांगपूर्ण जीवन-दर्शन पेश करेगा इत्यादि इत्यादि।

चन्द्रकान्ता सन्तति और आजकल के युग के बीच प्रेमचन्द ने अपनी कृतियों के द्वारा न केवल एक पुल बनाया, बल्कि सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने इस नवीन युग का पेशगी नेतृत्व किया। इतना अधिक नेतृत्व किया कि अब भी जब हिन्दी के बाहर कोई व्यक्ति हिन्दी उपन्यास के सम्बन्ध में हमसे कुछ पूछता है, तो हम प्रेमचन्द का नाम ही उसके सामने पेश कर सकते हैं। यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि अब अपनी प्रतिभा को स्वीकृत कराना किसी लेखक के लिये उतना आसान नहीं है। फिर इस बीच में कुछ स्थिर स्वार्थ भी बन चुके होंगे, जो नई प्रतिभाओं को आसानी से सार्वजनिक चक्षुओं के सम्मुख आने नहीं देते। यह सब कह सुन लेने पर भी ओर नवीन प्रतिभाओं के लिये उचित रियायत करने पर भी यह एक निर्विवाद सत्य है कि हिन्दी उपन्यास-साहित्य की सबसे बड़ी पूंजी प्रेमचन्द हैं।

यह अन्धों में काना राजा वाली बात नहीं, बल्कि यदि हम 'गोदान' उपन्यास को लें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि समसामयिक भारतीय उपन्यास साहित्य में 'गोदान' का स्थान केवल हिन्दी साहित्य में बल्कि सारे भारतीय साहित्य में अद्वितीय है। मैंने अपनी *'कथाकार प्रेमचन्द'* नामक सुबृहत् पुस्तक में इस विषय पर जो कुछ लिखा था, उसी को यहां इस सम्बन्ध में उद्धृत करना यथेष्ट होगा। उसमें मैंने लिखा था—

'गोदान' प्रेमचन्द का अन्तिम उपन्यास है। इसके बाद उन्हों ने *'मङ्गलसूत्र'* नामक एक उपन्यास लिखना शुरू किया था, किन्तु वे उसे पूर्ण न कर पाये। 'गोदान' एक बृहदाकार उपन्यास है, किन्तु *'रङ्गभूमि'* से कहीं छोटा है, और *प्रेमाश्रम*, 'काया-कल्प' के साथ करीब-करीब उसका आकार बराबर है। फिर भी इस उपन्यास का सामाजिक कैनवास या क्षेत्र इतना बड़ा है, जितना उनके लिखे हुए किसी भी उपन्यास का नहीं है। सच बात तो यह है कि इसमें भारतीय शहरी और ग्राम्य जीवन की सभी परिस्थितियां तथा समस्याएं किसी न किसी रूप में आ जाती हैं। शरत् या रवीन्द्र के भी किसी उपन्यास का क्षेत्र इतना विशाल नहीं है, यद्यपि उनकी रचनाओं में हम *'गोदान'* के आकार के उपन्यास कई पाते हैं। *'गोदान'* में हम ५० साल के भारतीय इतिहास को जिस खूबी से वर्णित पाते हैं, वह लेखक की महान् रचनाशक्ति का परिचायक है। भारतवर्ष में भी अब इधर ट्रीलाजी लिखने की प्रथा चल पड़ी है किन्तु छः सात सौ पृष्ठ के अन्दर जिस प्रकार प्रेमचन्द ने गागर

में सागर भर कर रख दिया, वह भारतीय साहित्य में अभूतपूर्व है।"

यहां पर इतिहास शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, और उसमें कितनी गहराइयां हैं इसे स्पष्ट करते हुए मैंने उसी अवसर पर लिखा था—"कहीं इतिहास शब्द के व्यवहार से कुछ भ्रम न हो इसलिये यह बता दिया जाय कि *'गोदान'* में जिस इतिहास का वर्णन है, वह क्या है। पारिवारिक क्षेत्र में सामन्तवादी युग का द्योतक संयुक्त परिवार-प्रथा का भंग हो जाना, किसानों में से एक हिस्से का जमीन पर अत्यधिक दबाव के कारण मजदूर होते चले जाना, इस प्रकार सामन्तवादी युग से किसान की मुक्ति होना और फिर मजदूर के रूप में मिल मालिक के अधीन हो जाना, पुरातन विवाह-प्रथा में घुन लगना, और उसका बिखरते चले जाना, साहूकार और जमीदार की चक्की मे किसान का पिसना—ये कुछ बातें हैं जो इतिहास की बहुत बड़ी घटनाएं है। इन बातों को समझाने के लिये तथा इनकी प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराने के लिये बृहदाकार ग्रन्थ लिखे गये है। मार्क्स ने केवल इसके आर्थिक पहलू को समझाने के लिये तीन भागों में एक बृहद् ग्रन्थ *'डास कापिटाल'* लिख डाला। प्रेमचन्द *'गोदान'* में सामन्तवाद के बिखरने की प्रक्रिया को साथ ही पूंजीवाद के शोषण को बहुत स्पष्ट करके इस उपन्यास में दिग्दर्शन कराते है। इसके अलावा वह और भी बहुत कुछ करते है।"

'गोदान' को समझने के लिये सबसे जरूरी बात यह है कि सारे प्रेमचन्द-साहित्य को समझा जाये क्योंकि 'गोदान' प्रेमचन्द की न केवल सबसे प्रौढ़ और उनकी अन्तिम सम्पूर्ण रचना है, बल्कि इन बातों के अलावा वह स्वयं प्रेमचन्द मे एक नवीन धारा के प्रारम्भ मे और उसकी पूर्णता को व्यक्त करता है।

प्रश्न यह उठता है कि फिर क्या प्रेमचन्द एक और अविभाज्य नहीं? क्या उनके उपन्यासों को अध्ययन करने के बाद यह कहा जा सकता है कि वे पहले कुछ और थे, और बाद को कुछ और हो गये? इस प्रश्न का उत्तर द्वन्द्वात्मक तरीके से हा और न दोनो मे देना पड़ेगा। प्रेमचन्द-समालोचना में मै जिस विशेषता का दावा करता हूं, वह यही है कि मैंने प्रेमचन्द-साहित्य पर द्वन्द्वात्मक पद्धति का प्रयोग किया है। इस पद्धति को लागू करने से प्रेमचन्द का क्या रूप सामने आता है, उसे बताने के लिये कुछ ब्यौरे मे जाना पड़ेगा।

यहा मैं यह भी बता दू कि मै इस लेख में ऐसी कोई बात कहने या प्रस्थापनाएँ करने नहीं जा रहा हूं जिसे मै *'कथाकार प्रेमचन्द'* तथा प्रेमचन्द सम्बन्धी अपनी अन्य आलोचनाओं में नहीं कह चुका। मैं आगे मुख्यतः अपनी सुबृहत् पुस्तक *'कथाकार प्रेमचन्द'* के तर्कों का ही अनुसरण करूंगा। जहा उचित जान पड़ेगा वहां मै उससे उद्धरण भी दूंगा। मुझे दुःख है कि प्रेमचन्द आलोचना के सम्बन्ध मे मेरी द्वन्द्वात्मक पद्धति को बहुत कम लोगों ने अच्छी तरह समझा है।

बहुत से ऐसे लेखक है, जिनकी रचनाओं के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि

वे एक और अविभाज्य नहीं हैं। ऐसे लेखकों में हमारी जीभ पर अकस्मात् ही *टामस मान* और हिन्दी के *सुमित्रानन्दन पन्त* के नाम आ जाते हैं। उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि इतनी रचनाएं अमुक प्रभाव के वश-वर्ती होकर तैयार की गईं, और बाकी रचनाएं उनसे भिन्न अमुक प्रभावों के आवेश में लिखी गई। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। लेखक भी एक मननशील प्राणी है, और यह कोई असम्भव नहीं है कि उसे कोई नई रोशनी मिले या मिलती रहे, और वह एक नये मतवाद को अपना कर अगली रचनाओं को लिखे। यह नया मतवाद राजनीतिक भी हो सकता है, दार्शनिक भी हो सकता है या सौन्दर्य सम्बन्धी भी हो सकता है। उस हालत में लेखक कल तक जिस चीज को जिस रूप मे देखता रहा और जिस परिप्रेक्षित में उसे पाठकों के सम्मुख पेश करता रहा, आगे वह उसे उस रूप में न तो देखेगा और न पेश करेगा। सम्भव है कि वह उसे बिलकुल विपरीत रूप में देखे और पेश करे, उस हालत में वह 'बोल्टफासि' या उल्टबाजी का रूप ग्रहण करेगा। इस प्रकार की उल्टबाजी के उदाहरण बहुत दिये जा सकते हैं जबकि लेखक ने अपने पहले मतवाद को छोड़ कर बिलकुल दूसरे ही मतवाद को अपनाने की चेष्टा की हो या अपनाई हो। इस सम्बन्ध में वह बात याद आती है कि आध्यात्मिकता की गहराई में पैठ जाने के बाद टालस्टाय अपने सब उपन्यासों को नष्ट करने के इच्छुक थे। यह दूसरी बात है कि भविष्य की पीढ़ियां शायद टालस्टाय मार्का अध्यात्मवाद को या सम्भव है कि सभी तरह के अध्यात्मवाद को इतिहास के एक कूड़ेखाने में डाल दें, और टालस्टाय को उनके सफल उपन्यासों के लिये ही स्मरण रखें जिनमे रूस के उस युग का इतिहास, भले ही कुछ बिगड़े हुए रूप में हो, चित्रित है।

प्रेमचन्द के सम्बन्ध में भी यही कहने की प्रथा है कि पहले वे गांधीवादी थे और पहले के युग में उन्होंने जो कुछ भी लिखा, वह गांधीवादी रंग में रंग कर लिखा, पर बाद के युग में उन पर प्रगतिशील विचारों का जोर हुआ, और वे उसी में बहने लगे। आपात दृष्टि में इस प्रकार की आलोचना निर्भ्रान्त ज्ञात होती है। यह मत कुछ सुविधाजनक भी है। प्रेमचन्द-साहित्य की गहराइयों में जाने से पहले एक सरसरी दृष्टि से पढ़नेवाले पाठक के नाते मैं भी ऐसा ही समझता था, पर जब मैंने कारागार की एकान्तता में प्रेमचन्द-साहित्य को गहराई के साथ अध्ययन किया, तो मैंने यह आविष्कार किया कि इस प्रकार का मतवाद बुनियादी रूप से सही नहीं है। यह कहना आसान भी है और सुविधाजनक भी कि *गोदान* के पहले प्रेमचन्द ने जिन उपन्यासों को लिखा, उनमें वे गांधीवादी थे, और बाद को वे गांधीवाद से हट गये और किसी न किसी रूप मे प्रगतिवादी विचारों के हो गये। इसी सुविधाजनकता के कारण यह मतवाद अब भी चला जा रहा है और किसी कारण हटाये नहीं हटता।

अब मैं कुछ ब्यौरे में आता हूं। '*गोदान*' उपन्यास में प्रेमचन्द गांधीवाद से हटे हुए

हैं,और उसमें किसानों की हमदर्दी करनेके लिए,उनके नेता बनने केलिए प्रेमशंकर,चक्रधर, अमरकान्त, सूरदास टाइप का कोई व्यक्ति दिखाई नहीं पड़ता। *'गोदान'* में इसके विपरीत होरी अपनी नाव अपने आप खींचता है। इसमें प्रेमचन्द यह नहीं दिखलाते कि किसानों का उद्धार प्रेमशंकर आदि ढंग के लोगों के द्वारा होगा। होरी अपना उद्धार आप करने का प्रयत्न करता है कम से कम वह किसी ऐसे व्यक्ति का मुह ताकने के लिए तैयार नहीं है, जो उसकी समस्याओं का समाधान करने के बजाय किसी प्रकार का एक आश्रम बना कर या *'रंगभूमि'* के सूरदास की तरह शहीद के उच्चासन पर बैठ कर यह भ्रम उत्पन्न करता है कि समस्या हल हो गई।

यह सम्भव नहीं है कि इस छोटे से लेख में उन सारी बातों को कह पाऊं जिन्हें मैंने *'कथाकार प्रेमचन्द'* में सात सौ पृष्ठों में कहा है ! मैं यहां केवल इतना ही बता सकता हूं कि जिन उपन्यासों के बूते पर यह कहा जाता है कि प्राक्-गोदान-युग में प्रेमचन्द गांधीवादी थे उन उपन्यासों की गहराई मे जाकर उनका विश्लेषण करने पर बात कुछ और ही ज्ञात होगी,, समस्या को न सुलझाकर आश्रम बनाकर बैठ जाना,क्या इसके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि यह गांधीवाद की विजय दिखलाना है ? इस धारा के प्रेमचन्द के सबसे अच्छे उपन्यास *'रंगभूमि'* को ही लिया जाय। उसका अन्त किस प्रकार से होता है ? इसमें सन्देह नहीं कि सूरदास त्याग का एक बहुत ऊंचा आदर्श हमारे सामने पेश करता है पर क्या यह यथेष्ट है?' जिस जमीन के लिए सारा झगड़ा था वह तो बची नहीं; यदि बचती तो हम कहते कि हां आत्मबल ने कुछ प्राप्त किया,पर प्रेमचन्द जी उपन्यास के अन्तिम अध्यायों में यह दिखलाते है कि सब के सब गाव वाले बिखर गये हैं। कोई कहीं गया तो कोई कहीं। नायकराम शहर का रास्ता लेता है, बजरंगी किसी अन्य गांव में जाकर बसता है, भैरव कही और। मै यह नहीं कहता कि हार हर क्षेत्र में बुरी चीज है। पर हार के बाद जीत की इच्छा तो किसी में होनी चाहिए। यह नहीं कहा जा सकता कि इस संग्राम-पद्धति की नैतिक जीत हुई। नैतिक जीत के माने कल्पना में जीत नहीं बल्कि नैतिक जीत के माने ऐसी हार जो जीत का ईधन बनाती है। सूरदास गोली का शिकार होकर मर गया, पाण्डेपुर वाले गांव से निकाल बाहर कर दिये गये। कोई बात नहीं, पर इस हार के फलस्वरूप यदि वे संगठित हो जाते या आगे के संग्राम के लिए तैयार हो जाते तो यह कहा जा सकता कि समस्या का कुछ समाधान हुआ।

यदि हम *'प्रेमाश्रम'*, *'कायाकल्प'* आदि राजनीतिक उपन्यासों को देखें तो हम इसी नतीजे पर पहुंचते हैं कि यद्यपि दृष्टिगत रूप से इन उपन्यासों के कलाकार अभी गांधीवाद के मन्दिर में पुजारी हैं, फिर भी उनका वस्तुवाद इतना प्रखर है कि वे इन उपन्यासों का अन्त जिस प्रकार कराते हैं उससे समस्याओं के समाधान के लिए गांधीवाद एक सफल अस्त्र के रूप में सामने नहीं आता। सूरदास ने या प्रेमशंकर और अमरनाथ ने जिन समस्याओं को उठाया है उन्हें वे सुलझा नहीं पाते।

मैंने अपनी उस पुस्तक में लिखा था—"रंगभूमिकार दृष्टिगत रूप से गांधी-

वादी थे, पर उनकी कला दृश्यगत रूप से वस्तुवादी थी। यदि कोई प्रेमचन्द के कथित गांधीवादी युग के प्रभाव में लिखे हुए उपन्यासों अर्थात् *'प्रेमाश्रम'*, *'रंगभूमि'* तथा *'कायाकल्प'* को समझना चाहे तो उसे उन दिनों के प्रेमचन्द की--उन दिनों के प्रेमचन्द इसलिये कह रहा हूँ कि गोदान के युग में वे ऐसे नहीं रह गये थे--कला की इस द्विविधता को स्मरण रखना पड़ेगा। गांधीवाद के प्रभाव में लेखनी धारण करने के कारण प्रेमचन्द से सूरदास ऐसे पात्रों के चरित्र पर जितना भी रंग भरते बना भर दिया। हरिभाऊ जी के शब्दों में अधिक से अधिक धीरोदात्त बनाया, अपनी जान में उन्होंने कोई कोर कसर नहीं रखी, पर वस्तुवाद का हाथ न छोड़ा। इसी दुधारा का नतीजा *'रंगभूमि'* आदि पुस्तकें हैं। इन उपन्यासों का ऊपरी रंग बिलकुल गांधीवादी है। पर जरा गहरे पानी में पैठ कर उनके उपसंहारों को पढ़िए, तो गांधीवाद की पराजय ही दृष्टिगोचर होगी। इस प्रकार यह एक अजीब दुनिया हो गई।

"हम नहीं कहते कि लेखक ने सज्ञान रूप से *'रंगभूमि'* में पाण्डेपुर वालों को बिखरते तथा पाण्डेपुर को उजड़ा हुआ दिखलाया है। नहीं ऐसा नहीं। पर हुआ यह कि अपने गांधीवादी आदर्श के बावजूद उन्होंने अपने पैरों को वस्तुवादी जमीन पर कस कर जमा रहने दिया, पैरों को वहां से नहीं हटाया। इसी वस्तुवादी जमीन पर पैर जमा कर ही वे गांधीवादी पंखों के सहारे उड़े। जो नतीजा है सो सामने है।

"प्रेमचन्द ने न *'रंगभूमि'* में न *'प्रेमाश्रम'* में न तो अन्य किसी इस प्रकार के उपन्यास में गांधीवादी टैकनीक की जीत दिखाई है।"

इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि यद्यपि प्राक्गोदान युग में प्रेमचन्द जहां तक उनकी निजी तरजीह का सम्बन्ध था सम्पूर्ण रूप से गांधीवादी थे, फिर भी वे इतने अधिक वस्तुवादी थे कि शायद उनके अनजान में ही उन्होंने अपने उपन्यासों में ऐसे उपसंहार निकाले, जो आदर्शवाद की व्यर्थता को सिद्ध कर देते है। *'गोदान'* में तो वे बिल्कुल ही दूसरे ढर्रे पर चले। अब उनको आदर्शवाद के सम्बन्ध में कोई मोह नहीं था, वे जो चीज जैसी है उसे वैसी ही देखने के लिये तैयार और तत्पर थे। *'प्रेमाश्रम'* के मायाशंकर चरित्र में उन्होंने आदर्शवादी जमींदार का एक चित्र पेश किया है। पर इस प्रकार के आदर्शवादी जमींदार वास्तविक जगत् में एक तो बहुत कम होते है, दूसरे ऐसे एकाध के होने से कुछ आता जाता नहीं है। मायाशंकर चरित्र में मानो उन्होंने श्री विनोबा भावे के कार्यक्रम में सहायता देने वाले एक जमींदार का चित्र खींचा है। जहां तक मायाशंकर के चरित्र का यह हिस्सा हमारे सम्मुख आता है, वह बड़ा सुन्दर मालूम होता है। पर *'गोदान'* में इस प्रकार का कोई चरित्र नहीं है। फिर भी यह कहना सम्भव नहीं है कि गोदान में भी प्रेमचन्द जी अपनी पुरानी परम्परा से अपने को सम्पूर्ण रूप से मुक्त कर पाये। वे प्रगतिवाद का औचित्य स्वीकार करते हुए भी सेवा और त्याग पर अत्यधिक जोर देते दिखाई देते हैं।

जिस भी दृष्टि से देखा जाय *'गोदान'* को पहले की रचनाओं से अलग करके देखना

पड़ेगा। मैं फिर उसी बात पर आता हूँ कि यह अलगाव बहुत कुछ दृश्यमान है और गहराई में जाने पर यह अलगाव मालूम होगा भी और नहीं भी होगा। मैं यह बता चुका हूँ कि उनके कथित गांधीवादी उपन्यासों का अन्त जिस प्रकार दिखाया गया है, उनसे आदर्शवाद की विजय दृष्टिगोचर न होकर एक शून्यता उत्पन्न होती है। इसी को दृष्टि में रखते हुए मैंने कहा है कि प्रेमचन्द का साहित्य एक और अविभाज्य है।

साहित्य और कला पर ज़ाँ पाल सार्त्र

आधुनिक यूरोप के कलाकारों बल्कि उपन्यासकारों में सार्त्र का स्थान बहुत विशिष्ट है। उनके उपन्यास यौन आवेदन-प्रधान होते हैं, और बहुत बिकते हैं। कलाकार की दृष्टि से वे बुर्जुआ समालोचकों के द्वारा बहुत उच्चकोटि के समझे जाते हैं। इस लेख में मैं उनके उपन्यासों पर कुछ न कहकर उनके साहित्य सम्बन्धी विचारों का वर्णन करूँगा। यह साधारण भारतीय पाठकों के लिए भी बहुत दिलचस्प इसलिए होगा कि हिन्दी के कई लेखक प्रच्छन्न सार्त्रवादी हैं, यद्यपि वे अपने को प्रयोगवादी कह कर न केवल साधारण पाठक को धोखे में डालना चाहते हैं, बल्कि शायद अपने को भी धोखे में रखते हैं।

सार्त्र ने "साहित्य क्या है" नाम से एक पुस्तक लिखी है, उसी से उनके विचार संकलित किये जाते हैं। इस पुस्तक को उन्होंने अपने आलोचकों के इस आक्षेप से ऊब कर लिखा कि वे कहीं पकड़ में नहीं आते, पता नहीं वे क्या कहना चाहते हैं। इस लेख को पढ़ने के बाद पाठक इस पर स्वयं निर्णय कर सकेंगे कि सार्त्र सही हैं या सार्त्र के आलोचक।

उनका कहना है कि—**"यह सत्य है कि गद्य-लेखक और कवि दोनों लिखते हैं। पर उन दोनों के लिखने के कार्य में इस बात के सिवा कोई भी समता नहीं है कि हाथ की गति से ही दोनों क्षेत्रों में ही अक्षर बनते जाते हैं। नहीं तो उन दोनों के विश्वों में कोई संयोग नहीं हो सकता, और जो एक के लिए अच्छा है, वह दूसरे के लिये अच्छा नहीं है। गद्य अपने स्वभाव से उपयोगितावादी होता है। मैं खुशी से गद्य-लेखक की यह परिभाषा दूंगा कि वह एक ऐसा व्यक्ति है, जो शब्दों का उपयोग करता है। मोशिये जुर्दी ने चप्पल मांगने के लिये गद्य का निर्माण किया और हिटलर ने पोलैंड पर युद्ध घोषणा के लिये। लेखक एक वक्ता भी होता है, वह नाम देता है, प्रदर्शन करता है, आज्ञा देता है, स्वीकार करता है, क्षेपक निर्माण**

करता है, प्रार्थना करता है, अपमान करता है, तर्क से समझाता है, कटाक्ष करता है। पर यदि वह इन कार्यों को बिना किसी परिणाम के करता है, तो इससे वह कवि नहीं हो जाता। वह लेखक है, पर वह बातें तो करता है, पर कुछ कहता नहीं है। हमने भाषा के भीतरी भाग को उधेड़ कर बहुत देखा है, अब समय आ गया है कि हम उसके सही हिस्से को बाहर करके देखें।"

इसके बाद सार्त्र भाषा का विश्लेषण करने चल देते हैं। वे कहते हैं—
"गद्य की कला बातचीत में प्रयुक्त होती है, इसलिये स्वाभाविक रूप से इसका सार अर्थपूर्ण होता है, याने शब्द वस्तु नहीं हैं, बल्कि वस्तुओं के इंगित हैं। सबसे पहले इसलिये किसी भाषा के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य नहीं है कि वह खुशी उत्पन्न करती है या नाखुशी, बल्कि यह देखना चाहिये कि वह किसी वस्तु या विचार का शुद्ध रूप से इंगित करती हैं या नहीं। ऐसा कई बार होता है कि किसी ने हमे शब्दों के जरिये से एक विचार दिया, और हम में वह बस गया। वह विचार तो हम में बसा हुआ है, पर जिन शब्दों के जरिये से विचार हमें दिया गया था, उनमें से एक भी शब्द हमें स्मरण नहीं आता।"

आगे चल कर वह यह कहते है कि गद्य तो मन का एक रुख है। वे कहते हैं—"जब कोई विपत्ति या कठिनाई में होता है, तो वह कोई औजार उठा लेता है, जब वह विपत्ति दूर हो जाती है, तब यह भी स्मरण नहीं आता कि जो औजार उठाया गया था, वह हथोड़ा था या छड़ी थी। इसके अलावा जिसने औजार उठाया, उसे मालूम भी तो नहीं था कि वह क्या उठा रहा है, उस समय की आवश्यकता यह थी कि शरीर का विस्तार हो, और किसी उपाय से सबसे ऊँची शाखा तक हाथ पहुँच जावे। यह मानों एक छठी उंगली या तीसरा पैर था, एक विशुद्ध कार्य था, जिसे अपना लिया गया था। इस प्रकार से यदि देखा जाय, तो भाषा हमारी खोल और कीटत्वचा (ऐन्टेनी) है, जिससे हम दूसरों से अपनी रक्षा करते हैं और उनके सम्बन्ध में हमें मालूम होता है। यह हमारी ज्ञानेन्द्रियों का एक विस्तार है, एक तृतीय नेत्र है, जिससे हम अपने पड़ोसी के हृदय की थाह लेते हैं। हम उसी प्रकार से अपनी भाषा के अन्तर्गत होते हैं, जिस प्रकार से हम अपने शरीर के अन्तर्गत होते हैं। जब हम दूसरे लक्ष्यों की तरफ इससे आगे बढ़ते हैं, तो हमें स्वतःस्फूर्त रूप से इसकी अनुभूति उसी प्रकार से होती है, जिस प्रकार से हम अपने हाथों तथा पैरों को अनुभव करते हैं। जब कोई भाषा का प्रयोग करता है, तब भी हम इस बात का अनुभव करते है, और वह इस प्रकार से करते हैं, जैसे हम दूसरे के अंग-प्रत्यंगों को अनुभव करते हैं। पर इन दोनों हालतों में किसी क्रिया के अन्दर से ही चाहे मैं क्रिया कर रहा हूँ या दूसरे मुझ पर क्रिया कर रहे हों। एक शब्द एक विशेष क्रिया का एक मुहूर्त होता है, और उसके बाहर इसका कोई अर्थ नहीं होता। ऐफेसिया के कई मामलों में ऐसा होता है कि कार्य करने की परिस्थितियों को समझने की तथा

भिन्न लिंग व्यक्तियों के साथ साधारण सम्बन्ध रखने की सम्भावनाएँ नष्ट हो जाती हैं।"

इस प्रकार से अपने विचारों को प्रकट करने के बाद वे अपने वक्तव्य को स्वतःसिद्ध के रूप में मान कर आगे कहते हैं--*'यदि गद्य किसी एक कार्य का रियायत प्राप्त औजार के सिवा कभी कुछ नहीं होता, यदि कवि का काम इतना ही है कि शब्दों को लेकर निःस्पृह रूप से अवलोकन करे, तब आरम्भ से ही गद्यलेखक के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि तुम क्यों लिखते हो?*

इस प्रकार से उनके तर्क से ही उद्देश्य की बात आ जाती है, और वे उससे याने इस प्रश्न से मुंह मोड़ना नहीं चाहते। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वे इसका कोई युक्तियुक्त उत्तर देते हैं। वे यह भी समझते हैं कि इस प्रश्न के साथ वह भी प्रश्न संयुक्त है कि जब गद्य लेखक उद्देश्य से लिखता है, कुछ कहने के लिए लिखता है, तो उससे यह भी पूछना चाहिए कि आखिर तुम जो कुछ कहना चाहते हो, वह कहने के काबिल भी है। यह पहले ही दिखाया जा चुका है कि सार्त्र शब्द को क्रिया के साथ संयुक्त करते हैं। तार्किक रूप से इसके उपसंहार तक जाते हुए वे यह मानते हैं कि गद्यलेखक अपने वक्तव्य के द्वारा कार्य करता है।

वे कहते हैं—*'इस प्रकार से गद्यलेखक एक ऐसा व्यक्ति हैं, जिसने दोयम नम्बर की एक क्रिया के तरीके को अपनाया है, जिसे हम उद्घाटन के द्वारा क्रिया कह सकते हैं। इसलिये उससे एक दूसरा प्रश्न यह भी पूछा जा सकता है 'जगत् का कौन-सा ऐसा पहलू है, जिसका तुम उद्घाटन करना चाहते हो? इस उद्घाटन-क्रिया से तुम जगत् में कौन-सा परिवर्तन करना चाहते हो।'*

यहां एक बात की ओर दृष्टि आकर्षित की जाय कि मार्क्स ने यह कहा था कि *'अब तक दार्शनिकों ने केवल जगत् की व्याख्या की है; पर हमारे सामने जो कार्य है, वह उसकी व्याख्या करने का नहीं है, बल्कि उसे परिवर्तित करने का है।'* सार्त्र ने यह दूसरा प्रश्न जिस प्रकार से रखा है, क्या उसमें मार्क्स के कथन की कोई झलक है, या यह केवल शब्दों की जादूगरी मात्र है? हम इस बात पर बाद को चल कर विचार करेंगे।

वे उसी प्रश्न के साथ-साथ यह भी बताते हैं कि उद्घाटित करने का अर्थ परिवर्तित करना है, और कोई उद्घाटन तभी कर सकता है, जब वह परिवर्तन करने की योजना बना ले। वे कहते हैं कि स्पष्ट ही लेखक ने समाज और मानवीय अवस्था का निष्पक्ष चित्र देने का असम्भव विचार त्याग दिया है। वे और कहते हैं— **"मनुष्य वह अस्तित्व है, जिसके प्रति कोई भी अस्तित्व निष्पक्ष नहीं हो सकता, यहां तक कि ईश्वर भी नहीं। क्योंकि यदि ईश्वर का अस्तित्व होता, तो भी वे इस प्रकार के होते, जिस प्रकार से उन्हें कुछ रहस्यवादी देख चुके हैं याने मनुष्य के साथ किसी न किसी परिस्थिति में सम्बद्ध। और ईश्वर वह अस्तित्व है, जो किसी परिस्थिति को**

बिना बदले नहीं देख सकते, क्योंकि उनकी दृष्टि अनन्तत्व की तरह स्वयं वस्तु को जमा देती है, नष्ट कर देती है, या चित्रण करती है।"

सार्त्र यह मानते हैं कि कुछ लेखक मध्यम दर्जे के होते हैं, पर उनको भी अपने प्रयत्न को इस प्रकार से जारी रखना पड़ता है कि वह एक अतिविख्यात लेखक है। वह कभी अपने से यह नहीं कह सकता कि यदि मेरे तीन हजार पाठक हो जायं, तो मैं भाग्यशाली हो जाऊँगा बल्कि वह अपने से यही कह सकता है कि यदि सब लोग मेरे पाठक हो जाय तो क्या होगा? यहां पर वह बात बिना याद आये नही रहती कि प्राज्ञ व्यक्ति अपने को अजर अमर समझकर विद्या और अर्थ का चिन्तन करें। इसमें तो करे पर जोर है, पर करता है यह तथ्य है, और न करे तो अर्थ और विद्या का चिन्तन कर ही न पावे। इसी प्रकार यदि लेखक अपने को अतिप्रसिद्ध व्यक्ति न समझे या यह न समझे कि जो कुछ वह कहना चाहता है, वह बहुमूल्य है, तो लेखनी उठाने की प्रवृत्ति ही जाती रहे। यह बात एक हद तक ठीक है, पर इससे असली प्रश्न पर क्या रोशनी पड़ी?

आगे चलकर सार्त्र अपने को स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं। वे कहते है कि—**"लेखक जानता है जैसा कि ब्रिस-पारां कहते हैं शब्द भरी हुई पिस्तौलों की तरह होते हैं। शब्द का उच्चारण मानो पिस्तौल दाग देना है। वह मौन भले ही हो, पर चूंकि उसने पिस्तौल दागी है, इसलिये उसे चाहिये कि वह ऐसा किसी निशाने की तरफ मार कर जवांमर्द की तरह करे, न कि एक बच्चे की तरह आंख बन्द करके अन्धाधुन्ध वार करे और इसलिये करे कि गोली दागने की आवाज के सुनने से उसे जो आनन्द होता है, उसके कारण मारे।"**

पिस्तौल वाली उपमा से ज्ञात होता है कि सार्त्र का वक्तव्य कुछ स्पष्ट हो गया, पर नहीं, उसमें तो आलंकारिक भाषा में केवल उतने की ही पुनरावृत्ति की गई है, जितना पहले कहा जा चुका था। अलंकारों से स्पष्टीकरण भी हो सकता है, पर यदि लेखक चाहे, तो अर्थ को शब्द-जाल में ढक भी दिया जा सकता है, और वह इस तरह हो सकता है कि भ्रम तो यही हो सकता है कि अर्थ प्रकट हुआ, पर असल में अर्थ अपने कछुवे की खोल में प्रविष्ट हो गया। इसके बाद भी सार्त्र जो कुछ कहते हैं, उससे कोई स्पष्टीकरण नही होता।

वे कहते हैं—*"शब्द अपने को स्वतन्त्र रूप से संगठित करें, उनसे वाक्य की रचना होगी, और प्रत्येक वाक्य में पूरी भाषा अपनी समग्रता में आ जाती है, और उसका सम्बन्ध पीछे की ओर समग्र विश्व जगत् से है। मौन की भी शब्दों से सम्बद्ध करके परिभाषा करनी पड़ेगी, जैसा कि संगीत के मध्य में जब विराम होता है, तो उसका अर्थ उसके चारों तरफ की स्वरलिपि से सम्बद्ध होता है। असल में यह मौन भी भाषा का ही एक मुहूर्त है, मौन रहने का अर्थ गूंगा रहना नहीं है, यह बोलने से अस्वीकार मात्र करना है, और इसलिये यह*

बोलने को जारी रखना है । इस प्रकार से यदि कोई लेखक विश्व जगत् के किसी भी पहलू पर चुप रहना स्वीकार करता है, या जैसा कि कहने का वह ढंग है, (जिसमें बिल्कुल अपनी बात स्पष्ट कर दी जाती है) वह विश्व संसार के किसी पहलू पर चुप रह कर उसे पार करता है, तो उसे एक तीसरा प्रश्न पूछने का अधिकार उत्पन्न होता है । वह प्रश्न है—'तुमने उसकी तुलना में इस पर बोलना क्यों स्वीकार किया, और चूंकि तुम परिवर्तन लाना चाहते हो, इसलिये तुम उस मामले में परिवर्तन क्यों चाहते हो, और इसमें परिवर्तन क्यों नहीं चाहते हो ?'"

यह सब कहते हुए भी सार्त्र मुद्दा पर नहीं आये । गद्य के सम्बन्ध में इस बात से अपने वक्तव्य का सूत्रपात करते हुए भी कि उसकी रचना के साथ उद्देश्य का सम्बन्ध है, वे बहक कर यह कहने लगते हैं कि कोई व्यक्ति लेखक इसलिए नहीं होता कि वह कुछ कहने का इरादा कर लेता है, बल्कि वह लेखक इसलिए कहलाता है कि वह उन बातों को एक विशेष ढंग से कहना स्वीकार करता है । यहीं पर शैली का प्रश्न उठ खड़ा होता है । इसमें कोई सन्देह नही कि शैली बहुत महत्वपूर्ण बात है, और यदि किसी लेखक को बहुत कुछ कहना हो, और अच्छाई बुराई की परिभाषा किये बगैर हम यह मान भी लें कि उसे जो कुछ कहना है, वह बहुत अच्छा है, पर लेखक को कहना न आवे तो वक्तव्य वस्तु की उत्तमता के कारण ही कोई महान् कलाकार नहीं हो सकता । सार्त्र ठीक ही कहते हैं कि गद्य का मूल्य उसको शैली में है । पर क्या केवल शैली से ही कोई अच्छा लेखक हो सकता है ?

हम इस प्रश्न का अपने ढंग से उत्तर न देकर सार्त्र के मत के उद्‌घाटन की चेष्टा करेंगे । उनका कहना है कि चूकि शब्द पारदर्शी होते हैं, और दृष्टि उनके ज़रिये से होकर देखनी है, इसलिए उनके बीच में शीशे की कुछ अपरिष्कृत चादरें डाल देना बहुत ही अजीब बात होगी । वे कहते है—"इस क्षेत्र में सौन्दर्य बहुत ही नाजुक और अदृश्य शक्ति है । चित्र में सौन्दर्य तो पहली ही दृष्टि में झलक जाता है, पर एक पुस्तक में वह अपने को गुप्त रखता है, और यह कंठस्वर या चेहरे के जादू की तरह समझा कर कार्यशील होता है । यह हम पर हावी नहीं होता, तथा व्यक्ति को उसके अनजान में ही उस तरफ झुका देता है । व्यक्ति तो यह समझता है कि वह तर्कों के प्रभाव के सामने आत्मसमर्पण कर रहा है, जब कि उसके सामने एक ऐसा जादू पैरवी करता रहता है, जिसे वह नहीं देख पाता ।"

इतने पर भी सार्त्र कहते हे—"साहित्य के स्वरूप पर पेशगी कुछ कहना नहीं है, और हमने कुछ नहीं कहा है । प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वरूप का आप आविष्कार करता है, और बाद को उस पर विचार करता है । यह सत्य है कि विषयों से ही शैली का सुझाव मिलता है, पर विषय उस सम्बन्ध में कुछ आदेश नहीं देते । यदि देखा जाय, तो साहित्य की कला के बाहर पहले से प्रस्तुत कोई शैली नहीं है । जेसुइट सम्प्रदाय पर आक्रमण करने से बढ़कर कोई बात पहले से अधिक खुली हुई और उबाने

वाली नहीं हो सकती, फिर भी इसी आक्रमण के ज़रिये से पास्काल ने उस अमर कृति की रचना की, जिसका नाम "प्रान्तीय पत्र" है। संक्षेप में असली बात जो जानने की है वह यह है कि लिखना किस सम्बन्ध में है, तितलियों के सम्बन्ध में या यहूदियों की अवस्था के सम्बन्ध में। और जब यह जाना जा चुका तब यह तय करना रह जाता है कि किस ढंग से इस सम्बन्ध में लिखा जाय। अक्सर ये दो चुनाव एक ही हैं। पर अच्छे लेखकों में दूसरा चुनाव कभी भी पहले चुनाव के पहले नहीं आता। अवश्य ऐसे लोग भी मौजूद हैं, जैसे जिरोद, जिनका कहना था कि एक मात्र चिन्तनीय विषय तो शैली है, विचार तो बाद को आ जाता है, पर वे गलती पर थे। विचार नहीं आता। इसके विपरीत यदि कई विषयों को समस्याओं के रूप में देखें, जो सर्वदा खुली हैं, या पैरवी या प्रतीक्षा के रूप देखें, तो यह सहज ही में समझ में आ सकता है कि पहले से विषय तय होने पर कला में कुछ न्यूनता नहीं आती। इसके विपरीत जिस प्रकार से पदार्थ-विज्ञान बराबर गणितज्ञों के सामने नई-नई समस्याएँ पेश करता रहता है, ताकि वे एक नये प्रतीकवाद को उत्पन्न कर सकें, उसी प्रकार से सामाजिक तथा आध्यात्मिक नई आवश्यकताओं के कारण कलाकार एक नई भाषा तथा नये टैकनीक प्राप्त करने में फंस जाता है। यदि अब हम अठारहवी सदी के ढंग पर नही लिखते, तो इसका कारण यह है कि कविवर रासीन या सांतेव्रेमी की भाषा में हम रेल के इंजिनों या सर्वहारा के सम्बन्ध में लिख नहीं सकते। शायद यह सुनने के बाद पवित्रतावादी हमें रेल के इंजिनों के सम्बन्ध में लिखना निषेध कर दें, पर कला कभी भी पवित्रतावादियों के पक्ष में नहीं रही है।"

सार्त्रे अपने आलोचकों से बहुत चिढ़े हुए हैं, इसलिए इसके बाद वे अपने आलोचकों को रगड़ने में लग जाते हैं। वे कहते हैं कि उनके आलोचक उनकी सोद्देश्यता की निन्दा करते हैं, पर वे किसी आधार पर अपने को स्थिर किये बिना ही ऐसा करते हैं, इसलिए वे बेपेंदी के लोटे की तरह लुढ़कते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। वे यह जानते ही नहीं कि उन्हें कहना क्या है। उन्हीं की भाषा मे सुनिए —

'उन लोगों के लिए सबसे युक्तिसंगत बात यह होती कि वे अपनी निन्दा को बल पहुंचाने के लिए *कला कला के लिए* सिद्धान्त की शरण ले लेते। पर उनमें से कोई भी इसे स्वीकार नहीं कर पाते। यह भी बहुत अजीब बात है। हम अच्छी तरह जानते हैं कि विशुद्ध कला और शून्यगर्भ कला एक ही बात है, और सौन्दर्यगत विशुद्धतावाद गत शताब्दी के पूंजीपतिवर्ग की एक बहुत ही अच्छी चाल थी, वह इस अर्थ में कि वे अपने को फिलिस्टीन के रूप में पेश करना बल्कि पसन्द करते थे, पर वे यह नहीं चाहते थे कि शोषक के रूप में उनकी कलई न खुल जाय। इस प्रकार उन लोगों ने यह माना कि लेखक को कुछ न कुछ कहना पड़ता है। पर क्या कहना पड़ता है? मेरा ऐसा विश्वास है कि यदि उस युद्ध के बाद फर्नान्डेज उनके लिए सन्देश की धारणा का आविष्कार न करते तो उनकी बड़ी फजीहत होती। अब उन लोगों का कहना है कि लेखक को किसी भी हालत में

पार्थिव मूल्यों को लेकर नहीं लिखना चाहिए, और न उसे अर्थहीन तरीके से रेखाएं अंकित करने या शब्दावली और उपमा का सौन्दर्य ही खोजना चाहिए। बताया गया कि उसका काम तो अपने पाठकों को सन्देश देना है। पर यह सन्देश है क्या बला? यहां पर यह स्मरण रखना चाहिए कि अधिकांश आलोचक ऐसे लोग हैं, जो विशेष सौभाग्यशाली नहीं रहे हैं, और जब कि वे निराशा से करीब करीब मर रहे थे, उस समय उन्हें सन्देश-वाली बात सुझाकर कब्रिस्तान के पहरेदार वाला धन्धा दिया गया।"

इस प्रकार विषयान्तर-सा करते हुए (शायद विषय को चटपटा बनाने के लिए) सार्त्र आलोचकों की अच्छी तरह ख़बर लेते हैं, और यह स्पष्ट करते हैं कि कब्रिस्तान के पहरेदार से उनका क्या मतलब है। वे बताते हैं, जब तक लेखक जीवित रहता है, तब तक आलोचक का ध्यान उस पर नहीं जाता। क्या इसमें यह भी बात है कि लेखक के जीवन काल में आलोचकों की दाल उतनी नहीं गलती, क्योंकि यदि आलोचक दो कहता है, तो लेखक कम से कम दो तो कह ही सकता है, और इस प्रकार आलोचक के गुब्बारे में छेद कर सकता है। इसी को वे कहते हैं—"उसकी तो उस समय चांदी होती है, जबकि समसामयिक लेखक मर कर उस पर कृपा करते हैं। लेखकों की बहुत ताजी, बहुत सजीव पुस्तकें वैतरणी के उस पार जाते ही आडम्बरहीन और अधिकाधिक सुन्दर होती जाती हैं। परलोक में कुछ दिन बीतते ही लेखक की रचनाओं में नये मूल्य पैदा हो जाते हैं।"

यहां पर सार्त्र का कटाक्ष उन आलोचकों पर है, जो किसी लेखक की तब तक बुराई करते रहते हैं जब तक कि वे जीवित रहते हैं, और मरने के बाद उसकी तारीफ के पुल बांधते हैं। यहां यह बता दिया जाय कि लेखक की तरफ ध्यान न देना, यह भी उसकी बुराई है। लार्ड ब्राइस ने यह लिखा था कि अमेरिका की राजनीति में लोगों का दूसरों से कहना यह है, "यदि तुम मेरी प्रशंसा नहीं कर सकते हो तो मेरी निन्दा करो।" राजनीति में जिस प्रकार यह सत्य है, उसी प्रकार साहित्य में भी यह सत्य है। बुराई से लेखक शायद न मरे, कई बार तो उसे इससे बड़ा लाभ होता है, पर मौन से उसे बड़ी हानि हो सकती है। अवश्य अन्ततोगत्वा सभी उच्चकोटि के लेखकों को उपयुक्त स्वीकृति प्राप्त होती है, बशर्ते कि तब तक उसकी कृतियां लुप्त न कर दी जायं (जैसे कि चार्वाक की रचनाएँ लुप्त कर दी गईं और अब उसका पता केवल उसके विरोधियों की रचनाओं में प्राप्त उल्लेखों से ही मिलता है) या प्राकृतिक या अन्य कारणों से लुप्त न हो जाय।

जीवित रहते समय लेखक की बुराई और उसके मरने पर उसकी तारीफ के पुल बांध दिये जाने का एक उदाहरण हमारे यहां इलाचन्द्र जोशी का है, जो प्रेमचन्द के पक्के विरोधी रहे, पर प्रेमचन्द की मृत्यु के बाद ही पता नहीं डर से या रोब से उनके प्रशंसकों में हो गये। ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। सार्त्र ने आधुनिक यूरोपीय साहित्य से इस प्रकार की आलोचना के कई उदाहरण दिये हैं। कुछ नाम गिना कर उन्होंने कहा है कि आलोचक अमुक-अमुक लोगों को दो कौड़ी का समझते थे, पर मरते ही उन्हें आसमान पर चढ़ा दिया। इसके बाद वे यह कहते हैं कि अब आलोचक अमुक-अमुक लेखक की मृत्यु की

प्रतीक्षा कर रहे हैं। "इतना सब होते हुए भी जो लेखक जीते ही जाते है, उनसे आलोचकों का यह कहना है कि वे इधर उधर बहुत न फिरें, और अब से यह चेष्टा करें कि उन मृतों की तरह हो जायं, जिनमें उन्हें आखिर शामिल होना ही है। फ्रेंच कवि पालवालेरी को यह कला आती रही कि वे पचीस साल तक अपनी पुस्तकों को इस प्रकार सामने लाते रहे मानो वे मर चुके हों, इस तरह उनका काम बहुत बढ़िया ढंग से बना। कुछ अत्यन्त विरल सन्तों की तरह मृत्यु से पूर्व ही उन्हें सन्तों की श्रेणी के अन्तर्भुक्त कर लिया गया। पर आंद्रे मालरो तो कुत्सा से भरे हुए हैं। हमारे आलोचक बहुत उच्च सदाचार के समर्थक हैं। वे वास्तविक जगत् में खाने पीने के सिवा कुछ करना नहीं चाहते और चूंकि हमारे सह-प्राणियों के साथ सम्बन्ध रखना जरूरी है, इसलिए उन्होंने मृतों के साथ सम्बन्ध रखना स्वीकार किया है। वे जब जोश में आते है, तो वर्गीकृत विषयों, निपटाये हुए झगड़ों तथा जिनका अन्त मालूम हो चुका है, ऐसी कहानियों के विषय में जोश में आते है।"

इस प्रकार से लथाड़ने की प्रक्रिया चलती जाती है। वे एक के बाद एक तर्क देकर आलोचकों को राह में लाने की चेष्टा करते हैं। वे कहते हैं कि शताब्दियों के दौरान में विचार चंपटे पड़ जाते हैं, फिर भी वे किसी एक व्यक्ति के छोटे वैयक्तिक लक्ष्य के रूप में रह जाते हैं, जो कभी अस्थिमांस का बना हुआ था। इस दृष्टि से देखते हुए सार्त्र साद को कुत्सात्मक न पाकर उसे एक सुन्दर रोग से पीड़ित मात्र पाते हैं। रूसो ने रंगमंच के विरुद्ध पुस्तक लिखी थी, उससे सार्त्र कहते हैं कोई नाटक देखने से रुकता नही है, बल्कि उस पुस्तक का केवल इतना ही महत्व रह जाता है कि रूसो की तरह व्यक्ति नाट्यकला से घृणा करते थे। सार्त्र कहते हैं कि यदि इसके साथ हमें मनोविश्लेषण का अच्छा ज्ञान है, तब तो हमें और भी आनन्द आता है क्योंकि रूसो लिखित 'सामाजिक ठेका' की व्याख्या एडिपस जटि-लता से और 'कानून की आत्मा' नामक पुस्तक की व्याख्या हीनताबोध जटिलता से की जाती है। सार्त्र इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि फ्रेंच राज्य क्रान्ति के पिता रूसी और नस्लवाद के पिता गोबिनो दोनों हमारे लिये सन्देश छोड़ गये। 'पर आलोचक दोनों को एक सी सहानुभूति से अवलोकन करता है। यदि वे आज जीवित होते, तो आलोचक को दो में से एक को चुनना पड़ता, एक से प्रेम करना पड़ता, और दूसरे से घृणा। पर जिस बात से वे एकत्र हो जाते हैं, वह सर्वोपरि यह है दोनों गम्भीर रूप से और रुचिकर रूप से गलती पर थे और वह भी एक ही प्रकार से, वह यह कि दोनों मृत हैं।'

सार्त्र सन्देश देने वाली बात का इस प्रकार से विरोध करते है कि उनके अनुसार जिन लेखकों में सन्देश है, वह इच्छाकृत नहीं है। उनके उदाहरण फ्रेंच साहित्य से ही हैं, इसलिए हम उसके ब्यौरे में नहीं जायेंगे। वे अन्त में कहते हैं कि इन सारी बातों का निर्णय तभी हो सकता है, जबकि इन प्रश्नों का उत्तर दिया जाय कि क्यों लिखा जाय। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं—"प्रत्येक लेखक का अपना ही कारण होता है। किसी लेखक के लिये लिखना तो एक पलायन है, किसी के लिये लिखना विजय का उपसाधन है। और इनमें भी प्रकार-भेद होते हैं, जैसे कोई भाग कर आश्रम में पहुंच

सकता है, कोई पागलपन में और कोई मृत्यु में। रही विजय की बात, सो यह तो शस्त्रों से हो सकती है, फिर इसमें लिखने का सवाल क्यों उठता है ? आखिर भागने और विजय करने के लिये लिखना अपनाने में क्या तुक है ? बात यह है कि लेखक के विभिन्न उद्देश्यों में गम्भीरतर और अधिक तात्कालिक कुछ निर्णय करने पड़ते हैं, जो हम सब के लिये सामान्य हैं ।"

इस सामान्यता का स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं–"हमारी प्रत्येक अनुभूति के साथ-साथ यह चेतना चलती है कि मानवीय वास्तविकता एक उद्‌घाटक है याने मानवीय वास्तविकता के जरिये से ही अस्तित्व का बोध होता है, दूसरे शब्दों में मनुष्य ही वह जरिया है जिसके जरिये से वस्तुएं प्रकाशित होती है। जगत् में हमारी उपस्थिति के कारण ही सम्बन्ध बहुगुणित हो जाते है। हम ही हैं, जिसके कारण इस पेड़ और आकाश के उस खंड के बीच सम्बन्ध स्थापित होता है । हमें धन्यवाद है कि वह नक्षत्र जो हजारों वर्षों से मृत है, चांद का वह चतुर्थांश, वह धुंधली नदी सब एक होकर एक दृश्य में उद्‌घाटित होते हैं। हमारी मोटरकार और हमारे हवाई जहाज की गति से मिट्‌टी के विराट लौंदे संगठित होते हैं। हमारे प्रत्येक कार्य के साथ-साथ विश्व जगत् का एक नया चेहरा उद्‌घाटित होता है, पर साथ ही यदि हम जानते हैं कि हम अस्तित्व के संचालक हैं, तो हम यह भी जानते हैं कि हम उसके उत्पादक नही है। यदि हम इस दृश्य से आंख फेर लेते है, तो यह अपने धुंधले स्थायित्व में फिर से डूब जायगा। यह डूब ही जायगा, पर कोई इतना पागल नहीं हो सकता कि वह कहे कि वह विनष्ट हो जायगा। विनष्ट तो हम हो जायेंगे और पृथ्वी तब तक अपनी उदासीनता में पड़ी रहेगी, जब तक कि कोई और चेतना उसे जगाने के लिये नहीं आती। इस प्रकार हमें एक तरफ तो आन्तरिक रूप से यह निश्चय है कि हम उद्‌घाटक हैं, पर साथ ही उद्‌घाटित पदार्थ के लिये हमारी अनिवार्यता भी जुड़ जाती है।"

इस प्रकार सार्त्र जो कुछ कहते हैं, उसमें पुराने ग्रीक दार्शनिक की वही बात सामने आ जाती है कि मनुष्य ही वस्तुओं का प्रमापक है, पर इसमें एक दूसरी बात क भी पुट लगा हुआ है, वह है अपनी असहायता के बोध का। सार्त्र के दर्शन की यही विशेषता है । अस्तगत तथा अस्तायमान पूंजीवाद विशेषकर पेरिस में उसका जो रूप है, उसके चित्रकार से हम और क्या आशा कर सकते हैं। वे इन बातों के साथ कलात्मक सृजन की प्रक्रिया को यों मिलाते हैं। वे कहते है–"कलात्मक सृजन के अन्यतम प्रधान उद्देश्यों में इस भावना की आवश्यकता है कि हम विश्व जगत् के लिये अपरिहार्य हैं। यदि मै कैनवास पर या लिखने के जरिये से खेत, समुद्र के किसी पहलू को रख देता हूँ या किसी ऐसे चेहरे की एक झलक को रखता हूँ, जिसे मैंने उद्‌घाटित किया है, तो मुझ में यह चेतना आती है कि मैंने उनके सम्बन्धों को घनीभूत करके तथा जहां कोई शृंखला नहीं थी, वहां शृंखला का प्रवर्तन कर तथा वस्तुओं की विविधता पर मन की एकता लाद कर पेश किया है। दूसरे शब्दों में मुझे यह अनुभूति होती है कि मैं

अपने सर्जन के लिये अनिवार्य हूं। पर अब की बार सर्जित वस्तु मेरी पकड़ के बाहर निकल जाती है। मैं एक ही साथ सर्जन और उद्घाटन नहीं कर सकता। सर्जनात्मक कार्य का जहां तक सम्बन्ध है, उसके लिये सर्जन अनिवार्य हो जाता है। सबसे पहले यह बात है कि भले ही दूसरों को सर्जित वस्तु सम्पूर्ण जंचे, पर वह हमें हमेशा असम्पूर्ण जंचता है। हम हमेशा उस रेखा, उस शेड तथा उस शब्द को बदल सकते हैं। इस प्रकार इनकी मुझ पर कोई जबर्दस्ती नहीं है। एक नौसिखिये चित्रकार ने अपने गुरु से पूछा—"मैं कब यह समझू कि मेरा चित्र सम्पूर्ण हो गया?" इस पर गुरु ने कहा—"तुम तब अपने चित्र को सम्पूर्ण समझो, जब तुम उसकी ओर विस्मय से देख कर यह कह सको 'ओह मैंने ही इसे बनाया'।" जिसका अर्थ यह हुआ कि कभी नहीं।

विशेषकर साहित्यिक रचना के सर्जन पर लिखते हुए सार्त्र यह लिखते हैं कि "साहित्यिक वस्तु एक अजीब लट्टू की तरह है, जिसका अस्तित्व केवल गति में है। इसे दृश्यमान करने के लिए एक ठोस कार्य, जिसे पढ़ाई कहते हैं; करना जरूरी है; और यह तभी तक टिकती है, जब तक यह कार्य जारी रहता है। इसके अलावा तो बस कागज पर काले चिह्न रह जाते हैं। लेखक जो कुछ लिखता है, वह इसे पढ़ नहीं सकता, जबकि जूते बनाने वाला अपने बनाये हुए जूते को पहिन सकता है बशर्ते कि वे उसकी नाप के हों, इसी प्रकार स्थपति अपने बनाये हुए घर में रह सकता है। पढ़ाई में पाठक चीज को पहले से देखने की चेष्टा करता है। वह प्रतीक्षा करता है। पाठक यह देखना चाहता है कि इस वाक्य का अन्त किस प्रकार होगा, इस पृष्ठ पर क्या आयेगा, वह मानो अपनी इस भविष्य दृष्टि तथा सूझ की सत्यता या असत्यता को देखता हुआ आगे बढ़ता है। पढ़ाई में कई तरह के अनुमान, स्वप्न जिनके बाद जागरण आता है, आशाएँ तथा प्रवंचनाएँ आ जाती हैं। पाठक जिस वाक्य को पढ़ता होता है, वह हमेशा उससे आगे रहता है। पढ़ाई के चलने के साथ-साथ यह आगे रहना वह आंशिक रूप से ढह जाता है, और आंशिक रूप से रह जाता है, और एक पृष्ठ से दूसरे पृष्ट में जाने पर बढ़ता घटता रहता है, इस प्रकार से साहित्यिक वस्तु का बिगड़ता बनता हुआ क्षितिज बनता चला जाता है। बिना प्रतीक्षा के, बिना भविष्य के तथा बिना अज्ञान के कोई वस्तुतांत्रिकता हो नहीं सकती।"

सार्त्र इन बातों से यह कहना चाहते हैं कि यों तो लेखक भी उसी प्रकार से अपनी पुस्तक पढ़ सकता है, जिस प्रकार से अन्य पाठक। पर वह उसे उस रूप में नहीं पढ़ सकता जिस रूप में उसे पाठक पढ़ता है। बात यह है कि अनुभूतियां भिन्न होती हैं। लेखक को अपनी पुस्तक में अपना ही ज्ञान, अपनी इच्छा, अपनी योजनाएं मिलती हैं, याने संक्षेप में वह स्वयं को ही देखता है। इस प्रकार सार्त्र इस उपसंहार में पहुंचते हैं कि लेखक का अपने लिये लिखना तो एक असंगति है। वे स्पष्ट कहते हैं—**यह सच हो नहीं सकता कि कोई अपने लिए लिखे।** + + लिखने के कार्य का मतलब ही यह है कि तर्क की दृष्टि से पढ़ने का कार्य उसके साथ बंधा हुआ है, और इन दो परस्पर सम्बद्ध कार्य के लिये दो भिन्न कर्त्ताओं की आवश्यकता है—लेखक और पाठक की संयुक्त चेष्टा से ही वह ठोस

और काल्पनिक वस्तु क्षेत्र में आती है, जो मन की उपज है। कोई भी कला ऐसी नहीं हो संकती, जो दूसरों के लिये तथा दूसरों के द्वारा न हो।"

वे फिर पाठक और लेखक के सम्बन्ध पर लौटते हुए कहते हैं कि पाठक के लिये जो कुछ करना है, वह पहिले ही किया जा चुका है। वे कहते हैं कि "लेखक और पाठक के बीच एक उदारता का शर्तनामा होता है। दोनों का परस्पर विश्वास करते हैं, दोनों एक दूसरे पर भरोसा करते हैं और दोनों एक दूसरे से उतनी ही मांग करते हैं, जितनी अपने से करते हैं। यह विश्वास ही मानो उदारता है। लेखक को किसी प्रकार यह विश्वास करने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता कि पाठक अपनी स्वतन्त्रता का इस्तेमाल करेगा। इसी प्रकार पाठक को कभी यह विश्वास करने के लिये बाध्य नही किया जा सकता कि लेखक ने अपनी स्वतन्त्रता का इस्तेमाल किया है। दोनों एक युक्त निर्णय करते हैं। इस प्रकार से एक द्वन्द्वात्मक आवागमन स्थापित हो जाता है। जब मै पढ़ता हूं, तब मै मांग करता हूं। यदि मेरी मांगें पूरी होती हैं, तो जो कुछ मैं पढ़ता हूं, उससे मै लेखक से और अधिक मांग करने के लिये उत्तेजित होता हूं, जिसका अर्थ यह है कि लेखक मुझ से और अधिक मांग करे, और इसी प्रकार इसके विपरीत लेखक की मांग यह होती है कि मैं अपनी मांगों को ऊंची से ऊंची चोटी पर ले जाऊं। इस प्रकार मेरी स्वतन्त्रता अपने को उद्‌घाटित करके दूसरों को भी उद्‌घाटित करती है।"

वे वस्तुवाद या यथार्थवाद की 'भ्रान्ति' का उद्‌घाटन करते हुए कहते हैं—"यथार्थ-वाद की भ्रान्ति इस बात में रही है कि उसमें विश्वास किया जाता है कि यथार्थ निरीक्षण के लिये खुला है और इसके फलस्वरूप इसका निष्पक्ष चित्र खींचा जा सकता है, पर यह हो कैसे सकता है क्योंकि अनुभूति ही पक्षपातपूर्ण होती है, क्योंकि और तो और नामकरण ही वस्तु का मोडिफिकेशन या परिवर्तन कर देना है। और यह कैसे हो सकता है कि लेखक जो इस विश्व जगत् के लिये अनिवार्य होना चाहता है इस विश्व जगत् में अन्तर्निहित अन्याय के लिये अनिवार्य होना चाहेगा? फिर भी उसे ऐसा होना पड़ता है, पर जब वह इस प्रकार अन्यायों का सर्जक होना स्वीकार करता है, तो वह उनके परे भी इस प्रकार से जाता है कि उनका विनाश हो।"

पाठक की स्वतन्त्रता की दृष्टि से वे कहते हैं कि—"और यदि मेरे सामने अन्यायों के सहित यह दुनिया पेश की जाती है, तो यह इसलिये नहीं कि मैं ठंडे दिमाग से उसे अव-लोकन करूं, बल्कि इसलिये कि मैं क्रोध से उसे सजीव बना दूं, उन्हें उद्‌घाटित करूं और अन्यायों के रूप में उनका सर्जन करूं याने ऐसी बुराइयों के रूप में जिन्हे दबाना है।"

सार्त्र यह नहीं मानते कि कोई 'अन्धकारपूर्ण' साहित्य भी हो सकता है क्योंकि उनके अनुसार चाहे जितने काले रंग में जगत् का चित्रण किया गया हो, चित्रण इस प्रकार से होता है कि स्वतन्त्र व्यक्ति इसके सामने पड़ कर अपनी स्वतन्त्रता का अनुभव कर सके। इसलिये सार्त्र कहते हैं, "सिर्फ अच्छे और बुरे उपन्यास होते है। बुरे उपन्यास में खुशामद के द्वारा खुश करने की चेष्टा की जाती है, पर अच्छा उपन्यास दबाव डालने वाली

आवश्यकता और एक 'ऐक्ट आफ फेथ' होता है।" इसीलिये सार्त्र यह नहीं मानते कि अपने साहित्य के द्वारा लेखक किसी प्रकार भी अन्याय की अनुमति दे सकता है। वे यह भी कहते हैं कि पाठक ऐसी रचना को पढ़कर अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग नहीं कर सकता जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य की अधीनता को पसन्द किया जाता है, स्वीकार किया जाता है या केवल उसकी निन्दा करने से चूका जाता है। वे कहते हैं—"एक अमेरिकन हब्शी के द्वारा लिखे गये ऐसे उपन्यास की कल्पना की जा सकती है जिसमें जातियों के प्रति घृणा कूट-कूट कर भरी हो क्योंकि इस घृणा के जरिये से वह अपनी जाति की स्वतन्त्रता चाहता है। और चूंकि लेखक मुझे उदारता का रुख ग्रहण करने का निमन्त्रण देता है, इसलिये उस मुहूर्त में अपने को विशुद्ध स्वतन्त्रता के रूप में मैं अपने को निर्यातितों के साथ एक करके देखे बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार मैं सब स्वतन्त्रताओं से यह मांग करता हूं कि वे श्वेत जातियों के विरुद्ध और जहां तक कि मैं श्वेत जाति का अंग हूं वहां तक मेरे विरुद्ध अश्वेत जातियों की मुक्ति की मांग करें, पर कोई भी एक मुहूर्त के लिये भी यह नहीं मान सकता कि यहूदी-विरोधी कोई अच्छा उपन्यास लिखा जा सकता है। जिस मुहूर्त में मैं यह अनुभव करता हूं कि मेरी स्वतन्त्रता दूसरे सब व्यक्तियों की स्वतन्त्रता के साथ अच्छेद्य रूप से सम्बद्ध है, उसी मुझ से मुक्त से यह आशा की जाती है कि मनुष्यजाति के एक हिस्से की गुलामी का समर्थन न करूं।" इतना सब कहते हुए भी सार्त्र अन्त में जाकर यह कहते हैं कि लेखक के लिये चाहे वह उपन्यासकार हो, व्यंग्य-लेखक हो, चाहे कुछ हो, एक ही लक्ष्य हो सकता है—स्वतन्त्रता।

इसी बात को वे आगे चलकर यों कहते हैं—"कोई लेखक गुलामों के लिये नहीं लिखता। गद्य की कला उसी एकमात्र शासन-प्रणाली याने लोकतन्त्र से बंधी हुई है जिसमें वह कोई अर्थ रखता है। जब लोकतन्त्र खतरे में पड़ जाता है, तो गद्य की कला भी खतरे में पड़ जाती है।" सार्त्र ने दिखलाया है कि फेसिस्ट युग में गद्य नहीं पनपा और द्रियें ला रोशेल ऐसे लेखक ने जर्मनों की ओर से एक पत्रिका चलानी चाही, पर वह चल नहीं पाई क्योंकि ला रोशेल ने दूसरों की गुलामी चाही थी।

यह सब मानते हुए भी सार्त्र किसी विचारधारा को लेकर साहित्य रचना के प्रति विरोध दिखलाते हैं। वे कहते हैं—"मेरा यह कहना है कि किसी एक युग का साहित्य उस हालत में अपनेपन को खोकर पराया हो जाता है, जबकि यह अपने स्वातन्त्र्य की स्पष्ट चेतना खो देता है, और वह राष्ट्रशक्ति (टेम्पोरल) या किसी विचारधारा की अधीनता स्वीकार कर लेता है। संक्षेप में जब यह अपने को एक शर्तहीन लक्ष्य समझने के बजाय साधन समझने लगता है।" यहीं पर आकर हमें सार्त्र की बात किसी प्रकार समझ में नहीं आती। सार्त्र एक तरफ तो कला कला के लिये सिद्धान्त का उपहास करते हैं और उसे मध्ययुगीन बताते हैं, और दूसरी तरफ वे विचारधारा के आनुगत्य की निन्दा करते हैं। आखिर यह जगत्-व्यापार किसी न किसी नियम के अनुसार चल रहा है, अवश्य यहां यह स्पष्ट कर दिया जाय कि वह

नियम पहले से निश्चित नहीं है, बल्कि बहुत निरीक्षण करने के बाद इस नियम का आविष्कार किया गया है, फिर इस नियम के उन उपादानों को जो मानव के कल्याण के लिए सहायक हैं, उन्हें अपना कर तथा उन्हें बल पहुँचाने के लिए साहित्य सृष्टि करने में क्या बुराई है ?

सार्त्र के साहित्य और कला सम्बन्धी विचारों में यही असंगति है कि वे जिस समय सामाजिक विश्लेषण करने बैठते हैं, उस समय तो ऐसा मालूम होता है कि वे सही मार्ग की ओर जा रहे हैं, पर जाते-जाते न मालूम क्या हो जाता है, वे फिर ऐसी बातें कहना शुरू कर देते हैं, जिससे कही हुई सारी बातें व्यर्थ हो जाती हैं। मालूम होता है––हमारे देश के कथित प्रयोगवादियों ने भी तर्क करने का यही ढंग अपनाया है। कई बार उनकी बातें सुन कर ऐसा ज्ञात होता है कि वे ठीक ही कह रहे हैं, पर बीच ही में न मालूम क्या हो जाता है, वे बहकी-बहकी बातें करने लगते हैं। अवश्य सार्त्र के साथ इनकी तुलना केवल कागजी तुलना ही है, क्योंकि सार्त्र जब बात करते हैं, तो वे इतिहास और दर्शन के एक महा पण्डित की तरह बातें करते हैं, जबकि हमारे यहां के प्रयोगवादी अजीब जनखेपन के साथ एक बहुत छोटे दायरे में ही गुचुर-गुचुर करते रहते हैं ।

विशेषकर फ्रांस के आधुनिक लेखकों के सम्बन्ध में सार्त्र कहते है––"हम संसार में सबसे अधिक बुर्जुआ लेखक हैं, अच्छे मकानों में रहते हैं, अच्छे कपड़े पहनते हैं, पर उतना अच्छा खाते नहीं, पर यह बात भी अर्थपूर्ण है, क्योंकि एक बुर्जुआ एक मजदूर की तुलना में अपने कपड़े-लत्तों और निवास-स्थान पर अधिक खर्च करता है, तिस पर हम में से सभी बुर्जुआ संस्कृति में स्नात हैं। + + + हम लोगों को सभ्य समाज में पुस्तकों का पनपना उसी प्रकार से स्वाभाविक मालूम होता है, जिस प्रकार से एक उद्यान में पौधों का पनपना।"

सार्त्र ने यह भी दिखलाया है कि फ्रांस के लेखक सब पेरिस में एकत्रित हैं और किसी भी व्यस्त अमेरिकन के लिये यह सम्भव है कि चौबीस घंटे के अन्दर वह बड़े से बड़े फ्रेंच लेखकों के मतों का पता लगा ले। पेरिस ही फ्रेंच साहित्य का केन्द्र है। वही बैठकर फ्रेंच लेखक विभिन्न विषयों पर लिखते हैं और खूब लिखते हैं। रचना के अनुसार आप चाहें तो किसी को सन्त, वीर, रहस्यवादी, ऐडवेंचर करनेवाला, फरिश्ता, जादूगर. जल्लाद, शिकारी जो भी चाहें कह सकते हैं, पर सबसे पहिले सार्त्र के अनुसार वे बुर्जुआ हैं। उनके कथनानुसार "इसे स्वीकार करने में कोई शरम नहीं है। हम लेखक एक दूसरे से भिन्न केवल उसी हद तक हैं, जिस हद तक हम इस सब के लिए सामान्य परिस्थिति को लेते हैं।"

सार्त्र के अनुसार समसामयिक साहित्य में तीन पुश्त बताई जा सकती है। पहली पुश्त तो उन लेखकों की है, जिन्होंने १९१४ के महायुद्ध के पहले लिखना शुरू किया पर इस समय तक उनका कर्मजीवन समाप्त हो चुका है और भले ही उनकी

भविष्य रचनाएँ शाहकार हों, उससे उनके यश में कोई विशेष वृद्धि नहीं होगी। इन लेखकों के सम्बन्ध में सार्त्र का कहना है कि इन लोगों ने साहित्य और बुर्जुआ जनता के बीच एक समझौते के लिए मार्ग प्रस्तुत किया। इन लेखकों के सम्बन्ध में जैसे जीद, मोरियाक, प्रुस्ट, मोरवा, दिह्रामेल, क्लोदेल, जिरोद के सम्बन्ध में सार्त्र दिखलाते हैं कि वे साहित्य से जीविका उपार्जन नहीं करते थे। इसका कारण यह बताया गया है कि उस युग में जब उन्होंने लिखना शुरू किया, इसके लिए गुंजाइश नहीं थी।

फ्रेंच लेखकों की दूसरी पुश्त १९१८ के बाद मानी गई है। इस युग के लेखकों में आतशबाजी की प्रवृत्ति अधिक थी। सर्रियेलिज्म इसी युग की उपज है और इस मतवाद के लेखक ने उस विनम्र निश्चयता को घृणा की दृष्टि से देखा, जिस पर स्टोइक अपने सदाचार को आधारित रखते थे। ये लेखक इस सदाचार द्वारा लादी हुई सीमाओं और उत्तरदायित्वों से नाराज़ थे, और आत्मचेतना से पलायन, इसकारण संसार में अपनी परिस्थिति से पलायनके लिए किसी भी साधन को ये अपनाने के लिए तैयार थे। इन लेखकों ने मनोविश्लेषण को इसलिए अपनाया कि इसमें चेतना पर सब तरह के परोपजीवी झाड़-झंखाड़ों के द्वारा आक्रान्त दिखलाया जाता था। मजे की बात यह है कि यही सर्रिलियज्म अपने को क्रान्तिकारी घोषित करता है, और साम्यवादी दल की ओर मित्रता के हाथ बढ़ाता है। इसका कारण क्या है, इस पर सार्त्र कहते हैं—"कारण बिल्कुल स्पष्ट है। ये लेखक जो नौजवान हैं सर्वोपरि अपने परिवार को, अपने सेनापति चाचा को, अपने मौसेरे भाई पादरी को नष्ट करना चाहते है, और जैसा कि १८४८ में बोदलेरे ने देखा था कि फर्वरी क्रान्ति में जनरल ओपिक के घर में आग लगाने की सुविधा है, वैसा ही इन्होंने देखा। यदि वे गरीब थे तो साथ ही साथ उनमें कुछ जटिलताएँ, ईर्ष्या और भय थे, जिनसे छुटकारा पाना था। इसके अतिरिक्त वे बाहरी नियन्त्रण के विरुद्ध विद्रोह कर रहे थे याने वे अभी-अभी समाप्त युद्ध जिसमें हर समय सेन्सर का भूत सवार था, सैनिक सेवा, टैक्स, सैनिकों के द्वारा पूर्ण विधान सभाओं आदि से छुटकारा पाना आदि था। फिर चारों तरफ सार्वजनिक धोखा था। वे पादरियों के विरुद्ध थे, साथ ही उपनिवेश-वाद और मोरक्को के युद्ध से परेशान थे।"

ये सारी वृत्तियां बुर्जुआ वर्ग के विनाश से ही तृप्त हो सकती थीं। अवश्य ये लोग व्यावहारिक क्रान्तिकारी नहीं थे, इसलिए उनमें बहुत सी असंगतियां थी। सार्त्र ने यह दिखलाया है कि सर्रिलियज्म में जिस परम विनाश का स्वप्न देखा गया है, उससे किसी को हानि नहीं पहुँचती, क्योंकि यह विनाश सम्पूर्ण है। "यह विनाश इतिहास से बाहर एक निरवच्छिन्न है, एक काव्यमय उपन्यास है।"

सार्त्र अपने को तीसरी पुश्त का बतलाते हैं, और कहते हैं कि यह वह पुश्त है जिसने पराजय के बाद युद्ध के कुछ पहले लिखना शुरू किया। उस समय के साहित्यिक वातावरण में भी अतिपंथियों का बोलबाला था। इस वातावरण में

लेखकों ने एक दूसरे से अलग होने का चाहे कुछ भी प्रयत्न किया हो, पर पाठकों के मन में, जहां कि वे एकत्र थे, वे परम्परा के द्वारा कलुषित और भ्रष्ट थे। सार्त्र यह दिखाते हैं कि "गरमपंथी और नरमपंथी किसी को भी अब इतिहास से सरोकार नहीं था, यद्यपि एक ने प्रगतिवादी वामपक्ष का साथ दिया और दूसरे ने क्रान्तिकारी वामपक्ष का साथ दिया।"

हम और ब्यौरे में नहीं जायेंगे। सबसे बड़ी बात जिस पर हम ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, वह यह है कि सार्त्र समसामयिक साहित्य को उस समय की आर्थिक सामाजिक परिस्थिति से सम्बद्ध करके देखते हैं। कहां तक वे सही देखते हैं, इस पचड़े में हमें पड़ने की जरूरत नहीं है। इस प्रकार साहित्य और समाज को सम्बद्ध करके देखना ही सबसे बड़ी बात है। सब कुछ कहने के बाद वे यह कहते हैं—"कोई रचना तब तक सुन्दर नहीं हो सकती, जब तक वह किसी न किसी प्रकार से रचयिता से भाग न जाय। यदि वह बिना योजना किये अपने को चित्रित करता है, यदि उसके चरित्र उसके नियन्त्रण से भाग कर उस पर अपनी खामख्याली लाद देते हैं, यदि उसकी लेखनी से निकलकर शब्द कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेते हैं, तो वह अपनी सर्वोत्तम रचना करता है।" दूसरे शब्दों में वे अनुप्रेरणा की बात कह रहे हैं। यह बात तो सर्बमान्य है कि जब तक अनुप्रेरणा नहीं होती, तब तक उसमें चाहे और कोई गुण हो, वह साहित्य की श्रेणी में नहीं आ सकती। इसी बात को सार्त्र ने अपने ढंग से कहा है। फिर भी साहित्य रचना की धुन में बहने पर भी कोई अपनी सम-सामयिक परिस्थितियों से मुक्त नहीं हो सकता। सार्त्र ने '१९२७ में लेखक की परिस्थिति' नामक लेख नें इस बात को बहुत स्पष्ट किया है। उन्होंने लिखा—"१९३० के बाद से विश्वव्यापी मन्दा, नात्सीवाद का उदय तथा चीन की घटनाओं ने हमारी आंखें खोल दीं। ऐसा मालूम होता था मानो हमारे पैरों के नीचे से जमीन खिसकती जा रही है। एकाएक ऐसा मालूम हुआ कि हम लोगों के लिए भी महान् ऐतिहासिक जादूगरी शुरू हो गई।" इसका नतीजा एक लेखक की हैसियत से सार्त्र के मन पर क्या हुआ, इसे भी वे स्पष्ट करते हैं—"हमारे पूर्ववर्तियों ने जिस अनासक्ति के लिए प्रेम व्यक्त किया था, अब उसे व्यावहारिक रूप में लाना असम्भव हो गया। भविष्य में एक सामूहिक ऐडवेंचर तैयार हो रहा था और यह हम लोगों का ऐडवेंचर होने वाला था।" वे फिर लिखते हैं—"इतिहास हम लोगों पर बह आया। हम जो कुछ भी छू रहे थे, जिस हवा को हम सांस के रूप में ले रहे थे, जिस पृष्ठ को हम पढ़ रहे थे, जिस पृष्ट को हम लिख रहे थे, यहां तक कि प्रेम में हमने इतिहास का स्वाद याने निरवच्छिन्न और सामयिक का एक द्वयर्थक और कड़ुवा मिश्रण आविष्कार किया।"

इस प्रकार से सार्त्र ने यह दिखलाया है कि इतिहास का दबाव किस प्रकार लेखक पर काम कर रहा था। वे इस दबाव को साफ करते हुए कई अद्भुत बातें भी कह जाते हैं, जैसे वे लोकतन्त्र के सम्बन्ध में कहते हैं—"लोकतन्त्र में सभी मतों को

सहन किया जाता है, यहां तक कि उन मतों को भी सहन किया जाता है जो खुल कर उसके विनाश का प्रयत्न करते हैं। जो प्रजातन्त्रवादी मानववाद विद्यालयों में सिखलाया जाता था, उसमें यह कहा जाता था कि सहनशीलता ही सबसे मुख्य गुण है। प्रत्येक बात को सहन किया जाता है, यहां तक कि सहनशीलता के अभाव को भी।"

कलाकार या लेखक का क्या कर्तव्य है---इस सम्बन्ध में सार्त्र यों कहते हैं---"हमारे लिए हमारा काम तय कर दिया गया है। जहां तक साहित्य नकारात्मक है, यह काम से हट जाने को चुनौती देगा, और जहां तक कि साहित्य-सृजन और पार कर जाने का कर्म है, यह मनुष्य को सृजनात्मक क्रिया के रूप में पेश करेगा।" सार्त्र के इस कथन से बात कुछ स्पष्ट नही होती और जैसा कि हम बता चुके है, उनके लिखने का ढंग ही इस प्रकार है। वे चौराहे पर खड़े होकर सब तरह की बातें करते हैं, पर किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाते। राजनैतिक परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए वे जो कुछ कहते हैं, उससे उनकी ढुलमुल यकीनी सामने आ जाती है। वे बल्कि चौराहे पर खड़े रहना ही पसन्द करते हैं। यही उन्हें सुविधाजनक ज्ञात होता है। यद्यपि वे इस दुनिया को अच्छी तरह समझते हैं, फिर भी उनकी मानसिक आंखों के सामने दो विकल्प हैं, एक निरवच्छिन्न बुरा है, और एक निरवच्छिन्न भला। यदि व्यावहारिक जगत् में भी चीजें इसी रूप में उनके सामने आवें, तभी वे किसी निर्णय पर पहुंच सकते हैं, पर जैसी कि दुनिया है उसमें विकल्प इस काल्पनिक रूप में सामने नही आते। इसीलिए वे न ययौ न तस्थौ अवस्था में रह जाते है। उनकी इस मनोवृत्ति को समझना कुछ कठिन नहीं है, जैसा कि दिखाया जा चुका है वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि वे पक्के बुर्जुआ हैं, इसलिए बहुत हाथ-पैर मारने पर भी किसी नतीजे पर नही पहुँच पाते। बात यह है कि वे अपने कछुवे वाली खोल से निकल नहीं पाते। वे कहते हैं---"रूसी सोवियट को चुनने का अर्थ यह होगा कि नागरिक अधिकारो को त्याग दिया जाय, और इसमें यह आशा भी नही है कि द्राव्यिक स्वतन्त्रता मिलेगी। उनके उद्योग-धन्धे में विलम्ब से इसका निषेध हो जाता है कि उसकी विजय होने पर योरोप का ढंग से संगठन हो, इसलिए अधिनायकवाद और दुःख का अनिश्चित रूप से प्रसार होगा। पर उधर अगर अमेरिका की जीत होती है, साम्यवादी दल समाप्त हो जाता है, मजदूर वर्ग हतोत्साह और निष्प्रभ हो जाता है, और यदि मैं एक नये शब्द का इस्तमाल करूँ, उसे परमाणुभूत कर दिया जाता है, तब पूंजीवाद अब से अधिक निष्ठुर हो जाता है, क्योंकि सारी दुनिया पर उसका प्रभुत्व हो जाता है, क्या कोई यह विश्वास कर सकता है कि यदि ऐसे समय में कोई क्रान्तिकारी आन्दोलन शून्य से शुरू होता है, तो उसके लिए कोई सम्भावना होगी ?"

इतना कहकर सार्त्र शायद अपने वक्तव्य के अर्न्तनिहित विरोधाभास को समझ जाते है, इसलिए वे कहते है---"पर क्या अज्ञात बाते नही पेश आती, जिनका सामना करना पड़ता है ? तो बात यही है। जितना मेरे सामने है, उतने ही का मैं

हिसाब लगा कर चलता हूँ। और कोई हम पर इस बात के लिए जबर्दस्ती तो नहीं कर रहा है कि हम किसी एक पक्ष को चुन ही ले। यह बात तो नही है कि दिये हुए सम्पूर्णो में से एक को केवल इसी कारण चुनकर या अधिक बलवान् का पक्ष लेकर इतिहास निर्माण किया जाता है। यदि बात ऐसी होती तो १९४० में सभी फ्रांसीसियों को जर्मनी का पक्ष लेना चाहिए था, जैसा कि शत्रुदल का साथ देनेवालों ने लोगों से कहा था।

इस प्रकार से वे येन केन प्रकारेण अपने चौराहे पर खड़े होकर लन्तरानियां हाकने की नीति का समर्थन करते है। उनसे यह किसने कहा है कि मोशिये सार्त्र आप प्रबल के पक्ष को ग्रहण करें, जो कोई कहेगा वह उनसे यही कहेगा कि आप सत्पक्ष को ग्रहण कीजिए और असत्पक्ष का तिरस्कार कीजिए, और जरूरत पड़े तो इसके लिए कष्ट उठाइए। यदि इस रूप में सार्त्र के वक्तव्य का सामना किया जाय, तो उनके विश्लेषण की दाद देते हुए भी अन्त में आकर सारी चीज गड़बड़ा देने की मनोवृत्ति की निन्दा करनी पड़ेगी। वे शायद अपनी इस कमजोरी को समझते हैं, इसलिए आगे चलकर कहते हैं (और यह उनके पहले कथन के विरोध में पड़ जाता है)— "यह सच है कि रूस और ऐंग्लो सेक्शन गुट के बीच में एक चुनाव करना पड़ेगा।" ऐसा कहते हुए भी वे फिर भी प्रश्न को बचा जाते हैं और यही कहते हैं कि और एक मौका देना चाहिए। वे अन्त में कहते हैं:—"इसकी कोई गारन्टी नही है कि साहित्य अमर है। आज इसका मौका, एकमात्र मौका, यूरोप म समाजवाद का लोकतन्त्र का तथा शान्ति का एक मात्र मौका यही है। हमें इससे खेलना चाहिए। यदि हम लेखकों ने इसे खो दिया, तो यह हमारे लिए बहुत बुरा होगा, पर समाज के लिए भी उतना ही बुरा होगा, जैसा कि मै दिखा चुका हूँ। समूह अपने साहित्य के जरिए से ही विवेचन और ध्यान करता है, बात यह है कि इसे एक असुखी विवेक और अपनी एक सम्पूर्ण छवि प्राप्त होती है, जिसे यह बराबर बदलने तथा उन्नत करने की चेष्टा करता रहता है। पर सब कुछ कह लेने पर भी लेखन-कला ईश्वर के किसी अपरिवर्तनीय हुक्मनामे के द्वारा संरक्षित नही है। मनुष्य इसे जैसी बनाते हैं, यह वैसी ही होती है, वे अपने को निर्वाचित करते समय उसे भी निर्वाचित करते है। यदि लेखन-कला केवल विशुद्ध प्रचारकार्य या विशुद्ध मनोरंजन में अपने को फंसा देती, तो समाज केवल तत्काल ही में याने हिमेनोप्टेरा और गास्टेरोपोड आदि जीवों की स्मृति के बिना ही चल निकलता। अवश्य यह सब बहुत महत्वपूर्ण नहीं है। दुनिया साहित्य के बिना ही चल सकती है, पर यह मनुष्य के बिना और भी अच्छी तरह चल सकती है।"

इस प्रकार से सार्त्र जिस मत का प्रतिपादन करते है, वह चौराहे पर खड़े होकर लन्तरानियां हांकने की नीति है। इससे एक विशेष तरह के विकृत लोगों का शायद मनोरंजन होता हो, सम्भव है मानसिक शान्ति का मोह भी होता हो, पर जिस समय कई मार्गो में से सही मार्ग का अपनाना जरूरी है, उस समय इस प्रकार का वाग्जाल, सत्य के बहुत पास आकर फिर भटक जाना किसी प्रकार सहायक नहीं है।

प्रगति के कुछ ऐतिहासिक पुजारी

आज हम जिस विचारधारा तथा उसके विभिन्न मिश्रणों को समाजवाद, साम्य-वाद, समष्टिवाद, प्रगतिवाद आदि नामों से पुकारते हैं, वह न तो एक व्यक्ति के दिमाग की उपज है और न एक युग में ही उसका विकास हुआ। भिन्न-भिन्न युग में इसे भिन्न-भिन्न नाम मिला, पर अन्तर्निहित बात इतनी रही कि दलित और शोषितों का भला हो। ये विचार अक्सर रोमैंटिक या भावुकतापूर्ण थे, पर अन्तर्निहित बात वही थी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि बहुत प्राचीन प्रागैतिहासिक युग में सर्वत्र समाजवादी व्यवस्था थी। दूसरे शब्दों में उस युग में वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं थी; याने जो कुछ भी था वह समाज की सम्पत्ति थी। यह सारी बात कपोल-कल्पना नहीं है, बल्कि वास्तविकता है, यह इस बात से ज्ञात होता है कि उन्नीसवीं सदी, बल्कि बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक ऐसी कई जातियां आदिम अवस्था में मौजूद थीं, जिनमें इस प्रकार की समाज-व्यवस्था थीं। ऐसे लोगों में मछली मारने के जाल, शिकार के अस्त्र आदि उत्पादन के सब साधन सामाजिक सम्पत्ति समझे जाते थे। इनसे जो कुछ भी उत्पन्न होता था, वह सब में आवश्यकता के अनुसार बाँट दिया जाता था।

कैसे आदिम समाजवादी समाज का अन्त हुआ, कैसे वैयक्तिक सम्पत्ति के उदय के साथ-साथ वर्गों की उत्पत्ति हुई, आदि बहुत ब्यौरे की बातें हैं और हम यहाँ उनमें नहीं जा सकते। यहाँ केवल इतना बता दिया जाय कि आदिम समाज में जो सुन्दर सन्तुलन था, उसके बावजूद वह समाज उत्पादन की दृष्टि से पिछड़ा हुआ था। फिर भी बाद के वर्गमूलक समाजों में जो वार्गिक संघर्ष उत्पन्न हुए, उनके कारण इन समाजों के ज्ञानी तथा विद्वानमण बराबर किसी न किसी प्रकार की समानता का प्रचार करते हैं।

आधुनिक अर्थ में मजदूर वर्ग की उत्पत्ति पूंजीवाद के साथ-साथ हुई है, पर ऐन आदिम समतामूलक समाज के बाद उत्पादन का कार्य दासों के द्वारा कराया

जाता था। इस समाज-व्यवस्था में, जैसा कि मैंने अपनी *'ऐतिहासिक भौतिकवाद'* नामक पुस्तक में लिखा है, "**गुलाम मुख्य उत्पादक था, और गुलाम का मालिक उसके श्रम का सम्पूर्ण रूप से उपभोक्ता था। गुलाम शारीरिक रूप से भी मालिक के अधीन होता था, उसकी जानो-माल पर मालिक का अधिकार रहता था।**" गुलामों के बाद अर्द्ध गुलामों या भूमिदासों पर उत्पादन का सारा बोझ पड़ा। गुलामों के मुकाबिले में अर्द्ध गुलामों को अधिक अधिकार प्राप्त थे। अब सामन्तवादी प्रभु का अर्द्ध गुलामों पर पूर्ण अधिकार नहीं था। वह केवल उसके श्रम तथा समय के बृहत् हिस्से पर ही मांग कर सकता था। इस प्रकार यह पद्धति भी पिछली पद्धति के मुकाबिले में अगला कदम था।

इसके बाद यन्त्रों में उन्नति होने के कारण साथ ही कुछ लोगों के हाथों में इनका नियन्त्रण आ जाने के कारण उत्पादन-पद्धति ने एक और पलटा खाया, और अब मजदूर वर्ग सामने आया। "**मजदूर के शरीर या गतिविधि पर पूंजीपति को कानूनी रूप से उस प्रकार का नियंत्रण प्राप्त नहीं है, जैसा पहले की पद्धतियों में प्राप्त था। वह कानूनी रूप से स्वतन्त्र है। देखने में वह स्वतन्त्र ठहराव पर काम करता है। इस प्रकार यह पद्धति पिछली पद्धतियों के मुकाबिले में अधिक उन्नत रही।**"

(ऐतिहासिक भौतिकवाद)

इस समय तो जिस प्रकार दुनिया दो शिविरों में बंट गई है, उसे तो हम जानते ही हैं। हम यह भी मानते हैं कि आज प्रत्येक दल अपने को मजदूर किसान वर्ग का हिमायती सिद्ध करने के लिए आतुर दिखाई पड़ता है, पर पहिले भी जैसा मैंने बताया कि प्राचीन काल के विद्वान् तथा ज्ञानीगण किसी न किसी प्रकार से समानता का प्रचार करते थे।

यदि हम भारत के प्राचीन धर्मशास्त्रों को देखें, तो उनमें एक ही सांस में विषमता और समानता दोनों तरह की बातें मिलेंगी। हम इनके ब्यौरे में जायें तो वह स्वयं ही एक पोथा बन सकता है, इस कारण इंगितमूलक रूप से दो चार बातें बताकर ही हम पश्चिम की ओर चले जायेंगे जहां मजदूर सभाओं तथा वैज्ञानिक समाजवाद का विकास हुआ। हमारे यहाँ तो ये सारी बातें अभी बहुत कुछ विकास की शैशवास्था में ही हैं।

प्राचीन काल से ही यहां समदर्शी शब्द का बहुत प्रचलन रहा है। यह द्रष्टव्य है कि साम्यवाद और समदर्शी दोनों शब्दों में सम शब्द आता है। समदर्शी शब्द ऋषियों तथा मुनियों के लिए प्रयुक्त होता है, इससे इसका महत्व समझ में आता है। गीता में यह श्लोक आता है—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥

इस प्रकार से समता के सिद्धान्त को मनुष्य जाति से आगे ले जाकर कुत्तों तक में लागू किया गया है। यहां गलतफ़हमी उत्पन्न न हो इसलिए मैं यह साफ कर दूं कि मैं इस प्रकार की समदर्शिता के प्रचार को कोई अधिक महत्व नहीं देता, क्योंकि एक तरफ समदर्शिता के सिद्धान्त को कुत्तों, गायों और हाथियों तक ले जाने पर भी दूसरी ही सांस में चातुर्वर्ण्य का प्रतिपादन किया गया है, जो हमारी सामाजिक अधोगति का सबसे स्थायी निदर्शन है। अवश्य गीता मे कर्म के अनुसार चातुर्वर्ण्य को प्रतिपादित करके उसे एक सहनीय रूप देने की चेष्टा की गई है, बौद्ध और जैन धर्म तो ब्राह्मणों के कर्मकांडमूलक धर्म के विरुद्ध विद्रोह के रूप में उत्पन्न हुए। उनका बहुत प्रचार किया गया। पर हमें किसी पद्धति पर राय कायम करने के लिये उसके व्यवहार को देखना है न कि उसकी व्याख्याओं तथा दर्शनों को। अस्तु।

पाश्चात्य में भी इसी प्रकार के बहुत से तत्वज्ञानी हो गये हैं जिन्होंने प्रचलित समाज-व्यवस्था के विरुद्ध असंतोष प्रदर्शित किया। ईसा से ८०० वर्ष पहले टेकोआ के एक चरवाहे तत्वज्ञानी *ऐमोस*, इसके २५ बर्ष बाद *होसिआ*, तथा इनके बाद *इसाया* ने यह प्रचार किया कि शासक वर्गों के दोष के कारण ही समाज में दुःख और कष्ट है। ई० पू० ६५० के करीब उत्पन्न *जरेमिया* नामक तत्वज्ञानी ने यह भविष्य-वाणी की कि ऐसे युग का प्रारम्भ होगा जिसमें किसी को किसी बात की कमी नहीं रहेगी; सब सुखी रहेंगे, तथा एक ऐसे राजा का राज्य होगा जो न्याय करेगा। *एजेकील* नामक तत्वज्ञानी ने इससे आगे जाकर कहा कि भूमि-पद्धति में परिवर्तन होगा और जमीन न्यायपूर्वक सब में बांट दी जायेगी। जमीन के बंटवारे मे बाहर से आये हुए लोगों को भी हिस्सा मिलेगा। आदर्श राजा हिंसा तथा अत्याचार त्याग कर न्याय करेंगे।

ईसा मसीह ने जिस मतवाद का प्रचार किया, उसमें भूतल में स्वर्ग राज्य की स्थापना की बात कही गई। स्वर्ग राज्य का जो रूप पेश किया गया उसमें वही **'सर्वे सुखिनः भवन्तु'** वाली बात थी। मैं फिर *ऐतिहासिक भौतिकवाद* से उद्धृत करूंगा।

"ईसाई धर्म में यह जो कहा गया था कि सभी मनुष्य खुदा के बेटे हैं, इसलिए परस्पर भाई-भाई हैं, यह रोमन जुआ के नीचे पिसते हुए गुलामों के लिये बहुत आगे बढ़ी हुई आशा की वाणी थी। अब तक उन्होंने जो कुछ सुना था, उसके मुकाबिले में यह वाणी बहुत क्रान्तिकारी थी। इस वाणी ने गुलामों की बढ़ती हुई विद्रोहाग्नि में घृत की आहुति दी। स्वाभाविक रूप से ऐसा धर्म, जिसमें ऐसी आपत्तिजनक बात कही गई थी, शासकों को पसन्द न था। इसलिए ईसाई धर्म एक प्रकार से गुलामों की गुप्त समितियों के ज़रिये फैला। ईसाइयों में जो क्रूस चिन्ह प्रचलित है, उसके सम्बन्ध में एक किंवदन्ती यह भी है कि रोमन गुलाम लोग रात के अंधेरे में अपने

कामों से छुट्टी पाकर लुक-छिप कर कब्रिस्तानों में एकत्र होते थ। चूंकि य कब्रिस्तान ऐसे थे, जिनसे क्रूस चिन्ह की सूचना होती थी, इसलिये ईसाइयों के लिये क्रूस चिन्ह पवित्र हो गया। इसी प्रकार गिरजों की मेहराबदार बनावट के सम्बन्ध में यह बताया गया है, चूंकि आदिम ईसाईगण मेहराबदार कब्रिस्तानों के भीतर जमा होकर ईश-उपासना करते थे, इसलिये गिरजा-निर्माण-कला के साथ मेहराबों का सम्बन्ध हो गया, और गिरजे उसी नमूने पर बने।"

इस प्रकार प्रभु ईसा मसीह ने अपने ढंग से समवाद की वाणी सुनाई। ईसाई धर्म विशेषकर दलितों में इतनी जल्दी से फैला, इसका कारण यही है। बाद को कैसे उस युग के शासकवर्ग ने ईसाई धर्म ग्रहण किया, और किस प्रकार ईसाई धर्म की वह क्रान्तिकारी वाणी विलुप्त हो गई, केवल यही नहीं, किस प्रकार ईसाई धर्म शोषितों को शोषित और दलितों को दलित रखने में हाथ बटाने लगा, यह एक बहुत ही दिलचस्प कहानी है। गोरों के साम्राज्यवाद को फैलाने में ईसाई पादरियों ने जिस प्रकार सहायता दी, और अब भी वे विभिन्न देशों में साम्राज्यवाद के उखड़ते हुए मेले को सम्भालने में जी-जान से जिस तरह चेष्टित है, यह सुपरिचित है।

ईसा के बाद *संत अगस्टीन* (३५४–४३०) ने समता की वाणी का प्रचार किया, उस समय बर्बर जातियों ने आल्पस पर्वत से होकर रोम पर हमला कर दिया था, और इस समय चारों तरफ धार्मिक तथा राजनैतिक गड़बड़ फैल रही थी। ऐसे समय में सन्त आगस्टीन ने भूतल तथा स्वर्ग में एक ऐसी पुरी की कल्पना की, जिसमें सब को सुख प्राप्त होगा और किसी को कष्ट नहीं होगा।

कहना न होगा कि इस प्रकार धार्मिक रूप से जिस समता का प्रचार किया गया, यह बहुत कुछ कल्पना के जगत् में ही रहा था। अधिक से अधिक यह हुआ कि कुछ लोग अपने धन के एक अंश को दान आदि के रूप में देकर यह समझते थे कि उनका कर्त्तव्य पूरा हो गया, दूसरे शब्दों में यह एक प्रकार का मानसिक विलास मात्र था, और इससे कोई व्यावहारिक उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ।

सावोनारोला (१४५२-१४९८) ने सांसारिक दुःखों के दूर करने के उपाय के रूप में केवल प्रचारमूलक कार्य ही नहीं किये, बल्कि उन्होंने कुछ व्यावहारिक कदम भी उठाये। उनकी यह धारणा थी कि बिलकुल धर्मराज्य स्थापित होना चाहिए। तदनुसार उन्होंने शोषितों और दलितों के कल्याण के लिये प्रचार करना शुरू किया। लोग उनकी बात मान गये, और उनके द्वारा प्रस्तावित एक संविधान फ्लोरेन्स नगर की जनता के द्वारा स्वीकृत हुआ। समता स्थापित करने की धुन में नगर का रंग रूप बिल्कुल बदल गया। स्त्रियों ने गहने गुरिये छोड़ दिये। व्यापारियों ने बेईमानी की सारी कमाई दे दी। गिरजे अदालत का काम करने लगे। दान, व्रत, उपवास का बोलबाला रहा। पर यह धर्मराज्य अधिक दिन स्थायी

नहीं हो सका । पोप इस प्रकार के धर्म-राज्य से नाराज थे । बात यह है कि अब तो पोप एक सम्राट् की तरह हो चुके थे, और उनका स्वार्थ तथा शोषक वर्ग का स्वार्थ एक हो चुका था । इसके अतिरिक्त फ्लोरेन्स के व्यापारी तथा अन्य स्थिर स्वार्थ वाले लोग सात्रोनारोला से नाराज़ थे । जनता भी कुछ अधिक तुष्ट नहीं थी, क्योंकि अपनी धार्मिक धुन में सावोनारोला के फ्लोरेन्स नगर को भिक्षुओं का एक मठ बना दिया था और जो लोगों को बिल्कुल नापसन्द था ।

नतीजा यह हुआ कि सावोनारोला पर धर्म-विरोध का अभियोग लगाया गया, और जैसा कि कैथोलिकों में रिवाज था, उन्हें जिन्दा जला दिया गया । इस प्रकार जब एक व्यक्ति ने ईमानदारी के साथ समता के सिद्धान्त को कार्यरूप में परिणत करने की ओर कदम उठाना चाहा, तो उसका किसी ने साथ नहीं दिया । ईसाई जगत् के धर्मगुरु ने उसे अस्वीकार किया, और उसे शहीद की मृत्यु प्राप्त हुई, एक ऐसा शहीद जिसे किसी धार्मिक व्यक्ति ने समझने की चेष्टा नहीं की । इसी कारण बार-बार इस लेख में यह कहा गया है कि धार्मिक लोगों की तरफ से जब समदर्शिता की बात कही जाती है, तो उस पर विश्वास करने की इच्छा नहीं होती । असली कसौटी तो व्यवहार है । हमारे यहां एक चौथाई जनता को अछूत के रूप में रखकर यह प्रमाणित कर दिया गया है कि हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि धर्म की तरफ से जो समता के सिद्धान्त पेश किये जाते हैं, वे सावोनारोला को जिन्दा जलाने वाले पोप से अधिक ईमानदार नहीं है ।

१५४९ में इंगलैड के शोषित किसानों ने वहाँ के जमींदारों तथा ताल्लुकेदारों के विरुद्ध विद्रोह किया । इस विद्रोह को दबाने में वहाँ के शासक वर्ग ने बड़ी निष्ठुरता से काम लिया, और किसानों पर बड़े-बडे अत्याचार हुए । इस मौके पर वहाँ के ईसाई पादरी बीच में पड़े, और उन्होंने इस बात की चेष्टा की कि किसानों पर अत्याचार कम हों, पर ऐसा करते हुए ईसाई पादरियों की तरफ से यह साफ कर दिया गया कि उन्हें भूमिगत साम्यवाद से कोई सहानुभूति नहीं है । बिशप *लाटीमर* ने ईसाई धर्मशास्त्रों का हवाला देते हुए कहा कि यदि सम्पत्ति के मालिक सभी लोग होते, तो फिर इस कमाण्डमेण्ट याने उपदेश का कोई अर्थ ही नहीं होता कि चोरी मत करो । दूसरे शब्दों में बिशप लाटीमर के अनुसार किसानों ने ज़मीदारों की सम्पत्ति पर हमला करके धर्म-विरोध किया था, पर साथ ही उन्होंने कहा कि ज़मींदारों का यह कर्तव्य है कि लोगों पर दया रक्खें, और क्षमावृत्ति से काम लें ।

यूटोपिया की ऐतिहासिक योजनाएँ

यों तो जैसा हम अभी दिखला चुके हैं, धर्मगुरुओं में साम्यवादी प्रवृति पाई जाती थी । पर वह व्यावहारिक सतह पर न होकर कुछ आध्यात्मिक और इस कारण अव्यावहारिक सतह पर होती थी । इसी कारण धार्मिक साम्यवाद के विरुद्ध यह कहा गया है कि वह बहुत कुछ जनता की आंखों में धूल झोंक कर उनकी विद्रोहभावना को

रोकने में सहायता करता है। धर्म में इस दुनिया की विषमताओं को उस दुनिया में सुधारने की जो आशा दिलाई जाती है, उसके सम्बन्ध में इस प्रकार की आलोचना का कोई उतर देना कठिन है।

अस्तु! अब हम इस प्रसंग में उन लोगों के सम्बन्ध में आलोचना करेंगे जो केवल उपदेशों तक अपने को सीमित न रख कर व्यावहारिक योजनाएँ पेश करने लगे। अवश्य ये योजनाएँ कहीं कार्यरूप में परिणत नहीं की गई थीं बल्कि ख्याली योजनाओं के रूप में थी। इसी कारण इन्हें स्वाप्निक कहा गया है।

इन लोगों ने एक आदर्श देश या भूमि की कल्पना की, जहाँ इनकी योजनाए कार्यान्वित मान ली गई थीं। चूंकि ये देश या भू-भाग कहीं भी नहीं थे, इस कारण इनका नाम *यूटोपिया* (शाब्दिक अर्थ **कहीं भी नहीं**) पड़ा।

सर टामस मोर (१४७८–१५३५) ने इस यूटोपिया शब्द का निर्माण किया। उन्होंने अपने बचपन में अमेरिका में स्थित आदिमजातियों के सम्बन्ध में ऐसी कहानियां सुन रखी थीं कि उनमें कोई व्यक्तिगत-सम्पति नहीं होती, और उनमें जो कुछ भी सम्पति है वह सब की होती है। उन्होंने यह सुन रखा था कि वे सोना और मोतियों को तुच्छ समझते हैं, और इनमें कोई राजा नहीं होता, सब अपने राजा होते हैं। इन कहानियों से मोर बहुत प्रभावित हुए। जब इन्होंने अपने इर्द-गिर्द के विषमतामूलक समाज के साथ इस समाज की तुलना की, तो उन्होंने अपने समाज को बहुत पिछड़ा हुआ पाया।

तदनुसार एक आदर्श समाज का चित्र प्रस्तुत हुआ और इसमें यह दिखाया गया कि राफायल हाइथोलाडी नामक एक पुर्तगाली विद्वान् है जो अमेरिगोवेस्पूची के साथ समुद्र-यात्रा में जाता है, और यूटोपिया नामक द्वीप में पहुँच जाता है। हाइथोलाडी इस द्वीप की समाज तथा राज्य-व्यवस्था को देख कर बहुत प्रभावित होता है, और वह स्वाभाविक रूप से मन ही मन इंगलैंड की उस समय की राज्य-व्यवस्था तथा समाज के साथ यूटोपिया की तुलना करता है। उसे यह ज्ञात होता है कि एक तो राजतंत्र की प्रणाली विषमतामूलक है, तिस पर ये राजा तथा उनके घराने के लोग हमेशा इस काम में लगे रहते हैं कि किस प्रकार न्यायमूलक या अन्यायमूलक तरीके से अपने राज्य को बढ़ायें। यदि वे इस काम में लगे रहते कि किस प्रकार शांति के साथ राज्य किया जाय, तो भी गनीमत थी, पर वे ऐसा नहीं करते।

हाइथोलाडी ने यह उपसंहार निकाला कि इस विषमता का आधार निजी सम्पत्ति है। उन्होंने यूटोपिया के सम्बन्ध में कहा: "*इस नगर राज्य में उत्पादन का आधार कृषि है। देश भर में यत्र तत्र कृषिशालायें फैली हुई हैं। प्रत्येक नागरिक के लिये यह जरूरी है कि वह अपने समय का एक हिस्सा इन कृषिशालाओं में काम करने में बिताये। अधिकतर मज़दूर शहर और देहात के बीच अपने समय को बाँट देते हैं। इस प्रकार वे जानते हैं कि शहर और देहात में किस प्रकार के काम*

किये जाते हैं । बुवाई और कटाई के दिनों में शहर से एक हजार मज़दूर काम करने के लिये देहात में आ जाते हैं, जिससे कि खेती का काम सुचारु रूप से चल सके। पहिले से बहुत बारीकी के साथ इसका अनुमान लगा लिया जाता है कि शहर वालों को खेती की कितनी उपज चाहिये, और तदनुसार इसी के अनुपात से शहर के रहनेवालों को देहात में खेती पर काम करने के लिये भेजा जाता है।"

यूटोपिया का वर्णन करते हुए यह बताया गया है कि यहाँ प्रत्येक व्यक्ति कोई न कोई धन्धा ऐसा भी करता है, जो उसका निजी धन्धा है। किसी खास धन्धा करने वाले को दूसरा धन्धा करने वाले से ऊँचा या नीचा समझा नहीं जाता। यूटोपिया म लोग केवल छः घण्टा काम करते हैं। आठ घण्टे विश्राम के लिए हैं, कोई चाहे उसमें जो कुछ भी करें। कोई आलस्य में समय व्यतीत नही कर सकता। यदि किसी को फालतू श्रम करना पड़ता है, तो वह सड़क की मरम्मत में लगता है, जो सबका काम है। जब इस प्रकार के सारे काम हो चुकते हैं, तो काम के घण्टे घटा दिये जाते हैं।

माहवारी त्यौहारों के अवसर पर देहात और शहरों की उपजों का विनिमय होता है। द्रव्यों के वितरण में पूर्ण समानता बरती जाती है। प्रतिमास या इसी प्रकार किसी नियम के अनुसार प्रत्येक परिवार का प्रतिनिधि अपने परिवार द्वारा उत्पन्न चीजों को शहर के भिन्न भागों में अवस्थित चार बाजारों में से एक बाजार में ले जाता है। ये चीजें गोदामों में पहुँचाई जाती हैं, और प्रत्यक चीज को अलग-अलग रखा जाता है।

इस गोदाम में से प्रत्येक परिवार का पिता या प्रधान अपने परिवार के लिये आवश्यक चीजों को ले जाता है, और इसके लिए वह न तो पैसे देता है और न इसके बदले में कुछ देता है। बात यह है कि प्रत्येक वस्तु की बहुतायत है, इसीलिए किसी की कोई चीज न देने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह डर नहीं है कि कोई व्यक्ति किसी चीज को अपनी जरूरत से ज्यादा ले जायगा। यद्यपि किसी के पास अपनी जरूरत से ज्यादा चीज नहीं है, फिर भी यूटोपिया का प्रत्येक व्यक्ति धनी है। यहाँ धनी शब्द से यह अर्थ है कि लोग सुख से हैं, उन्हें कोई दुःख नहीं है। न किसी को अपनी नौकरी के सम्बन्ध में चिन्ता है, न किसी को इस बात से परेशानी है कि स्त्री कोई चीज माँग रही है, और उसे वह चीज नहीं दी जा सकती है, न किसी को यह फिक्र है कि उसकी तो अच्छी गुजर गई है, पर लड़के की शायद गरीबी में गुजरे, न किसी पर यह चिन्ता सवार है कि उसकी लड़की का दहेज कहाँ से आये। स्वाभाविक रूप से यूटोपिया में किसी को धन बटोरने की फिक्र नहीं है। न किसी को सोना बटोरने की फिक्र है, और न चांदी बटोरने की।

यूटोपिया की सड़कें चौड़ी और सुन्दर हैं। वहाँ की इमारतें सुन्दर और चमकती हुई हैं। उनमें न कोई ताला लगाता है और न कोई कुंडा चढ़ाता है। प्रति दस वर्ष बाद लोगों के घर बारी-बारी से बदल दिये जाते हैं। परिवार अलग-अलग घरों में रहते

हैं, पर उनके खाने-पीने के लिए सार्वजनिक हाल बने हुए हैं। कोई चाहे तो अपने घर में अलग ही खा सकता है, पर कोई ऐसा इच्छापूर्वक नहीं करता।

प्रत्येक नागरिक को देश की सरकार में सक्रिय रूप से भाग लेने का अधिकार है। तीस परिवार मिल कर मैजिस्ट्रेट या फिलार्च को चुनते हैं। दस फिलार्च एक महा फिलार्च को चुनते हैं। महा फिलार्च गण मिल कर जन्म भर के लिये एक राजा चुन लेते हैं। यह राजा तब तक काम करता है, जब तक कि यह सन्देह न हो कि वह जनता को गुलाम बनाने की चेष्टा कर रहा है। पर यह राजा सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर सारे द्वीप के लोगों की राय लेने के लिये बाध्य है।

यदि कोई व्यक्ति देश में भ्रमण करना चाहे, तो उसे इसके लिये पासपोर्ट लेना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति किसी स्थान पर एक दिन से अधिक रहे, तो उसे वहाँ पर वह काम करना पड़ता है, जो उसका स्वाभाविक कार्य है। यदि कोई व्यक्ति बिना छुट्टी के किसी नगर से चला जाय, तो उसको भगोड़े की तरह सजा दी जाती है। जो लोग गम्भीर अपराध करते हैं, उन्हें गुलाम-सा बना दिया जाता है, और वे ही समाज के ऐसे काम करते हैं, जो गन्दे तथा अप्रिय हैं। फिर भी यूटोपिया में छोटी-छोटी बातों के लिये बड़ी-बड़ी सजाएँ नही हैं, जैसा कि इंगलैंड में है।

संक्षेप में यही सर टामस मोर के यूटोपिया का चित्र है। इसमें यह द्रष्टव्य है कि मोर ने वैयक्तिक सम्पत्ति को सारे दुःखों का मूल माना है, इसी कारण उनके काल्पनिक जगत् में वैयक्तिक सम्पति को विलुप्त कर दिया गया है। यह भी द्रष्टव्य है कि अभी औद्योगिक युग का बिलकुल श्रीगणेश ही हो रहा था, इस कारण यूटोपिया में कृषि को ही सामाजिक-उत्पादन का आधार माना गया है। पर साथ ही साथ शहर और देहात याने मजदूर और किसान के श्रम को एक सतह पर लाने की चेष्टा स्पष्ट है। विशेष जानकार पाठकों को यह मालूम होगा कि सोवियट देशों में इस समस्या को इस प्रकार सुलझाने की कोशिश की गई है कि सब किसानों को कृषि फार्मों के मजदूर बना दिया गया है, ऐसे कृषि फार्म, जिनके वे सामूहिक रूप से मालिक हैं। स्मरण रहे कि मोर ने कल्पना में विचरण करते हुए इस प्रकार के समाधान के सुझाव रखे हैं, फिर भी वे बहुत काल्पनिक नहीं हैं। ५०० वर्ष पहले दिये जाने पर भी वे समाधान के बहुत निकट हैं।

मोर ने यद्यपि स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा है, फिर भी इस बात का यथेष्ट इंगित कर दिया है कि साम्यवाद में अर्थात् उस आदर्श अवस्था में जब कि उपजों का बाहुल्य रहेगा, और प्रत्येक परिवार को उसकी आवश्यकता के अनुसार सब चीजें मिल सकेंगी, और साथ ही साथ अपनी खुशी से सब यथासाध्य काम करेंगे, संग्रहवृत्ति विलुप्त हो जायेगी।

अभी तक लोकतन्त्र का पूरी तरह परीक्षण नहीं हुआ था, और मोर को यह मालूम नहीं हुआ था कि लोकतन्त्र के सारे दिखावे कायम रखते हुए भी मजदूर तथा

किसानवर्ग शोषित रह सकते हैं; इस कारण यदि मोर ने लोकतन्त्र और राजतन्त्र के अजीब मिश्रण को तरजीह दी, तथा यह समझा कि इस पद्धति से मज़दूर और किसानों के सारे दुःख दूर हो जायेंगे, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नही।

प्रसिद्ध दार्शनिक बेकन (जन्म १३६१) ने ऐन मृत्यु के चार साल पहले याने १६२२ में 'नव ऐटलैंटिस' नामक एक रचना तैयार की, जिसमें उसने दक्षिण समुद्र के एक द्वीप को अपनी कल्पना के लिए क्षेत्र बनाया। बेकन का झुकाव विज्ञान की ओर था। इस कारण उन्होंने यह कल्पना की कि व्यावहारिक विज्ञान के आधार पर एक बुद्धिमान् नेता ने सुखी तथा समृद्ध लोगों का एक समाज संगठित किया। उनके इस समाज में सबसे महत्वपूर्ण संस्था सुलेमान भवन रखा गया, जिसमे वैज्ञानिकगण दिन-रात खोजों में लगे हुए हैं। इन वैज्ञानिकों का उद्देश्य यह है कि नित्य नई खोज करके समाज को समृद्ध बनावें। वे कारणों के अन्वेषण में लगे रहते हैं।

सोना या धन के लिए व्यापार नही दिखलाया गया है, बल्कि एक देश से वैज्ञानिकगण दूसरे देशो में जाकर अपने यहा का विज्ञान देकर दूसरे देश का विज्ञान ले आते हैं। यही व्यापार है। वे ज्ञान के राज्य में साम्यवाद चाहते थे, अन्य क्षेत्रों के लिए उन्होंने कोई खास बात नही लिखी।

वे परिवार को ही समाज की इकाई मानते थे, और एक बृहत् परिवार के पिता को अधिक महत्व देते थे। उन्होंने अपने जमाने के व्यभिचारों की निन्दा की। उन्होंने भी राजतन्त्र का समर्थन किया, पर यह कहा कि राजा अपनी योग्यता से राजा होगा। उन्होंने यह नहीं बताया कि आखिर योग्यतम व्यक्ति राजा कैसे बनेगा, या योग्यता की नाप कैसे की जायेगी। बेकन के युग में विज्ञान की द्रुत उन्नति होने लगी थी, और वह कई समस्याओं को सुलझा रहा था, पर उनकी यह आशा कि *'केवल विज्ञान से समाज की विषमता दूर होगी'* गलत थी। विज्ञान प्रकृति पर मनुष्य की विजय का प्रतीक है, पर स्वयं उसमें कोई ऐसी गारंटी नहीं है कि विज्ञान से जो फायदे होंगे, उन पर एक वर्ग का ही अधिकार न होकर सबका अधिकार होगा।

इन्ही दिनों ओर भी बहुत से समाज-सुधारकों ने काल्पनिक समाज के चित्र पेश किये। *योहान वालेन्टिन आन्ड्री* नामक एक जर्मन पर्यटक ने अपनी योजना इस प्रकार पेश की कि उन्होंने बताया कि समुद्र-यात्रा करते हुए वे क्रिस्टियानोपोलिस नामक एक द्वीप नगर में पहुंच गये, जहाँ ४०० नागरिक थे। यह मज़दूरों का प्रजातंत्र था, जहां लोग समानता के आधार पर शांति की कामना करते हुए तथा ऐश्वर्य का वर्जन करते हुए रहते थे। नगर हल्के और भारी उद्योग-धंधों के केन्द्रों मे बँटा हुआ था। इस नगर के लोगों का यह कथन था कि ज्ञान और परिश्रम सामंजस्यपूर्ण है; याने एक ज्ञानी के लिए परिश्रम करना स्वाभाविक होना चाहिये। मज़दूर लोग उत्पादित द्रव्यों को एक सार्वजनिक स्थान में ले आते हैं। उत्पादन में

कोई गड़बड़ी नहीं है, क्योंकि यह पहले से जान लिया जाता है कि किस चीज को कितने परिमाण में किस रूप में उत्पन्न किया जाय। तदनुसार मजदूरों को सूचना दे दी जाती है। यदि कोई चीज यथेष्ट परिमाण में उत्पादित हो रही है, तब तो उनकी सृजनात्मक प्रतिभा को पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाती है, याने फिर वे चाहें तो अपना शिल्प दिखला सकते है।

उस द्वीप नगर में किसी के पास धन नहीं है। कोई व्यक्ति अपने ऐश्वर्य के कारण दूसरे से बड़ा नही समझा जाता। यदि वहां बडाई है, तो योग्यता की बड़ाई है। उस द्वीप में संयुक्त परिवार प्रथा के बड़े बड़े परिवार न रह कर दम्पति रहते हैं। घर मे अधिक सामान आदि नही है, जिससे कि घर का काम पति-पत्नी दोनों के लिए आसान हो।

यह द्रष्टव्य है कि योहान की कल्पना में सब से बडी विशेषता यह है कि उसमें योजनामूलक उत्पादन की कल्पना की गई है। जानकार पाठकों को मालूम होगा कि आजकल सभी देश, जिसमें हमारा देश भी है योजना के महत्व को समझकर उस पर चलने के लिए चेष्टित है। क्रिस्टियानोपोलिस में जिस प्रकार पहले उत्पादन का तखमीना लगाया जाता है, यह रूस के गोस्प्लैन या अन्य स्थानों के योजना-आयोगों की तरह हैं।

टामस काम्पानेला नामक एक इटालियन भिक्षु ने इसी प्रकार की एक काल्पनिक योजना रखी। जेनोआ के एक सामुद्रिक कप्तान अपनी यात्रा में भटक कर सूर्यनगर पहुच जाता है। सूर्यनगर में एक नागरिक के पास जो कुछ भी है, वह उसे मैजिस्ट्रेट से प्राप्त करना है, और मैजिस्ट्रेट इस बात की देख-रेख रखता है कि किसी को उसकी अर्हता से अधिक न मिले। फिर भी जिसको जिस की जरूरत है, उसे उतनी अवश्य मिलती है। वहां के सब लोग धनी भी है और गरीब भी, धनी इस कारण कि उन्हे किसी चीज की जरूरत नहो, और गरीब इस कारण है कि उसके पास कुछ नही हैं। साम्यवाद के कारण उनकी कर्मशक्ति इस कारण कुंठित नही होती कि उनमें इतनी प्रबल देशभक्ति है कि जेनोआ के उस कप्तान को विश्वास ही न होता था। वहां पर श्रम को बडी मर्यादा प्राप्त है। जो परिश्रम करते है उनकी इज्जत होती है। जिन कामों में कठिन परिश्रम होता है, उनमें सम्मान सब से अधिक अधिक है। साधारण समय में लोग केवल चार घंटे काम करते है। काम्पानेला की इस योजना में कोई विशेषता नहीं है।

१६५२ में प्रकाशित स्वतंत्रता का कानून नामक रचना में एक यूटोपिया का चित्र पेश किया। इसके रचयिता *जेरार्ड विंस्टैनले* थे। इस यूटोपिया में न तो भूमि का और न उसकी उपजों का क्रय विक्रय था। यदि किसी व्यक्ति को किसी चीज की आवश्यकता होती है, तो वह सार्वजनिक भंडार से उसे बिना मूल्य प्राप्त कर कर सकता है। यदि उसे घोड़े पर चढ़ना है, तो वह सार्वजनिक अश्वशाला में जाकर

घोड़ा ले सकता है। यात्रा या सवारी के बाद वह घोड़ा वहीं लौटा देता है। प्रत्येक व्यक्ति यथासाध्य काम करता है। पारिवारिक जीवन में जिन चीजों की जरूरत होती है, वे उसी परिवार की निजी सम्पत्ति हो जाती है। जेरार्ड इसका वर्णन करते हुए बताते हैं जैसे एक परिवार में पत्नी पति की है, और पति पत्नी का है, उसी तरह यह चीजें उस परिवार की हैं। यह मानना पड़ेगा कि इस प्रकार जेरार्ड ने एक बात का स्पष्टीकरण कर दिया, वह यह कि उपभोग की सामग्री में वैयक्तिक सम्पत्ति वांछनीय है।

जेम्स हैरिंग (१६११–१६७७) ने ओशियाना नाम से अपना यूटोपिया पेश किया। उसमें उन्होंने यह बताया कि उत्पादन के नियंत्रण के साथ राजनीतिक नियंत्रण का क्या सम्बन्ध होता है। उन्होंने अपने विश्लेषण के द्वारा यह बताया कि जिन लोगों के हाथों में जमीन होती है, वे ही अनिवार्यरूप से समाज के दंडमुण्ड के मालिक होते हैं। उन्होंने यह बताया कि जहाँ एक व्यक्ति जमीन का मालिक होता है, वहाँ अभिजात तन्त्र है; और जहां सब लोग जमीन के मालिक हैं, वहाँ कामनवैल्थ या जनतन्त्र है। उन्होंने यह भी कहा कि जनतन्त्र को ऐसे कानून बना देने चाहिए जिससे एक व्यक्ति या कुछ व्यक्ति जमीन के मालिक न हो सकें। उन्होंने इसके लिए बताया कि चुनाव गुप्तशलाका-पद्धति से हो, पदों पर लोग बारी-बारी से तैनात हों, और दो भवनों की पद्धति हो। लोकतन्त्र को सुरक्षित रखने के लिये उन्होंने यह बताया कि अनिवार्य शिक्षा होनी चाहिये, धार्मिक सहिष्णुता को प्रोत्साहन मिलना चाहिये।

हैरिंगटन ने जिस प्रकार की पद्धति की पैरवी की, उसमें कोई विशेषता नहीं है, फिर भी उन्होंने जिस तरह यह मत स्थापित किया कि समाज की सम्पत्ति के मालिक ही उसके राजनैतिक कर्ताधर्ता होते हैं, वह बहुत ही मार्के की बात है। उनके समय में जमीन ही उत्पादन का मुख्य साधन थी, इस कारण उन्होंने उसी की मिल्कियत को महत्व दिया है। पर उन्होंने असली बात का पता लगा लिया।

एतियन काबे (जन्म १७८८) ने इकारिया के नाम से अपना यूटोपिया लोगों के सामने रखा। इकारिया १०० जिलों में बँटा हुआ है, और ये जिले १० कम्यूनों या इलाकों में बँटे हुए हे। राजधानी देश के बिल्कुल बीच में है। राजधानी में चौड़ी-चौड़ी सड़कें हैं। प्रत्येक ब्लाक में बराबर आकार के १५ मकान हैं। गर्मियों में (स्मरण रहे कि योरुप मे ग्रीष्म ऋतु ही अच्छी समझी जाती है) लोग ७ घंटे काम करते हैं, जाड़ों में इससे कम। प्रत्येक पुरुष और स्त्री को एक ही ढंग का कपड़ा पहनना पड़ता है। केवल रंग पर व्यक्ति का अधिकार होता है। एक पुरुष से एक स्त्री की शादी होती है। शिक्षा ५ वर्ष की उम्र में शुरू हो जाती है, और लड़कियों की शिक्षा १७ तथा लड़कों की शिक्षा १८ साल में समाप्त होती है, और कर्मजीवन शुरू होता है। ६५ साल उम्र के बाद कर्मनिवृत्ति हो जाती है। काबे ने इन विचारों

को कार्यरूप में परिणत करने के लिये १५०० व्यक्तियों को लेकर अपना प्रयोग शुरू किया। इसके लिए उन्हें टेकसस में कुछ जमीन मिली, पर पीत ज्वर के कारण उन्हें अपनी बस्ती ईलिनोयस में ले जानी पड़ी, पर वे सफल नहीं हुए।

इस प्रकार से जिन लोगों ने अपने स्वाप्निक विचार जनता के सामने यूटोपिया के रूप में रखे, उन्होंने साम्यवाद के विकास में अपने ढंग से बहुत बड़े दान दिये। यह द्रष्टव्य है कि जिसने भी अपना यूटोपिया रखा, उसने किसी न किसी सत्य का आविष्कार किया। अवश्य कुछ लोगों ने विषमता दूर करने की धुन में कुछ अजीब बातें भी कहीं, जैसा कि एतियन काबे ने कही कि सब एक से कपड़े पहिनेंगे, और इस प्रकार साम्यवाद को उपहासास्पद बना दिया, फिर भी वे अवैज्ञानिक साम्यवाद के प्रवर्तक हैं इसमें सन्देह नहीं। उनकी योजनाओं के अध्ययन से पता लगता है कि समाज में फैली हुई विषमता के विरुद्ध उनके स्वप्न भी कितने शक्तिशाली सिद्ध हुए।

हमारे यहां रामराज्य की कल्पना भी एक यूटोपिया रही। फर्क इतना है कि हम यह बताते रहे कि ऐतिहासिक (या प्रागैतिहासिक) युग में रामराज्य मौजूद रहा, जबकि यूरोपीय यूटोपियायें खुल्लमखुल्ला कल्पना थीं। फिर भी रामराज्य का अध्ययन इस प्रसंग में महत्वपूर्ण है क्योंकि उसके सम्बन्ध में यह दावा है कि उसमें दैहिक, दैविक और भौतिक ताप नहीं थे। यह बात सच है कि यूटोपिया और रामराज्य की कल्पना भावुकता पर आधारित थी, पर इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि साहित्य में एक प्रगतिशील समाज के ये लोग प्रतिपादक थे।

अन्तिम विश्लेषण में अत्यन्त ऊलजलूल यूटोपिया या रामराज्य की अत्यन्त भावुकतामय कल्पना वर्तमान समाजपद्धति और उस समाज में मौजूद विषमताओं के विरुद्ध एक विद्रोह या असन्तोष की सूचक है, अवश्य ऐसी कल्पनाओं में जब तक साथ साथ यह भी कहा जाय कि किस प्रकार से वर्तमान समाजपद्धति से छुटकारा प्राप्त किया जायगा, और इससे भी अधिक आवश्यक जब तक बताया हुआ यह साधन सही और व्यावहारिक न होगा, तब तक सारी बात कल्पनाविलास बन कर रह जायगी, और जिस समय कार्यशीलता की आवश्यकता है, उस समय शून्यगर्भ कल्पनाविलास खतरनाक भी हो सकता है।

साहित्य के विकास की योजना

इसमें सन्देह नहीं कि किसी भी देश की आर्थिक परिस्थिति ही उस देश की उन्नति अथवा अवनति का परिचायक है। पर उस देश की साहित्यिक प्रगति की भी किसी प्रकार अवज्ञा नहीं की जा सकती। जहां हमारी पंचवर्षीय योजना तथा विकास-सम्बन्धी अन्य परिकल्पनाओं में एक हद तक आर्थिक विकास के साथ-साथ स्वास्थ्य, शिक्षा आदि के क्षेत्र में उन्नति की व्यवस्था है, वहां इन योजनाओं में भारतीय साहित्यों—विशेषकर राष्ट्रभाषा—की उन्नति के लिए किसी प्रकार के योजनाबद्ध प्रयास का न होना खटकता है। यह तो ठीक है, कि प्रत्येक क्षेत्र में सरकार के मुंह ताकने की आदत बुरी है, और इससे हम जितना जल्द छुटकारा प्राप्त कर लें, उतना ही अच्छा है; पर इसके साथ ही यह बात भी सही है कि सामूहिक प्रयास का सबसे विराट् रूप सरकार के ज़रिये से ही मूर्त किया जा सकता है।

धन का प्रश्न

कोष के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता और स्वाभाविक रूप से किसी देश की सरकार के पास ही सबसे बड़ा कोष हो सकता है। आज अवस्था यह है कि न तो योजनाओं की कमी है और न योजनाएँ बनानेवालों की कमी है। कई योजनाएँ बहुत अच्छी भी हैं, और उन्हें कार्यरूप में परिणत करने के लिए यथेष्ट संख्या में अच्छे और योग्य लोग भी मिल सकते हैं। पर कोष के अभाव के कारण ये सब योजनाएँ दरिद्रों के मनोरथों की तरह हृदय में ही उठ कर विलीन हो जाती हैं। इसीलिए सरकार न सही, नगरपालिका, जिलाबोर्ड, विश्वविद्यालय या कांग्रेस की तरह किसी बड़ी संस्था के संरक्षकत्व के बिना कोई मामूली योजना भी कार्यान्वित नहीं हो सकती। यदि हम कल्पना-राज्य में विचरण करना छोड़ कर वास्तविकता की ओर दृष्टि डालें, तो हमें यह ज्ञात होगा कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, नागरी-प्रचारिणी-सभा आदि संस्थाओं के पास बहुत-सी अच्छी-अच्छी योजनाएं हैं; पर वे इसी कारण उन्हें कार्यान्वित नहीं कर पातीं कि उनके पास धन का अभाव है। इस अभाव के बावजूद इन संस्थाओं ने अब तक जितना काम किया है, वह आश्चर्यजनक है।

माँग और उसकी पूर्ति

यह तो स्पष्ट है कि वैयक्तिक प्रयास तभी सफल हो सकते हैं, जब उनको कोई सामूहिक अवलम्बन प्राप्त हो। केवल लेखकों या प्रकाशकों को गालियां देने से या उनके प्रति शुभेच्छाओं की वर्षा करने से साहित्य की उन्नति नही हो सकती। दुर्भाग्य से लेखक और प्रकाशक दोनों मांग ओर पूर्त्ति के आर्थिक नियम से बुरी तरह बंधे हुए हैं। शुभेच्छाओं से या दो-चार अच्छी आलोचनाओं से कुछ प्रारम्भिक खननकार्य अवश्य हो जाता है, पर असली इमारत तो तभी खड़ी हो सकेगी, जब मांग ओर पूर्ति का नियम क्रियाशील हो जाय। यह तभी हो सकता है जब नगरपालिकाएं, जिला-बोर्ड, विभिन्न परीक्षा-बोर्ड तथा विश्वविद्यालय वांछनीय किस्म के साहित्य की मांग करें। केवल यही नही, आवश्यकता पड़ने पर विशेषज्ञों के द्वारा पुस्तकों की रचना भी करवायें। इस समय जो होता है, वह तो यह है कि किसी विशेष प्रकार की पुस्तक की मांग भी की जाती है, तो पुस्तक चुनते समय पुस्तक के गुणावगुण की परीक्षा किये बिना अन्य कारणों अथवा प्रभावों के वशवर्त्ती होकर पुस्तकों का चुनाव कर लिया जाता है। अन्ततोगत्वा इसका परिणाम यह होता है कि प्रकाशक पुस्तक तैयार करने में न तो विशेषज्ञत्व का खयाल रखता है, न पुस्तक की उत्तमता पर विशेष जोर देता है। वह एक व्यापारी के नाते इस बात को जानता है कि पुस्तक यदि कोर्स में लगेगी तो उत्तमता के कारण नही, बल्कि ओर कारणों से। इसलिए वह ओर कारणों की ओर अधिक ध्यान देता है। वर्त्तमान परिस्थिति मे यही सब से उचित या स्वाभाविक परिणाम है।

पाठ्य पुस्तकों में भ्रष्टाचार

कहना न होगा कि यह परिस्थिति साहित्य के लिए हितकर नहीं हो सकती। यह बहुत ही आवश्यक है कि जिस प्रकार से भी हो, निम्नतम दर्जे से लेकर उच्चतम डिग्रियों के लिए जो पुस्तके चुनी जायं, वे केवल गुण के आधार पर ही चुनी जायं। हमारे देश में अभी पुस्तक खरीदने की आदत फैशन में दाखिल नहीं हुई है। ऐसी हालत में गम्भीर पुस्तकों के लिए पाठ्य-पुस्तकों के रूप में स्वीकृत होना ही एकमात्र अवलम्बन रह गया है। इस कारण हमारा पहला सुझाव तो यह है कि किसी भी प्रकार हो, पाठ्य-पुस्तकों के क्षेत्र में भ्रष्टाचार को दूर करना पड़ेगा। मै 'किसी भी प्रकार' इस कारण कह रहा हूं कि मै इस पचड़े में पड़ना नही चाहता कि पाठ्य-पुस्तकों के क्षेत्र में फोरन निजी व्यवसाय का दूरीकरण किया जाय ओर विश्वविद्यालय तथा अन्य आयोग फोरन अपना प्रकाशन आप करें। यदि शेषोक्त उपाय से ही पाठ्य-पुस्तकों की उन्नति हो सके ओर वे सस्ती की जा सकें, तो अवश्य ही ऐसा फोरन किया जाय। असली बात तो यह है कि पाठ्य पुस्तकों के क्षेत्र में जो धांधली फैली हुई है, उसे दूर किया जाय ओर इस सोते की अपार शक्ति का फायदा उठाकर सत्साहित्य की रचना की जाय। अब तक विवेकहीन

व्यवसायी ही इस क्षेत्र को अपनी लूट का साधन बनाये हुए हैं। अब इसे उनसे मुक्त कर उपयोगी साहित्य-रचना के काम में लगाना पड़ेगा।

पुस्तकालयों की दुरवस्था

पुस्तकों के लिए एक दूसरा तथा दिन-ब-दिन बढ़ता हुआ क्षेत्र पुस्तकालय है। बहुत से गांवों में अब पुस्तकालय स्थापित हो चुके है और बराबर नए पुस्तकालय स्थापित होते चले जा रहे हैं। इन पुस्तकालयों के परिचालकों को साहित्य के सम्बन्ध में कोई विशेष ज्ञान नहीं होता, इसलिए यह क्षेत्र भी धांधलीबाजों के लिए ही रोजगार का एक सुगम ज़रिया बना हुआ है। कुछ प्रकाशकों के पास इन पुस्तकालयों की सूची होती है और वे उसका मनमाने ढंग से इस्तेमाल करते हैं। जो भी पहले पहुंच गया और चिकनी-चुपड़ी बातों में पुस्तकालय वालों को फंसा पाया, वही अपना काम बना लेता है। इस प्रकार अच्छी पुस्तकें बिकने से रह जाती हैं और रद्दी पुस्तकों की खूब बिक्री होती है। कहना न होगा कि इससे अच्छे साहित्य को प्रोत्साहन नहीं मिलता और राष्ट्रीय धन का अपव्यय होता है।

भारत के पुस्तकालयों की एक सूची प्रकाशित हुई है। उससे इस क्षेत्र में कुछ उन्नति होगी, ऐसी आशा की जा सकती है; क्योंकि अब सभी प्रकाशक इन पुस्तकालयों तक पहुंच सकते हैं। फिर भी अधिक साधनवाले प्रकाशकों को फायदा रहेगा क्योंकि वे किसी पुस्तक के प्रकाशित होने पर गश्ती चिट्ठियां भेजने के अतिरिक्त अपने एजेण्टों को भी इन पुस्तकालयों तक भेज सकेंगे। इसके अलावा बड़े प्रकाशक एक साथ दस-बारह नई पुस्तकों का सेट लेकर बाजार में आ सकते हैं। इसलिए गश्ती चिट्ठी तथा एजेण्ट आदि भेजने में जो खर्च पड़ेगा, वह प्रति पुस्तक के हिसाब से दो-एक पुस्तक लेकर सामने आनेवाले प्रकाशकों के मुकाबले में सस्ता पड़ेगा।

साहित्य के विकास की योजना

जो कुछ भी हो, यहा तो हमें इस विषय पर विचार करना है कि किस प्रकार पुस्तकालयों की इस बढ़ती हुई शक्ति को राष्ट्रीय साहित्य-सृष्टि के कार्य में जोता जा सकता है। इस शक्ति का अपव्यय या मनमाने ढंग पर व्यय होने देना बहुत गलत होगा। मैं समझता हूं कि राष्ट्रीय योजना तथा अन्य योजनाओं में इस बात पर सुचिन्तित ढंग से सुझाव पेश करना और उन्हें कार्यान्वित करने की व्यवस्था करना अच्छा रहता। यह मानते हुए भी कि सबसे पहले देश का उद्योगीकरण होना चाहिए और रोटी-कपड़े की व्यवस्था होनी चाहिए, यह भी मानना पड़ेगा कि साहित्य के क्षेत्र में अभी से नींव डालने पर ही आगे चल कर हम आत्मयथेष्ट हो सकते हैं।

केवल हिन्दी ही नहीं, सभी भारतीय भाषाओं के क्षेत्र में एक-एक योजना होनी चाहिए। इन योजनाओं के मुख्य लक्ष्य दो होंगे: एक तो ऐसे साहित्य की सृष्टि, जिससे अखिल भारतीय एकता-बोध और पारस्परिक प्रेम—ऐसा प्रेम, जो एक-दूसरे को अच्छी

तरह जानकर उत्पन्न होता है—बढ़े; और दूसरे यह कि विज्ञान और नए चिन्तन के क्षेत्र में यूरोपीय देशों की कतार में आ जाय। प्रथम लक्ष्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि चौदहों भारतीय भाषाओं में बाकी तेरह भाषाओं में जो-कुछ नया चिन्तन या उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि हो, वह फौरन उस भाषा में आ जाय। इसके लिए यदि प्रत्येक भाषा के लिए कम-से-कम पांच अनुवादक काम करें, तो समस्या हल हो सकती है। अनुवादकों की कमी का प्रश्न उतना बड़ा नहीं है, जितना बड़ा यह प्रश्न कि उनके द्वारा अनूदित चीजों की जांच की जाय और उसे प्रकाशित किया जाय। कम-से-कम हिन्दी के लिए तो फौरन बाकी तेरह भाषाओं से अनुवाद करने वाले मिल सकते हैं। इनमें से कुछ भाषाओं—विशेष कर बंगला—से अनुवाद का काम एक तरह से बराबर चल ही रहा है। पर बंगला से भी—जिससे कि शायद हिन्दी में सबसे अधिक पुस्तकें अब भी अनूदित होती हैं—गम्भीर पुस्तकों का अनुवाद करने की परिपाटी कम है। पर आवश्यकता तो गम्भीर पुस्तकों की सब से अधिक है। हिन्दी के पाठकों के लिए प्रत्येक विषय पर गम्भीर पुस्तकों की आवश्यकता है। क्या यह चिन्ता की बात नहीं कि अंग्रेजी में फोटो लेने की कला पर जितनी पुस्तकें हैं, हिन्दी में उतने उपन्यास भी नहीं होंगे। इसी प्रकार चित्रकला, इंजिन, बॉयलर आदि पर अंग्रेजी में पूरा साहित्य है। मैं सुकुमार साहित्य की किसी प्रकार अवज्ञा नहीं करता, पर एक जाति वास्तविक रूप से बड़ी केवल उपन्यासों और कविताओं से ही नहीं हो सकती।

अंग्रेजी बनाम भारतीय भाषाओं के पत्र

हिन्दी-भाषा-भाषी कहीं व्याख्यान सुनने जायंगे, तो हिन्दी-हिन्दी की आवाज अवश्य बुलन्द करेंगे; पर वे हिन्दी पुस्तकें या समाचार-पत्र बिलकुल नहीं ख रीदेंगे। क्या हिन्दीवालों के लिए यह लज्जा की बात नहीं है कि तमिल के 'आनन्द विकटम' या बंगला 'युगान्तर' और 'आनन्द बाजार पत्रिका' की ग्राहक-संख्या हिन्दी के किसी साहित्य या समाचार-पत्र की कई गुनी है? इसके लिए किस को दोष दिया जाय? यदि इसके लिए अंग्रज या अंग्रेजी को दोष दिया जाय, तो दूसरी भाषाओं के मामले में भी उन दोनों का बुरा प्रभाव या दबाव उसी प्रकार रहा। तब फिर दोष स्पष्ट रूप से हिन्दी-भाषियों का ही ठहरता है। इसलिए इस सम्बन्ध में योजना बना कर प्रचार करने की आवश्यकता है। पुरुष इस सम्बन्ध में सब से अधिक दोषी हैं। विशे जानकारी रखनेवालों का कहना यह है कि यदि स्त्रियां न होतीं, तो हिन्दी-साहित्य की जो थोड़ी-बहुत खपत हो रही है, वह भी शायद न होती। सभी भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में यह बात थोड़ी-बहुत सत्य है; पर हिन्दी के सम्बन्ध में तो यह बात अधिक सत्य मालूम होती है।

अंग्रेजों के चले जाने के बाद अंग्रेजी में दैनिकों का निकलते जाना—यहां तक कि उनकी प्रगति होना—बहुत अजीब-सी बात है। मैंने यह सुझाव पेश किया

था कि एक आर्डिनेन्स निकाल कर दस साल के लिए अंग्रेजी दैनिकों का प्रकाशन बन्द कर दिया जाय, तो सारी समस्याएं बहुत जल्दी हल होती हुई दृष्टिगोचर होंगी। अंग्रेजी पत्रों को तीन-तीन महीने की मोहलत दी जाय, जिसमें वे देशी भाषाओं में प्रकाशन शुरू कर सकें। मेरी यह बात कुछ लोगों के निकट नादिरशाही ढंग की लगेगी, इसका कारण यह है कि सैकड़ों वर्षों की गुलामी के कारण हमारा मन इतना कानूनवादी हो गया है कि किसी क्रान्तिकारी कदम की कल्पना हमारे लिए असम्भव है। यदि तुर्की में रातोंरात सैकड़ों वर्षों से चली आई लिपि को बदल कर रोमन कर दिया गया, तो हमारे यहां इतनी छोटी सी बात क्यों नहीं हो सकती? मुझे यह स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है कि जब तक अंग्रेजी का यह घुटन पैदा करने वाला प्रभाव हमारे राष्ट्रीय जीवन पर कायम रहेगा, तब तक भारतीय भाषाओं को उन्नति की सारी योजनाएं इस चट्टान से टकरा कर चूर-चूर होती रहेंगी।

अंग्रेजी बनाम अपनी भाषा

मैं किसी भी प्रकार अंग्रेजी के विरुद्ध नहीं हूं। उसके सम्पर्क से जो-कुछ भी लाभ हुआ है और हो सकता है, मैं उससे बेखबर नहीं हूं। परन्तु जैसे हम मेहमान का आदर करते हैं, पर उसे पति-पत्नी के मामलों में या अपने अत्यन्त निजी मामलों में दखल नहीं देने देते; उसी प्रकार हम रोज की खबरों को एक विदेशी भाषा के जरिए पढ़ने में भी कोई तुक नहीं देखते। हिन्दी-पत्रकार-कला की इतनी उन्नति हो चुकी है कि अब उसमें सब तरह की खबरें अच्छी तरह और जल्दी-से-जल्दी परोसी जा सकती है।

अंग्रेजी के सम्बन्ध में एक बात यह भी कहनी है कि अन्तर्राष्ट्रीय विषयों से परिचित होने के लिए हम इस समय जिस प्रकार अंग्रेजी के ही शरणापन्न रहते हैं, उससे हमें छुटकारा प्राप्त करना पड़ेगा। यह सच है कि अंग्रेजी में हमें आंग्ल-अमरीकी गुट्ट के अतिरिक्त सोवियत जगत् की भी खबरें और दृष्टिकोण मिल सकते हैं, फिर भी अंग्रेजी के झरोखे से सारी दुनिया को देखते रहने के कारण हमें अंग्रेजीभाषियों के ही दृष्टिकोण बार-बार सुनने और देखने को मिलते हैं। इसमें हमारी मुक्ति तभी हो सकेगी, जब फ्रेंच, जर्मन, रूसी, जापानी, चीनी आदि भाषाओं के जरिए भी दुनिया देखने को मिलेगी।

लोगों को अपनी भाषा-प्रीति का परिचय ठोस ढंग से देने के लिए कहना पड़ेगा कि जो व्यक्ति अपने मासिक बजट में पुस्तकों और समाचार-पत्रों के लिए कुछ रुपए नहीं रखता, वह अपने को शिक्षित भले ही समझता हो, पर वह शिक्षित नहीं है; क्योंकि शिक्षा एक निरन्तर चालू प्रक्रिया है, न कि कोई गोली है, जिसे निगल लिया, तो बस शिक्षा सम्पूर्ण हो गई। पुस्तक तथा समाचार-पत्र एक रिफ्रेशर कोर्स या ज्ञान को आधुनिक बनाने के साधन-रूप हैं, जिनके बिना व्यक्ति कूपमण्डूक होकर रह जाता है। यदि स्वल्प विद्या भी हो, पर उसमें बराबर नई विद्या आती जाय, तो उसमें ताजगी बनी रहती है, और स्वल्प होने पर भी उसमें जीवन देने की शक्ति बनी रहती है।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने जो-कुछ कहा, उससे स्पष्ट है कि साहित्य के क्षेत्र में भी एक सर्वांगीण विकास-योजना की परम आवश्यकता है। यह योजना सरकारी रूप में हो, तो अच्छा है, यद्यपि इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि गैर-सरकारी प्रयास न हो। सच तो यह है कि सरकार धन और संगठन का भार ले ले, बाक़ी काम और लोगों के द्वारा कराया जाय और उन्हीं की देख-रेख में सारा काम हो तभी ठीक काम हो सकता है। वैसे तो बिना किसी योजना के भी कुछ-कुछ उन्नति होगी ही, क्योंकि युग का तकाज़ा यही है; पर वह योजनाबद्ध नहीं होगी।

हिन्दी-आलोचना में भ्रष्टाचार

किसी भाषा का साहित्य तभी समृद्ध हो सकता है, जब उसके आलोचक सच्चे मानी में निष्पक्ष और समदर्शी होंगे। बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह प्रत्येक पुस्तक पर अपने-आप राय कायम करे। इसी कारण 'टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट'-जैसे प्रकाशनों की आवश्यकता होती है, जिनमें काशित आलोचनाओं के आधार पर साधारण पाठक अपनी राय कायम करता और पुस्तकें खरीदता है।

मैंने ऊपर जो कुछ कहा है, उससे यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि आलोचना-साहित्य अपने में सम्पूर्ण नहीं होता और उसका उद्देश्य केवल दूसरे पेड़ों को जल पहुंचाना या दूसरों की बिरुदावली गाना होता है। अवश्य यह बात सही है कि किसी पुस्तक की आलोचना का उद्देश्य उस पुस्तक के सम्बन्ध में कौतूहल उत्पन्न करता है, और यदि विरुद्ध समालोचना हुई, तो उसके प्रति विरोध या उदासीनता (जो विरोध से भी खराब है) उत्पन्न करना है। दूसरे शब्दों में, पाठकों को उस पुस्तक का सही ज्ञान देना है। पर आलोचना-साहित्य स्वयं सम्पूर्ण इस अर्थ में है कि बहुत से लोग आलोचना पढ़ कर ही रह जाते हैं, वे आलोच्य पुस्तक तक नहीं जाते। आलोच्य पुस्तक को न पढ़ने के कई कारण हो सकते हैं, जैसे समयाभाव, अर्थाभाव तथा पुस्तक प्राप्त करने में असुविधा अथवा विलम्ब की शंका।

यदि आलोचना ठीक ढंग से लिखी गई है, तो पाठक इस योग्य हो जाता है कि जब उसके सामने उस पुस्तक की बात चलती है, तो वह घबराता नहीं है और हां-ना में उसके सम्बन्ध में कुछ मोटी-मोटी बातें भी कह लेता है। अवश्य इस प्रकार से बिना पुस्तक पढ़े केवल आलोचना पढ़ कर पुस्तक पर रायजनी करना या उसके सम्बन्ध में होनेवाले वाद-विवादों में भाग लेना खतरे से खाली नहीं है। पर आज जबकि लोगों के पास

समय बहुत कम है और सबके सामने सर्वज्ञ बनना फैशन है, तो उस विषय में और क्या हो सकता है ?

मैं यह पहले ही बतला चुका हूं कि किसी पुस्तक की आलोचना पढ़ कर ही उस पर बात करना समीचीन नहीं है; फिर भी सम्पादक, लेखक तथा आलोचक इस वास्तविकता से मुंह कैसे मोड़ सकते हैं कि होता ऐसा ही है। इसलिए आलोचना की जिम्मेदारी और भी बढ़ जाती है। आलोचक एक न्यायाधीश है, पर वह न्यायाधीश से कुछ बढ़कर भी है। न्यायाधीश अपने निर्णय-पत्र में मुकदमें के ब्योरे में वहीं तक जाता है, जहां तक कि फैसला लिखने के लिए यह आवश्यक है। पर आलोचक को केवल अपनी अन्तिम सम्मति को पुष्ट करने के लिए ही पुस्तक के सम्बन्ध में बताना नहीं है। जहां स्थानाभाव है, वहां और बात है; नहीं तो आलोचक को चाहिए कि पुस्तक के सम्बन्ध में अधिक से अधिक ज्ञातव्य बातें बता दे, जिससे कि पाठक को उस पुस्तक का एक खाका मालूम हो जाय। मुझे डर है कि आलोचक के इस पहलू को बहुत कम हिन्दी के आलोचक स्मरण रखते हैं।

न्यायाधीश की उपमा दी गई, इसलिए यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि आलोच्य पुस्तक का लेखक एक अपराधी की तरह नहीं है, जो आलोचक के सामने कघरे के अन्दर खड़ा है। इस बात को विशेषकर इसलिए कहने की जरूरत हुई कि बहुत से आलोचक आलोच्य पुस्तक के लेखक को इसी रूप में देखते और इसी रूप में अपना वक्तव्य पेश करते हैं। कई तो सीमा लाँघ जाते हैं और बाही-तबाही बकते हैं। आलोचक अक्सर यह भी दिखावा करता है, मानो वह एक शिक्षक हो और लेखक उसका शिक्षार्थी। लेखक के सम्बन्ध में इस प्रकार की धारणा रखना और उसे शिक्षार्थी समझ कर आलोचना करना गलत है और इसका कुछ अर्थ नहीं होता।

यदि आलोचक की कल्पना न्यायाधीश के रूप में न करके साहित्य के चिकित्सक के रूप में की जाय, तो वह कहीं अधिक स्पष्ट रहेगी। चिकित्सक अपने रोगियों को (यहां रोगी शब्द में उन सब को लिया जा रहा है, जो डाक्टर के सामने जांच के लिए आते हैं—चाहे वे रोगी हों या न हों) अपने से किसी प्रकार हीन नहीं समझता। जिनको वह स्वस्थ पाता है, उन्हें वह उसी रूप में पास करता है; पर जिन्हें वह रोगी पाता है उन पर भी वह रोब गांठने की चेष्टा नहीं करता, बल्कि उनके इलाज के लिए नुस्खा लिखता है, जिसमें रोग का निदान भी रहता है। आलोचक को भी इसी प्रकार से निर्लिप्त और निस्पृह होकर अपना काम करना चाहिए। वह जब आलोच्य साहित्य में किसी प्रकार के रोग या विकृति का आविष्कार करे, तो बिना लाग-लपेट के उसकी रचनात्मक आलोचना करे। यदि आलोचना रचनात्मक न होकर ध्वंसात्मक हुई, तो वह दो कौड़ी की है।

मैंने ऊपर जिन निर्लिप्त और निस्पृह शब्दों का प्रयोग किया है, उनकी कुछ व्याख्या की आवश्यकता है। निर्लिप्त और निस्पृह शब्द का यहां पर इतना ही अर्थ है कि

वह लेखक के साथ कोई बेजा रियायत न करे। जो न्यायाधीश मुंहदेखी बात करता है, वह तो एक अपराधी है, वह न्याय का सबसे बड़ा शत्रु है। मैंने इसी अर्थ में निर्लिप्त और निस्पृह शब्दों का प्रयोग किया है। यदि डाक्टर रोग के प्रति निर्लिप्त या निस्पृह हो जाय, तब तो वह डाक्टर नाम के ही योग्य न होगा। नही, उसे तो विज्ञान के सारे उपायों से रोग का विरोध करना पड़ेगा और उसे परास्त करके ही दम लेना पड़ेगा।

इसके पहले जो कुछ बताया गया है, आलोचक का कर्तव्य उससे कहीं कठिन है। जैसा कि मैं इंगित कर चुका हूं आलोचना का काम बिना उद्देश्य के व्यर्थ रहेगा। समाज को किस प्रकार के साहित्य की इस समय जरूरत है, हमारे साहित्य में किस प्रकार के साहित्य की कमी है, लेखक क्या चाहता है, जो लेखक चाहता है, वह समाज के लिए हितकर है या अहितकर, आलोच्य पुस्तक आनन्द प्रदान करती है या नही, विचारों को उत्तेजित करती है या नही, इन सारी बातों के परिप्रेक्षित में ही पुस्तक पर विचार करना पड़ेगा।

इसी अर्थ में आलोचना-साहित्य साहित्य की मुख्य धारा का एक पुछल्ला या गौण अंग-मात्र नहीं है, यह स्वयं सृजनात्मक साहित्य के अन्तर्गत आ जाता है। यदि इस दृष्टि से आलोचना-साहित्य की रचना हो, तो वह बहुत उपयोगी हो सकता है। पर यदि आलोचक उञ्छवृत्तिवादी हो, उसका कोई ठोस सृजनात्मक विचार न हो, वह निष्पक्ष न हो मुहदेखी बात करता हो, तो उस आलोचना का कोई अर्थ न होगा।

दुःख है कि हिन्दी में इस समय पक्षपातपूर्ण आलोचना-साहित्य का बोलबाला हो रहा है। हिन्दी के साथ नौकरियों का, पुरस्कारों का जितना ही सम्बन्ध हो रहा है (ऐसा हिन्दी के राष्ट्रभाषा रूप में स्वीकृत होने पर अनिवार्य था), उतना हिन्दी मे आलोचना के स्तर का एक हद तक पतन दृष्टिगोचर हो रहा है। यह आश्चर्य है कि जो लोग निष्पक्ष समालोचक समझे जाते है, उनमे से कई लोग इस वातावरण के शिकार हो रहे है। कई बार आलोचक को अपने सीधेपन के कारण गलत समालोचना, या यों कहिए गलत सिफारिश करनी पड़ती है। मै एक लेखिका के विषय मे जानता हूं, उसकी एक पुस्तक की जब बहुत अच्छी आलोचनाएं विज्ञापित हुई, तब मैंने उन आलोचकों मे से दो एक से पूछा कि क्या आप सचमुच ऐसा समझते है, तो वे बोले—'क्या करूं यार, कलम पकड़कर आलोचना लिखवा ली!'

कहना न होगा कि इस प्रकार आलोचक महाशय अपने पवित्र कर्तव्य से च्युत हुए। उनके लिए तो शायद यह एक मामूली गलती हुई, पर जो सैकड़ों लोग उनकी आलोचना या सम्मति पढ़ कर गुमराह हुए, उन पर क्या बीती होगी? इस प्रकार हल्केपन से या बला टालने के लिए जो सम्मतियां दी जाती हैं, उनसे सबसे बड़ी हानि यह होती है कि जिनके लिए सम्मति दी जाती है, वे विशेषकर उस आलोचक की सम्मति पर और आमतौर पर सब आलोचकों पर अविश्वास करने लगते हैं। अन्ततोगत्वा इस प्रकार की बात साहित्य की

समृद्धि के लिए हानिकर प्रमाणित होती है। माना कि इस प्रकार सम्मति देने से आलोचक को न कोई नौकरी मिलती है, न पदोन्नति होती है, न रुपये मिलते हैं, इसलिए लेखक पर उस अर्थ में भ्रष्टाचार का आरोप नहीं लगाया जा सकता है। पर केवल संकुचित अर्थ में भ्रष्टाचार से बचना ही एकमात्र ध्येय नहीं है। धनात्मक रूप से आलोचक को कुछ गुण भी दिखाने पड़ते हैं, जिनमें निर्भीकता सब से प्रधान है।

मैंने कई क्षेत्रों में लब्धप्रतिष्ठ आलोचकों को यह कहते सुना है कि वे उस विशेष लेखक के सम्बन्ध में और कुछ कर ही नहीं सकते थे; क्योंकि वे उस लेखक के एहसानमन्द थे। मेरा ऐसे आलोचकों से यह निवेदन है कि किसी पागल कुत्ते ने उन्हें काट तो नहीं खाया है कि खामखाह आलोचना करनी ही है। यदि उनसे आलोचना का महान् कर्त्तव्य नहीं सम्हलता, तो वे और कोई काम करें। लोग कैसे इस प्रकार के बहाने बता देते हैं, यह मेरी समझ में नहीं आता। यदि कोई न्यायाधीश यह कहे कि अमुक चोर को मैंने साहु इसलिए बता दिया कि मेरी कलम पकड़ कर फैसला लिखवा लिया गया, या मैं अपराधी का एहसानमंद था, तो उस न्यायाधीश के सम्बन्ध में लोग क्या कहेंगे ? ऐसे न्यायाधीश को तो जेलखाने की हवा खानी पड़ेगी। अवश्य मैं जानता हूं कि घूस लेकर फैसला लिखने वाले न्यायाधीश भी संसार में होते हैं, पर साहित्य-क्षेत्र मे इस प्रकार का भ्रष्टाचार बहुत ही अवाछनीय है।

हिंदी के कुछ आलोचकों में यह रोग भी पाया जाता है कि वे किसी लेखक का गुण गाने लगे, तो बिना समझे-बूझे उसकी तुलना विश्व-साहित्य की बड़ी-से-बड़ी विभूतियों के साथ करने लगते हैं। यह बहुत ही अवांछनीय है। मैं यह नहीं कहता कि हमारे यहां बहुत ऊंचे दर्जे के साहित्यकार उत्पन्न नही हो सकते, पर जब तब विश्व-साहित्य की विभूतियों का नाम ले देना अज्ञता सूचित करता है। मुझे तो कई बार ऐसा भी मौका लगा कि मैं ऐसे आलोचकों के साथ ब्योरे में बातचीत करूं, तो मुझे पता चला कि विश्व-साहित्य की जिन विभूतियों के नाम लेख में गिनाये गये थे, उनमें से अधिकांश की कृतियों के साथ आलोचक का परिचय या तो था ही नहीं, या बहुत स्वल्प परिचय था। मान लीजिए किसी ने रोमां रोलां का 'जां क्रिस्तोफ' नहीं पढ़ा है और केवल उनका लिखा हुआ रामकृष्ण परमहंस-सम्बन्धी साहित्य ही पढ़ा है, तो वह उनकी साहित्यिक उच्चता क्या समझेगा ? अभी मै एक मासिक पत्रिका में एक लेख पढ़ रहा था, जिसमें आलोचक महोदय ने किसी मराठी-उपन्यास का परिचय देते हुए उसकी तुलना शरत, रवीन्द्र और प्रेमचन्द से की है। यहां तक तो कोई बात नहीं; पर अत्यन्त अप्रासंगिक रूप से आलोचक ने इनके साथ ही एक हिन्दी-कवि के द्वारा लिखित अपेक्षाकृत अपरिचित उपन्यास का नाम ले दिया। इस उपन्यास का नाम पढ़ते ही मैं समझ गया कि आलोचक महोदय बिना समझे ही लिख रहे हैं। मेरे निकट तो यह सारी आलोचना हास्यास्पद हो गई। बाद को जब मैंने एक दूसरी मासिक पत्रिका उठाई तो देखा कि उसी आलोचक की एक पुस्तक की आलोचना प्रकाशित हुई है और उनकी उस पुस्तक के

भूमिका-लेखक वही कविवर हैं ! मेरे निकट सारी बात साफ हो गई, तो आलोचक महोदय अपना ऋण चुकाना चाहते थे; या कि यह उसी का नमूना है—

उष्ट्राणां विवाहेषु, गीतं गायन्ति गर्दभाः ।
परस्परं प्रशंसन्ति अहोरूपमहोध्वनिः ।।

कहना न होगा कि इस प्रकार 'तू मुझे हाजी कह और मैं तुझे मुल्ला कहूं' वृत्ति से कोई साहित्यकार बड़ा नहीं हो सकता । साहित्यिक ख्याति ऐसी वस्तु नहीं है जो इस प्रकार आलोचकों से पैक्ट करके बढ़ सकती हो; क्योंकि साहित्य का अन्तिम और सर्वोच्च न्यायाधीश पाठक-समाज है। पाठक-समाज को भी धोखा दिया जा सकता है, पर इस सम्बन्ध में अब्राहम लिंकन की वह उक्ति स्मरणीय है कि "कुछ समय के लिए सबको धोखा दिया जा सकता है, पर सब लोगों को सब समय के लिए धोखा नहीं दिया जा जा सकता ।" धोखा खुलने पर लेखक की फजीहत तो होगी ही, साथ ही उन आलोचकों की खबर ली जायगी, जो गलत आलोचना करके जनता को धोखा देना चाहते थे ।

आज शेक्सपियर के साथ बेन जान्सन की कोई समकक्षता मानी नहीं जाती, और न बंगला-साहित्य में रवीन्द्रनाथ के साथ कोई डी. एल. राय की समकक्षता मानता है । इन लोगों के ज़माने में बहुत दिनों तक ये प्रतिद्वन्द्वी समझे जाते रहे, पर अब दूध का दूध और पानी का पानी, बल्कि खोवा का खोवा और दूध का दूध हो चुका है, क्योंकि दोनों पक्ष गुणी थे, पानी कोई नहीं था। प्रचार-कार्य द्वारा या आलोचकों पर दबाव डाल कर या उन्हें बहका कर महान् साहित्यकार बनने का षड्यन्त्र सफल नहीं हो सकता । अभी हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में ऐसा ही एक प्रयास हुआ था । कुछ प्रसिद्ध आलोचक जाल में आ भी गये, पर अधिकांश आलोचकों ने इस सम्बन्ध मे अपना विवेक बेचना अस्वीकार कर दिया । नतीजा यह हुआ कि सारा प्रयास टायँ-टायँ फिस्स होकर रह गया ।

आलोचना के क्षेत्र में इस प्रकार अब भी बहुसंख्या उन्हीं लोगों की है, जो बहुत बड़ी हद तक निष्पक्ष होकर आलोचना लिखते है । यह बहुत ही आनन्द का विषय है । अन्तिम रूप से मैं आलोचकों से एक निवेदन यह भी करूँगा कि पुराने प्रतिष्ठित लेखकों में नई खूबियां ढूढ़ने के बजाय वे नए लेखकों में खूबिया ढूंढ़ने की चेष्टा करें। जब किसी भाषा में महन्ती बन जाती है, तो वह भाषा कुंठित हो जाती है। मैं समझता हूं, यह स्वीकार करने का समय आ गया है कि उपन्यास, कविता तथा साहित्य के अन्य क्षेत्रों में कई बार नये और अपरिचित लेखक पुराने लब्धप्रतिष्ठित लेखकों को पीछे छोड़ जाते हैं, इत्यादि-इत्यादि। सम्भव है कि कोई मुझ से इन विषयों में मतभेद रखे, यह स्वाभाविक है; क्योंकि हमारा देश महन्तों का पूजक रहा है। पर यह तो सभी मानेंगे कि नई प्रतिभाओं की रोशनी में ही हमारा साहित्य आगे बढ़ सकता है, दूसरे किसी उपाय से नहीं। सही आलोचना इन प्रतिभाओं के लिए चिमनी बन कर उनकी लौ को और बढ़ा सकती है, साथ ही उन्हें संरक्षण दे सकती है ।